प्राप्तिस्थान-

१-भारतीय.प्राच्य.तत्त्व.प्रकाशन.समिति
पिंडवाडा स्टे.-सिरोहीरोड
(राजस्थान)

२-दीलिपकुमार रमणलाल
मस्कती मार्केट
अहमदाबाद-१

३-रमणलाल लालचंद
१३५/३७ जौहरी बाजार
बम्बई-२

卐

द्रव्यसहायक-
मोतीशा शेठ जैन चेरिटेबल ट्रस्ट लालबाग मुंबई

मुद्रक-
ज्ञानोदय प्रिन्टिंग प्रेस,
पिंडवाडा (राजस्थान)
स्टे०-सिरोहीरोड

'ઉપમિતિ૦' ભા બીજામા જ્ઞાનનિધિમાંથી સમસ્ત દ્રવ્યવ્યયનો લાભ લેનાર
શેઠ મોતીશા જૈન ચેરીટેબલ ટ્રસ્ટ (લાલબાગ)ના આદ્ય સંસ્થાપક



જૈનશાસનરત્ન દાનવીર સંઘપતિ ઓસવાલ જ્ઞાતીય
શેઠ શ્રી મોતીશા અમીચદજી

[જન્મ ૧૮૩૮] [સ્વ મ ૧૮૯૨]

પુણ્યાત્માનો પ્રેરક પરિચય

(શેઠ મોતીશા જીવન ઝરમર)

અજ્ઞાનના અંધારાને ઉલેચીને વિશ્વભરમા દિવ્ય પ્રકાશ રેલાવનાર શ્રી જૈનશાસનને કોટિ કોટિ વંદન.

એ દિવ્ય પ્રકાશના અજવાળામા પોતાનુ જીવન ઉજ્જવળ બનાવી શ્રી જૈનશાસનના ચરણે તન-મન-ધનને સમર્પણ કરી એ શાસનપ્રદીપને વધુ ઝળહળતો તેજસ્વી બનાવી જનાર નરરત્નોના ઇતિહાસનુ એક સુવર્ણ પૃષ્ઠ એટલે શેઠ મોતીશા

ન્યાય અને નીતિમય પુરુષાર્થથી અઢળક ધનનુ ઉપાર્જન કર્યુ છતા જીવન અભિમાનથી અક્કડ બનવાને બદલે ત્યાગમય જૈનધર્મપરાયણ બન્યુ

મોહ વાસિત મુબઇ નગરીને ધર્મપરાગથી સુવાસિત અને ગગનચૂબી જિનાલયો તથા આરાધનાપ્રેરક વસત્યાનોથી વિભૂષિત કરવાનો યશ શેઠ મોતીશાને ફાળે જાય છે

એમની આગવી સ્નેહ અને સૂઝ જેમ વ્યાપારક્ષેત્રમા ઝળકે એમ ધર્મક્ષેત્રમા પણ ચમકે

મુબઈમા જૈન-જૈનેતર પારસી-મુસ્લીમ બધાના સહકારથી મૂગા ઢોરોને અત્યાચારમાથી મુક્ત કરી નિર્ભય શ્વાસ લેતા બનાવી સરક્ષણ આપનાર પાજરાપોળ જેવી સસ્થાને જીવત બનાવનાર શેઠ મોતીશાનુ નામ યુગોના યુગો સુધી દયાળુ સદ્ગૃહસ્થોમાં મોખરે રહેશે

અત સમયે પોતાના અશક્ત લેણદારોને ભવિષ્યમા કોઈ કનડગત ન થાય તે માટે આશરે ૧,૦૦,૦૦૦ (૧ લાખ) રૂ નુ લેણુ માડી વાળવાની એમની ઉદારતા એ જૈન-જૈનેતર બધા માટે આદર્શભૂત છે

દેશ-પરદેશ સાથે જાતજાતના વ્યાપારી સબધો ધરાવનાર આ શાહ સોદાગરના હૃદયમા જૈન ધર્મ પ્રત્યે અપરપાર શ્રદ્ધા અને ભક્તિના ઊભરાતા-ઊછળતા પુરોનુ દિગ્દર્શન કરાવનાર—નિર્મળ કીર્તિના ગીતગાન કરી રહેલા મોતીશા ટૂક (પાલીતાણા)ના દેરાસરના વ્યોમસ્પર્શી ધવલ શિખરો જોતા જ એમ થાય કે 'ઓહ! કેવા એ જૈન શાસનની ભવ્યતાના યાદગાર દિવસો' કુતાસરની ખાઇ નામના મોટા ખાડાને પથ્થરથી પૂરીને એના ઉપર ભવ્ય દેરાસરોની નગરીનુ ચણતર કરાવનાર શેઠ મોતીશાનુ હૃદય વીતરાગની ભક્તિમા કેવુ ઓતપ્રોત હશે! સુપુત્ર શ્રી ખીમચદભાઈને પણ વારસ મા કેવા સસ્કાર આપ્યા કે જેથી પોતાની ગેરહાજરીમા પણ એ દેરાસરની પ્રતિષ્ઠા ૧ લાખ જૈનોની હાજરીમા રગે ને ચગે થઇ!

અને એમની પાપભીરુતા પણ કેવી! વસીયતનામામા દીકરાને પોતાની ગેરહાજરીમા પોતાના નામે ૧ દોકડાના પણ વેપારની સ્પષ્ટ મનાઈ કરીને આરભસમારભનો છેડો ફાડી નાખ્યો

આ શ્રાવકરત્નના બીજા પણ અનેક અનુમોદનીય કાર્યો અને સખાવતો પ્રત્યેક જૈનને ગૌરવ લેવા જેવા હોવાથી વિગતવાર જાણવા જેવા છે

રકમ			સખાવત
રૂા	૫૦,૦૦૦	—	મુબઇ (ભૂલેશ્વર) ચિતામણિ પાર્શ્વનાથ દેરાસરમા
રૂા	૪૦,૦૦૦	—	,, (પાયધુની) શાતિનાથ ભગવાનના દેરાસરમા
રૂા	૫૦,૦૦૦	—	મદ્રાસમા દાદાવાડીની ધર્માદા જમીન વિ મા.
રૂા	૮૯ ૦૦૦	—	પાલીતાણાની વિશાળ ધર્મશાળા બધાવી
રૂા	૨૦૦,૦૦૦	—	ભાયખલાની જમીન-ધર્મશાળા દેરાસર-મકાન વિ મા
રૂા	૫૦,૦૦૦	—	શ્રી ગોડીપાર્શ્વનાથ (પાયધુની) દેરાસરમા
રૂા	૨૫ ૦૦૦	—	આદીશ્વરજી (પાયધુની)મા ઘીની ઓલીમા
રૂા	૨,૦૦,૦૦૦	—	મુબઈ પાજરાપોળમા, સ ૧૮૯૧ કા શુ ૮
રૂા	૧૧૦૦ ૦૦૦	—	મોતીશાની ટૂકના દહેરાસરોમા (પાલીતાણા)
રૂા	૭૦૭ ૦૦૦	—	,, ,, પ્રતિષ્ઠા અજનશલાકામા
રૂા	૧ ૦૦,૦૦૦	—	અશક્ત લેણદારોને દેવામાથી મુક્તિ

આ બધી વિગતોના વિસ્તારથી પરિચય માટે 'શેઠ મોતીશાહ' નામનુ પુસ્તક ઘણુ જ ઉપયોગી છે, જેનો આ લખાણમા ઉપયોગ કર્યો છે

प्रकाशक की ओर से

यह प्रायः सर्वविदित हो चूका है कि केवल संस्कृतवाङ्मय में ही नहीं अपितु सर्वभाषाकीय वाङ्मय में रूपकालंकार गर्भित कथाग्रन्थों में उपमितिभवप्रपञ्चा कथा से बढकर और कोई श्रेष्ठकोटि में गणना योग्य ग्रन्थ आज नहीं है। यह कथाग्रन्थ किसी एक सम्प्रदाय के लिये ही उपयोगी है ऐसा भी नहीं किन्तु प्रत्येक मुमुक्षु अधिकारी मनुष्य के लिये यह ग्रन्थ मार्गदर्शक है। कई वर्षों पूर्व इस ग्रन्थ का प्रताकार प्रकाशन हुआ था किन्तु वह आज जीर्ण दशा का अनुभव कर रहा है और दुर्लभ भी है यह समझ कर कमल प्रकाशन संस्था द्वारा उसके प्रथम भाग का पुनर्मुद्रण हुआ था। कई वर्ष बीत चूके पर दूसरे भाग को पुनर्जीवन नहीं मिल रहा था। विद्वद्वर्ग उसकी प्रतीक्षा भी कर रहा था।

प० पू० परमोपकारी सिद्धान्तमहोदधि संयमकलाकुशल आचार्यदेव श्रीमद्विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज की प्रेरणा से जिस संस्था ने आजतक अनेक बहु मूल्य प्रकाशन श्री संघ की सेवा में प्रस्तुत किये हैं–उसी का वह सौभाग्य था कि प. पू. गीतार्थ मुनिवर्य श्रीमद् जयघोषविजय गणिवर्य की प्रेरणा इस कार्य को संपूर्ण करने के लिये प्राप्त हुई और संस्थाने भी इस कार्य को सहर्ष स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप वाचकवर्ग के उद्यान में आज इस बहुमूल्य ग्रन्थ के उत्तरार्धपुष्प की सुवास व्यक्त करने के लिये हम समर्थ हो सके हैं।

इस कार्य की सफलता का श्रेय है उन्हीं स्व. आचार्यदेव को और उनके पट्टालंकार न्यायविशारद परमतपस्वी पूज्य आचार्यदेव श्रीमद्विजय भुवनभानुसूरीश्वर महाराज को एवं पू. गीतार्थ गणिवर्य श्री को जिनकी करुणादृष्टि ने हमें इस कार्य के लिए उत्साहित किया।

पूज्य उदारचित्त मुनिवरश्री नरचन्द्र वि. म. ने अपने गुरुदेव उग्रतपस्वी पूज्य पं. श्रीकान्तिविजयजी म सा. की संशोधित प्रत सुपुर्द करके सम्पादन और प्रकाशन के कार्य को अतिसरल बना दिया जिसके लिये हम सदा उनके ऋणी रहेंगे। ग्रन्थके मुद्रण के लिये समस्त द्रव्य सहाय मोतीशा-शेठ चेरिटेबल ट्रस्ट (लालबाग. मुंबई) ने देकर अखूट पूण्योपार्जन किया है जिसकी हम भूरि अनुमोदना करते हैं।

प्रेस मेनेजर श्री फतेहचन्दजी जैन (हालावालें) और प्रुफ संशोधक मास्टर श्री चम्पकलाल जैन ये दोनों महानुभावों ने ग्रन्थ प्रकाशन में खूब जहेमत उठायी है जो अविस्मरणीय है। एवं जिन जिन महानुभावो ने साक्षात् या परम्परया हमारे इस शुभ कार्य में सहयोग देकर हमारा उत्साह बढाया हैं उन सभी के हम ऋणी हैं।

भविष्य काल में भी हमारी संस्था को इसी प्रकार पूज्य महात्मा पुरुषों और सज्जन सुश्रावक वर्ग का सहयोग और मार्गदर्शन मिलता रहे और उनकी शुभ कामनाओं से बहुमूल्य ग्रन्थों का अविरत प्रकाशन करती रहे ऐसी शासनदेव को अभ्यर्थना ।

भवदीय-

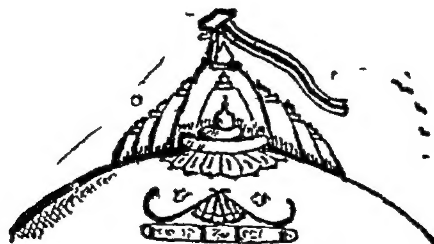
भारतीय-प्राच्य तत्त्व-प्रकाशन-समिति की ओर से ।

शा० समरथमल रायचन्दजी मंत्री ।

शा० रमणलाल वजेचंद (मन्त्री) ।

शा० लालचन्द छगनलालजी (मन्त्री) ।

❀ समिति का ट्रस्टी मंडल ❀



प्रस्तावना

वह एक सुवर्ण प्रभात था जब अनेक आधि व्याधि और उपाधियों के बीच फसे हुए, अज्ञान के अन्धकार में भटकते हुए, मत्स्यगलागलन्याय से एक दूसरे के गले काटने के लिये सज्ज बने हुए, धन दोलत सुख-समृद्धि के पीछे पागल बन कर अन्धदौड करते हुए, संसार के आँधी और तूफान के बीच गुमराह होने वाले, धोखा-विश्वासघात-प्रपञ्च के भीषण तरंगो की गहरी चोट से हताशा-निराशा और दुख के समुद्र में डुबते हुए विश्व के समस्त मनुष्य गण को देख कर एक महर्षि के हृदय में करुणा का अरुणोदय हुआ, उस मानवगण की दरिद्रता को देख कर अंतर पीडित हो उठा। सर्व जीव को बचाने के उपाय ढूंढने के लिये वे गहरे शास्त्रीय चिन्तन के सागर में निमग्न बने और सारे विश्व के लिये संजीवनी औषधितुल्य रत्नत्रयी लेकर वापिस बाहर आये। समग्र लोक को रत्नत्रयी का दर्शन और प्रकाश प्राप्त हो सके इस मङ्गल कामना से एक मनोहर काष्ठपात्री में उसे सज्ज करके जगत् के चौक में स्थापित करके स्वयं नामना के व्यामोह को छोडकर अन्तर्धान हो गये।

महर्षि का तो यह स्वभाव ही होता है कि स्वयं जनसम्पर्क में न आने पर भी लोग को दिव्य प्रकाश पुञ्ज से प्रज्वलित कर देते हैं, लेकिन वह प्रकाश सारे विश्व को धवलित कर उसके आश्रय को भी प्रकाशित किये विना नहीं रहता। रत्नत्रयी के प्रकाश ने भी उसके तेज से अलंकृत करके उन महर्षि को श्रीमद् सिद्धर्षिगणि के शुभ अभिधान से सारे विश्व में प्रकाशित कर दिया और उन महर्षि ने भी उस रत्नत्रयी के आधार भूत काष्ठपात्री को उपमितिभवप्रपञ्चा कथा के मङ्गल नामधेय से घोषित कर दीया। आज भी उस रत्नत्रयी के अभिलाषी सज्जनों का हृदय उस कथा को पढकर आनन्द से भर जाता है और उन महर्षि को स्मृतिपट में लाकर श्रद्धा से अपने शिर को अवनत कर देते हैं।

इस कथा ग्रन्थ के पूर्वार्ध को प्रकाशित हुए काफी वर्ष बीत चूके हैं जिसमें आद्य चार प्रस्तावों का परिचय सुलभ है। आइये—शेष रह गये अन्तिम चार प्रस्ताव का यहां संक्षेप में हम परिचय कर लें।

पञ्चम प्रस्ताव में—मुख्यरूप से ग्रन्थकार महर्षि ने मायाकपटाचरण-परद्रव्यहरण और घ्राणेन्द्रिय की लम्पटता के कटुफल की आलोचना की है।

वामदेव नामधारी संसारी जीव को पुण्योदय से विमल नाम के सरलमित्र से मैत्री हुई। मित्र के हितैषी और सरलहृदयी होने पर भी वामदेव ने उसके साथ ठगाई खेल खेलने में कुछ बाकी न रखा। विमल को रत्नचूड जैसे उपकारी मित्र प्राप्त होने पर सम्यग्दर्शन आदि गुणसम्पदा प्राप्त करके अन्त में बुधसूरि के समागम होने पर आत्मकल्याण का मार्ग लिया। विमल के स्वजनो को प्रतिबोध करने के लिये बुधसूरिने वैक्रिय रूप का वैविध्य दिखाकर बाद में स्वकथित कठोर शब्दावली संसारीजीवों को कैसे लागु होती है उसका सुंदर निरूपण किया और वठरगुरु के कथानक से सभी के चित्त का मनोरञ्जन करके आत्मकल्याण के अभिमुख किया। बुधसूरि के स्वकीय चरितस्वरूप मन्द और बुध दो भाईयों के

कथानक से घ्राणेन्द्रिय का कटु विपाक दर्शाया। संसारीजीव के अन्तरङ्गराज्य के सभ्य मार्गानुसारिता सम्यग्दर्शन सद्बोध चारित्रधर्मराज संयम इत्यादि का भी परिचय दिया गया है। प्रसंग से इस प्रस्ताव में स्त्री पुरुष के वाह्य लक्षण, विमलकृत परमेश्वरस्तुति, सद्बोधप्रतिपादित नीतिशास्त्र का भी प्रतिपादन किया गया है। अन्त में परद्रव्यहरण से वामदेव की जो गाढ विडम्बना हुई और अन्त में फाँसी की सजा मिली उसके निवेदन में प्रस्ताव समाप्त किया है।

छट्ठे प्रस्ताव में–संसारी जीव का धनशेखर नाम से जन्म, लोभसागर का उदय, धन के लिये विदेशाटन-रत्नद्वीपगमन हरिकुमारमेलापक-हरिकुमारके साथ प्रश्नोत्तर विनोद-मयूरमञ्जरी में हरिकुमार के गाढ अनुराग उन दोनों का विवाह-धनशेखर को यौवन और मैथुन का कुसग राजविद्वेष के कारण हरिकुमार का धनशेखर के साथ देशत्याग-लोभ और मैथुन प्रेरित कुवासना से धनशेखर कृत मित्रद्रोह-हरिकुमार को उत्तमसूरि का सत्संग लाभ धर्मदेशनाश्रवण महामोहादि अन्तरङ्गलोक के दोप प्रकाशन-निकृष्टादिषट्पुरुषवृत्तान्त से अन्तरङ्गराज्यहेतुक सुख-दुःख का निरूपण हरिकुमार निष्क्रमण-धनशेखर का अत्युग्र लोभ और उसके फलस्वरूप कुपितवेताल से मरण इत्यादि का सुंदर मनोहारी निरूपण किया गया है।

प्रसङ्ग से इस प्रस्ताव में वैद्यकशास्त्र और होराकर्पणादि ज्योतिप के विपय का भी दिग्दर्शन दिया गया है।

सातवे प्रस्ताव में–संसारी जीव का घनवाहननाम से जन्म अकलङ्क के साथ मैत्री उद्यान-गमन-साधुदर्शन-छ मुनिभगवंतो को वैराग्य के विपय में अकलंक की पृच्छा और उसके उत्तर में छ मुनिओं ने क्रमशः वैराग्य के निमित्तभूत भीपण आग-दारु का पीठा-अरघट्टघटीमाला-सन्निपातजनक-कुटुंबसम्बन्ध चारुकादिसार्थवाहसुतचतुष्ककथानक और संसारनगरी का हट्टमार्ग का निरूपण-हट्टमार्ग के निरूपण के भीतर में अवान्तररूप से चित्तवानरस्वभाववर्णन तत्प्रयुक्तसुख-दुख-अप्रमादवज्रदण्ड से उसकी सुरक्षा शुभाशुभ लेश्या और विवेक का बहुमूल्य मार्गदर्शन दिया गया है। तदनन्तर घनवाहन की कर्मलघुता का होना–कोविदसूरि के सत्संग से सदागम का परिचय-अकलङ्क का दीक्षित होना-मोह और परिग्रहसंज्ञा का प्रत्युपदेश श्रवणेन्द्रिय की आसक्ति के कटु फल निरूपक कोविद और वालिश बन्धुद्वय का दृष्टान्त-पत्नी मृत्यु प्रयुक्त शोक के अवसर पर अकलङ्कमुनिकृत प्रतिबोध-पुनः लोभ माया और कृपणता दोषों से मीलन-अविवेक से अगम्यागमन के कारण घनवाहन का जेल निवास वहाँ मर के अनेक दुर्गतयोनियों में परिभ्रमण–पुनः पुनः सम्यग्दर्शन-सद्बोध-गृहिधर्म द्रव्यसाधु धर्म की प्राप्ति-साधुओं की निन्दा से अनेक भव मे परिभ्रमण-पुनः देवलोक के सुख की प्राप्ति और अन्त मे मनुष्यभवा-गमन का निर्देश किया गया है।

आठवे प्रस्ताव में -गुणधारण नाम से संसारी जीव का जन्म कुलंधर के साथ मैत्री मदनमञ्जरी में अनुराग–उसका पाणिग्रहण कन्दमुनिदेशना श्रवण-बारह अणुव्रत स्वीकार निर्मलसूरिदेशनाश्रवण पुण्योदयप्राप्त स्वप्न के बारे में उदित संशय का निरूपण और निराकरण-दशविध यतिधर्म का अभ्यास-भावयतिधर्म की प्राप्ति-द्रव्यलिङ्ग स्वीकार और साधु-चर्यापालन से समाधिमरण का निरूपण किया

गया है। तदनन्तर प्रथम प्रस्ताव प्रतिपादित संसारिजीवनामा तस्कर कौन है और क्यों उसने तस्कराकार धारण किया इस जिज्ञासा के समाधानरूप में संसारी जीव का अनुसुन्दर नाम से जन्म-चक्रवर्त्ति-राजाधिराजपदारोहण पूर्वभव के उपदेशक कन्दमुनि का महाभद्रानाम से जन्म-समन्तभद्रसूरिसमीप महाभद्रा अपरनाम प्रज्ञा विशाला की दीक्षा-पूर्वभव की पत्नी मदनमञ्जरी का सुललिता नाम से जन्म–महाभद्रा परिचय-गृहत्याग और साध्वीसहवास-सुललिता का अपरनाम अगृहीतसंकेता-पूर्वभव के मित्र कुलन्धर का पौण्डरीक नाम से श्रीगर्भराजा का पुत्र होना उसी का अपरनाम भव्यपुरुष सुमति-महाभद्रा सुललिता और भव्यपुरुष के निकट समन्तभद्रसूरि की देशना के समय अनुसुन्दर-चक्रवर्त्ती का आगमन स्वकृत अन्तरङ्गचौर्य के घटस्फोट के लिये और भव्यपुरुष पौण्डरीक और सुललिता-अगृहीतसंकेता को प्रतिबोध करने के लिये आत्मीय चरित कथन-महाभद्रा को वह सुन कर अवधिज्ञान और जातिस्मरण का उद्भव-अनुसुन्दर चक्रवर्त्ती की चारित्रग्रहण इच्छा-श्रीगर्भराज, पौण्डरीक और अनुसुन्दर के चारित्रग्रहण के समय सुललिता का सम्भ्रम-अनुसुन्दरकृत पूर्वभवनिरूपण-अतिप्रयत्न के बाद सुललिता को प्रतिबोध-जातिस्मरणज्ञान-अन्त में सब की दीक्षा और अनुसुन्दर का मृत्यु के बाद सर्वार्थसिद्ध देवलोकगमन का निरूपण किया गया है।

तदनन्तर पौण्डरीक मुनि का 'द्वादशाङ्गी का सार क्या है' ? प्रश्न-उत्तर में समन्तभद्रसूरिकृत ध्यानयोग का निरूपण-उसके वैचित्र्य का प्रतिपादन-मोक्ष का समानध्येय होने पर भिन्न भिन्न पंथो के आस्तत्त्व के विषय मे पौण्डरीक का प्रश्न और उसके उत्तर में समन्तभद्रसूरि दर्शित कूटवैद्यशाला का उदाहरण-सर्वज्ञदर्शन की व्यापकता का निरूपण-जैनदर्शन की व्यापकता-मोक्षमार्ग-अन्त मे पौण्डरीक का मोक्षगमन इत्यादि का निरूपण किया गया है। पूरे प्रस्ताव की और सारे ग्रन्थ की समाप्ति करते हुए ग्रन्थकार ने अन्तिम अमूल्य हितोपदेश दे दिया है जो प्रत्येक वाचक मनुष्य के हृदय को संवेग-वैराग्य और सद्बोध से आप्लावित करने वाला है। अपनी गुरुपरम्परा की स्तुति प्रशस्ति करके ग्रन्थकार ने ग्रन्थ समाप्त किया है।

ग्रन्थकार स्वयं विविध प्रकार के मानवस्वभाव का सूक्ष्मनिरीक्षण विश्लेषण और निरूपण करने वाले श्रेष्ठ मानसशास्त्री है। और उनका यह सम्पूर्ण कथाग्रन्थ अनेक हितोपदेश-बुद्धिवर्धक संवाद और मनोविस्मयजनक अवान्तर कथानको एवं संस्कृत भाषा पर अपना अधिकार जमाने की इच्छा धारण करनेवालो के लिये अनेकानेक मनोहर सुश्लिष्ट शब्द प्रयोग और वाक्य प्रयोगों से भरा हुआ है, शैली भी प्रौढ सरल एवं मनोहर है। समस्त विश्व का तदाकार दर्शन प्राप्त करने के लिये यह कथा ग्रन्थ दिव्य अञ्जनतुल्य है और आत्म कल्याण करने के लिये सर्वश्रेष्ठ सन्मित्र है इस में कोई शंका नही।

इस ग्रन्थ के अध्ययन और अध्यापन द्वारा सर्व जीव अपने हित की साधना में त्वरा से उद्यमवन्त बने यही शुभेच्छा।

— सम्पादक



समर्पण



जिन्होंने अपनी अन्तिम सांस तक इस पूरे कथाग्रन्थ का वार वार श्रवण-चिन्तन और मनन किया था-जिन्होंने अनेक ऐदंयुगीन भव्यजीवों को प्रतिबोध करके संयममार्ग के पथिक बनाने में धर्मबोधकर का काम किया-जिनके हृदय सागर में सर्व जीवों के प्रति अपार करुणा और निःस्वार्थ वात्सल्य के उत्तुंग तरंग लहराते थे। जिन्होंने त्याग-वैराग्य और संयम का सुदृढ पालन करके सुंदर साधुजीवन का, धर्म-विरोधी वर्ग के गर्हित शासनहानिकर कार्यो का अत्यन्त धैर्य से शान्ति और सफल प्रतिकार करके आचार्यपदके उत्तरदायित्व का और 'वीर वीर खमावुं छु' की मुक्त पुकार से समाधि मरण का उच्च और महान् आदर्श स्थापित किया-उन पवित्रनामधेय आचार्यदेव सुविशालगच्छाधिपति-सिद्धान्तमहोदधि **श्रीमद् विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराजा के संयमवर**प्रदानकलाकुशल पवित्र करकमल में सादर-सविनय समर्पण!



કર્મસાહિત્ય ગ્રંથોના પ્રેરક, માર્ગદર્શક અને સંશોધક

સિદ્ધાન્તમહોદધિ સુવિશાલ-ગચ્છાધિપતિ કર્મશાસ્ત્રરહસ્યવેદી શાસનશિરછત્ર સ્વ. પરમપૂજ્ય



આચાર્યદેવ શ્રીમદ્ વિજયપ્રેમસૂરીશ્વરજી મહારાજા

* विषयानुक्रमः *





श्री सिद्धर्षिगणि-विरचिता

उपमितिभवप्रपञ्चा कथा

(उत्तरार्धः)

पञ्चमः प्रस्तावः



अथ तल्लोकविख्यातं, सर्वसौन्दर्यमन्दिरम् । बहिरङ्ग जगत्यस्ति, वर्धमानं पुरोत्तमम् ॥ १ ॥
[1]पूर्वाभाषी शुचिः प्राज्ञो, दक्षिणो ज्ञातिवत्सलः । नरवर्गः सदा यत्र, जैनधर्मपरायणः ॥ २ ॥
विनीतः शीलसंपन्नः, सर्वावयवसुन्दरः । सल्लज्जाभूषणो यत्र, धार्मिकः सुन्दरीजनः ॥ ३ ॥
तत्र दर्पोद्धुरारातिकरिकुम्भविदारणः । अभून्निर्व्याजसद्वीर्यो, धवलो नाम भूपतिः ॥ ४ ॥
यः शशाङ्कायते नित्यं, स्वबन्धुकुमुदाकरे । कठोरभास्कराकारं, बिभर्ति रिपुतामसे ॥ ५ ॥

[विमल वामदेवजन्मादि]

तस्यास्ति सर्वदेवीनां, मध्ये लब्धपताकिका । सौन्दर्यशीलपूर्णाङ्गी, देवी कमलसुन्दरी ॥ ६ ॥
तस्या गर्भे समुद्भूतः, मद्भुतगुणमन्दिरम् । सुतोऽस्ति विमलो नाम, तयोर्देवीनरेन्द्रयोः ॥ ७ ॥
स तदा बालकालेऽपि, वर्त्तमानो महामतिः । लघुकर्मतया धन्यो, न स्पृष्टो बालचेष्टितैः ॥ ८ ॥
अथ तत्र पुरे ख्यातः, समस्तजनपूजितः । आसीद् गुणाश्रयः श्रेष्ठी, सोमदेवो महाधनः ॥ ९ ॥
धनेन धनदं धन्यो, रूपेण मकरध्वजम् । धिया सुरगुरुं धीरो, यो विजिग्ये गतस्मयः ॥ १० ॥
तस्यानुरूपा शीलाढ्या, लावण्यामृतशालिनी । भर्तृभक्ताऽभवद्भार्या, नाम्ना कनकसुन्दरी ॥११ ।
ततोऽहं गुटिकादानाद्भवितव्यतया तया । तस्याः प्रवेशितः कुक्षौ, भद्रे ! पुण्योदयान्वितः ॥१२॥
अथ संपूर्णकालेन, प्रविभक्तशरीरकः । स्थितश्चाहं बहिर्योने रङ्गमध्ये यथा नटः ॥ १३ ॥
ततः किल प्रसूताऽहं, जातो मे पुत्रकोऽनघः । इति भावनया चित्ते, जनन्या प्रविलोकितः ।१४॥
सोऽपि पुण्योदयो जातः, केवलं नेक्षितस्तया । जनदृष्ट्या न दृश्यन्ते, तेऽन्तरङ्गजना यतः ।।१५।।
ज्ञातोऽहं सोमदेवेन, परिवारनिवेदितः । ततश्च कारितस्तेन, सुतजन्ममहोत्सवः ॥ १६ ॥
दत्तानि भूरिदानानि, पूजिता गुरुसंहतिः । प्रनृत्ता बान्धवाः सर्वे, वादितानंदमर्दलाः ॥ १७ ॥
अथातीतेऽतितोषेण, द्वादशाहे च सोत्सवम् । ततो मे विहितं नाम, वामदेव इति स्फुटम् ॥ १८ ॥
ततः संवर्धमानोऽहमत्यन्तसुखलालितः । यावद्भद्रे ! समापन्नो, व्यक्तचैतन्यरंगतः ॥ १९ ॥
तावद्दृष्टौ मया भद्रे !, कृष्णाकारधरौ नरौ । तयोश्च निकटे वक्रा, नारी वलितदेहिका ॥ २० ॥
चिन्तितं च मया हन्त, किमिदं मानुषत्रयम् । मत्समीपे समायातं, किं वाऽऽश्रित्य प्रयोजनम् ? ।२१॥
अथैकस्तत्र मां गाढं, बलादालिङ्ग्य मानवः । निपत्य पादयोस्तेषां, ततश्चेत्थमभाषत ॥ २२ ॥

---

(१) पूर्वमेव स्वागतम्' इत्यागन्तुकातिथिसत्काराय भाषक ।

[वामदेवस्य माया-स्तेयसमागम]

मित्र ! प्रत्यभिजानीषे, किं मां किं नेति वा पुनः ?। मयोक्तं नेति तच्छ्रुत्वा, सञ्जातः शोकविह्वलः ।।२३।।
मयोक्तं तात ! किं जातस्त्वमेवं शोकविह्वलः ? । तेनोक्तं चिरदृष्टोऽपि, यतोऽहं विस्मृतस्तव ।।२४।।
मयोक्तं कुत्र दृष्टोऽसि, त्वं मया वरलोचन ? । तेनोक्तं कथयाम्येष, समाकर्णय साम्प्रतम् ।।२५।।
पुरेऽसंव्यवहारे त्वमासीर्वास्तव्यकः पुरा । तत्रासन्मादृशास्तात !, बहवस्ते वयस्यकाः ।।२६।।
केवलं तत्र नाभूवमहमद्यापि ते सखा । अन्यदा निर्गतोऽसि त्वं, पूरे भ्रमणकाम्यया ।। २७ ।।
ततश्चैकाक्षवासे त्वं, विकलाक्षपुरे भ्रमन् । पञ्चाक्षपशुसंस्थाने, कदाचित्पुनरागतः ।। २८ ।।
तत्र ये गर्भजाः सन्ति, संज्ञिनः कुलपुत्रकाः । अन्यस्थानानि पर्यस्य, तेषु प्राप्तोऽसि सुन्दर ! ।।२९।।
अथ तत्र स्थितस्यायं जातस्तव वयस्यकः । तिरोभूतपरत्वेन, न सम्यग् लक्षितस्त्वया ।। ३० ।।
ततो भ्रमणशीलत्वात्तातानन्तेषु धामसु । अनन्तवारान् भ्रान्तोऽसि, सह स्वीयमहेलया ।। ३१ ।।
कुतूहलवशेनाथ, पुरे सिद्धार्थनामके । बहिरङ्गे गतस्तात ! कदाचित्त्वं सभार्यकः ।। ३२ ।।
नरवाहनराजस्य, भवने त्वं तदा स्थितः । दिनानि कतिचिन्नाम्ना, प्रसिद्धो रिपुदारणः ।। ३३ ।।
संसारिजीव इत्येतत्तात ! ते नाम पूर्वकम् । वासके वासके नाम, जायते चापरापरम् ।।३४।।
ततस्तत्र स्थितेनाहं, भवता वरलोचन ! वयस्य ! प्रत्यभिज्ञातो, मृषावाद इति स्फुटम् ।।३५।।
ततस्तत्र मया सार्धं, ललितोऽसि वरानन ! । संजाता च परा प्रीतिर्मदीये ज्ञानकौशले ।।३६।।
पृष्टश्चाहं त्वया तोषाद्यथेदं तव कौशलम् । जातं कस्य प्रसादेन, ममानन्दविधायकम् ? ।।३७।
मयोक्तं प्रतिपन्नाऽस्ति, भगिनी मे महत्तमा । मूढतानन्दिनी माया, रागकेसरिणोऽङ्गजा ।।३८।।
इदं तस्याः प्रसादेन संजातं मम कौशलम् । सा हि संनिहिता नित्यं, मम मातेव वत्सला ।।३९।।
यत्र यत्र मृषावादस्तत्र तत्रेह मायया । भवितव्यमिति प्रायो, विज्ञातं बालकैरपि ।।४०।।
त्वयोक्तं दर्शनीयेति, साऽऽत्मीया भगिनी मम । मयाऽपि प्रतिपन्नं तत्तावकीनं वचस्तदा ।।४१।।
ततस्तद्वचनं तात ! स्मरन्नेषोऽहमागतः । भगिनीं पुरतः कृत्वा, दर्शयामीति ते किल ।।४२।।
यावता–स तदा तादृशः स्नेहस्तव तात ! मया सह । तत्तादृशाः समुल्लापाः, सा च मैत्री मनोहरा ।।४३।।
तथापि–न त्वं प्रत्यभिजानीषे, दृष्टमप्यधुना जनम् । महत्तरमतोऽपि स्यात्किं शोकभरकारणम् ? ।।४४।।
तदेष मन्दभाग्योऽहं, भवता परिवर्जितः । क्व यामि क्व च तिष्ठामि ?, संजातश्चिन्तयाऽऽतुरः ।।४५ ।
मयोक्तं न स्मरामीमं, वृत्तान्तं भद्र ! भावतः । तथापि हृदये मेऽस्ति, यथा त्वं चिरसंगतः ।।४६।।
यतः–दृष्टिर्मे शीतलीभूता, चित्तमानन्दपूरितम् । त्वयि भद्र ! मृषावादे, जाते दर्शनगोचरे ।।४७।।
नूनं जातिस्मरा मन्ये, दृष्टिरेषा शरीरिणाम् । प्रिये हि विकसत्येषा, दृष्टे दन्दह्यतेऽप्रिये ।।४८।।
तस्मादत्र न कर्तव्यः, शोको भद्रेण वस्तुनि । वयस्यः प्राणतुल्यस्त्वं, ब्रूहि यत्ते प्रयोजनम् ।।४९।।
तेनोक्तमियदेवात्र, मम तात ! प्रयोजनम् । यदेषाऽऽत्मीयभगिनी, दर्शिता तेऽतिवत्सला ।।५०।।
मायेति सुप्रसिद्धाऽपि, जनैश्चरितरञ्जितैः । इयं बहुलिका तात !, प्रियनाम्नाऽभिधीयते ।।५१।।
तदेनया समं तात !, वर्तितव्यं यथा मया । अहं तिरोभविष्यामि, नास्ति मेऽत्रसरोऽधुना ।।५२।।
किं तु–यत्रेयमास्ते तत्राहं, स्थित एवेह तत्त्वतः । परस्परानुविद्धं हि, स्वरूपमिदमावयोः ।।५३।।

अयं तु पुरुरस्तात !, कनिष्ठो मे सहोदरः । युक्तस्ते मित्रभावस्य, तेन संदर्शितो मया ।।५४।।
स्तेयनामा महावीर्यस्तिरोभूतः स्थितः पुरा । प्रस्तावमधुना ज्ञात्वा, सोऽयं तात ! समागतः ।।५५।।
तदेषोऽपि त्वया नित्यं, यथाऽहमवलोकितः । तथैव स्नेहभावेन, द्रष्टव्यः प्रियबान्धवः ।।५६।।
मयोक्तं-येयं ते भगिनी भद्र !, सा ममापि न संशयः । यस्ते सहोदरो भ्राता, स ममाप्येष बान्धवः ।।५७।।
तेनोक्तं–अहो महाप्रसादो मे, विहितो मदनुग्रहः । संजातः कृतकृत्योऽहमेवं मति नरोत्तम ।।५८।।
इत्युक्त्वा स मृषावादस्तिरोभावमुपागतः । ततो मे हृदि संजातो, वितर्कः स च कीदृशः ? ।।५९।।
अहो मे धन्यता नूनं, संपन्नं जन्मनः फलम् । भगिनीभ्रातरौ यस्य,समापन्नौ ममेदृशौ ।।६०।।
ततो विलसतस्ताभ्यां, सार्धं मे मनसीदृशाः । जाता वितर्ककल्लोला, भद्रे ! विभ्रान्तचेतसः ।।६१।।
वञ्चयामि जगत्सर्वं. नानारूपैः प्रतारणैः । परेषां धनसर्वस्वं, मुष्णामि च यथेच्छया ।।६२।।
ततोऽहं वञ्चनेऽन्येषां हरणे चान्यसम्पदाम् । प्रवर्तमानो निःशङ्कस्तुलितो लोकबान्धवैः ।।६३।।
ततस्तत्तादृशं वीक्ष्य, मामकीनं कुचेष्टितम् । गणितस्तृणतुल्योऽहं, तैः सर्वैर्लोकबान्धवैः ।।६४।।

[विमलवामदेवयोः सख्यम्]

इतश्च नृपतेर्भार्या, या सा कमलसुन्दरी । साऽभूत्कनकसुन्दर्याः, सर्वकालं सखी प्रिया ।।६५।।
ततोऽसौ तनयस्तस्या विमलो राजदारकः । जातो मे मातृसम्बन्धात्सखा निर्व्याजवत्सलः ।।६६।।
सदोपकारपरमः, स्नेहनिर्भरमानसः । स महात्मा मया सार्धं, शाठ्यहीनः प्रमोदते ।।६७।।
अहं तु तस्या वीर्येण, भगिन्याः शठमानसः । विमलेऽपि मलापूर्णः, संजातः कौटिलाशयः ।।६८।।
निर्मिथ्यशाठ्यभावेन, तदेवं वर्तमानयोः । अनेकक्रीडनासारमावयोर्यान्ति वासराः ।।६९।।
ततश्च–कौमारे वर्तमानेन, विमलेन महात्मना । आसाद्य सदुपाध्यायं, गृहीताः सकलाः कलाः ।।७०।।
योषितां नयनानन्दं, मीनकेतनमन्दिरम् । लावण्यसागराधारं, तारुण्यकमवाप सः ।। ७१ ।।

[क्रीडानन्दनकाननम्]

अथान्यदा मया सार्धं, ललमानो महामतिः । स क्रीडानन्दनं नाम, संप्राप्तो वरकाननम् ।। ७२ ।।
तच्च कीदृशम् ?—अशोकनागपुन्नागबकुलाङ्कोल्लराजितम् । चन्दनागरुकर्पूरतरुषण्डमनोहरम् ।।७३।।
द्राक्षामण्डपविस्तारवारितातपसुन्दरम् । विलसत्केतकीगन्धगृद्धयाऽन्धीकृतषट्पदम् ।। ७४ ।।
अनेकतालहिंतालनालिकेरमहाद्रुमैः । यदाह्वयति हस्ताभैः, सस्पर्धमिव नन्दनम् ।। ७५ ।।

अपि च– विविधाद्भुतचूतलतागृहकं, क्वचिदागतसारसहंसचकम् ।
सुमनोहरगन्धरणद्भ्रमरं, धुमदामपि विस्मयतोषकरम् ।। ७६ ।।
स च तत्र मया सहितो विमलः, सरलो मनसा बहुपूतमलः ।
उपगत्य तदा सुचिरं विजने, रमते स्म मृगाक्षि ! मनोज्ञवने ।।७७।।

अत्रान्तरे किं संपन्नं ?–

नूपुरारवसंमिश्रः, साशङ्को निभृतो ध्वनिः । कयोश्चिज्जल्पतोर्दूरादागतः कर्णकोटरम् ।। ७८ ।।

ततो विमलेनाभिहितं—वयस्य वामदेव ! कस्यायं ध्वनिः श्रूयते ? मयोक्तं–कुमार ! अस्फुटाक्षरतया न सम्यग् मयापि लक्षितो, बहूनां चात्र ध्वनिः संभाव्यते । यतोऽत्र काननाभोगे विचरन्ति यक्षाः, परिभ्रमन्ति नरवराः, संभाव्यन्ते विबुधा, रमन्ते सिद्धा, हिण्डन्ति पिशाचाः, संभवन्ति भूता, गायन्ति

किन्नराः, पर्यटन्ति राक्षसा, निवसन्ति किम्पुरुषा, विलसन्ति महोरगा, ललन्ते गान्धर्वाः, क्रीडन्ति विद्याधराः, तस्मात्पुरतो गत्वा निरूपयावः, येन निश्चीयते कस्यायं शब्द इति, प्रतिपन्नमनेन, गतौ स्तोकं भूमिभागं, दृष्टा पदपद्धतिः । विमलेनोक्तं–वयस्य ! वामदेव ! मनुजमिथुनस्य कस्यचिदेषा पदपद्धतिः, यतः–

पश्यैकानि पदान्यत्र, कोमलानि लघूनि च । दृश्यन्ते वालुकामध्ये, सूक्ष्मरेखाङ्कितानि च ॥७९॥
तथाऽन्यानि पुनर्व्यक्तचक्राङ्कुशझषादिभिः । लाञ्छितानि विभाव्यन्ते, पदानि विरलानि च ॥८०॥
लगन्ति च न देवानां, पदानीह भुवस्तले । सामान्यपुरुषाणां च, नेदृशी पदपद्धतिः ॥८१॥

तदत्र वयस्य वामदेव ! विशिष्टेन केनचिन्नरमिथुनेन भाव्यं, मयोक्तं–कुमार ! सत्यमेवमिदमग्रतो गत्वा निरूपयावः, ततो गतौ पुनः स्तोकं भूभागं, दृष्टमतिघनतरुगहनमध्ये लतागृहकं, निरूपितं लतावितानविवरेण, तत्र च निलीन दृष्टमपहसितरतिमन्मथसौन्दर्यं तन्मिथुनं, विलोकितं विमलेन नखाग्रेभ्यो वालाग्राणि यावत्, न दृष्टौ मिथुनेनावां, अपसृतौ कतिचित्पदानि, विमलेनोक्तं–वयस्य ! न सामान्याविमौ स्त्रीपुरुषौ, यतोऽनयोः शरीरे विशिष्टानि लक्षणान्युपलभ्यन्ते, मयोक्तं––कीदृशानि नरनार्योर्लक्षणानि भवन्ति ?, महत्कुतूहलं मे, ततस्तान्येव तावन्निवेदयतु कुमारः, विमलेनोक्तं–

[पुरुषलक्षणानि]

लक्षग्रन्थसमाख्यातं, विस्तरेण वरानन ! । पुंलक्षणं झटित्येव, कस्तद्वर्णयितुं क्षमः ? ॥८२॥
तथैव लक्षणं नार्या, विज्ञेयं बहुविस्तरम् । तद्वर्णने हि को नाम, पारयेत्कोऽवधारयेत् ? ॥८३॥
अतः समासतस्तुभ्यं, यदि गाढं कुतूहलम् । ततोऽहं कथयाम्येष, लक्षणं नरयोषितोः ॥८४॥
मयोक्तं–अनुग्रहो मे, विमलेनोक्तं–
रक्तस्निग्धमवक्रं च, पद्माभं मृदु कोमलम् । प्रशस्तं वर्णितं प्राज्ञैः, सुश्लिष्टं पादयोस्तलम् ॥ ८५ ॥
शशिवज्राङ्कुशच्छत्रशङ्खादित्यादयस्तले । पादयोर्यस्य दृश्यन्ते, स धन्यः पुरुषोत्तमः ॥८६॥
एत एव च चन्द्राद्या, यद्यसंपूर्णभिन्नकाः । भवेयुः, पश्चिमा भोगाः संपद्यन्ते तदा नरे ॥८७॥
रासभो वा वराहो वा, जम्बुको वा परिस्फुटम् । दृश्येत पादत(ल)योर्यस्यासौ दुःखितो नरः ॥८८॥
मयोक्तं––
लक्षणे प्रस्तुते वक्तुं, रचयेदमपलक्षणम् । किमुक्तं ? विमलः प्राह, समाकर्णय कारणम् ॥८९॥
लक्ष्यते दृष्टमात्रस्य, नरस्येह शुभाशुभम् । येन तल्लक्षणं प्रोक्तं, तद्द्वेधा सुन्दरेतरम् ॥९०॥
ततश्चेदं समासेन, सुखदुःखनिवेदकम् । शरीरसंस्थित चिह्नं, लक्षण विदुषां मतम् ॥९१॥
तेनापलक्षणस्यापि, यदिदं प्रतिपादितम् । युक्तं तद्भद्र ! जानीहि, प्रस्तुते नरलक्षणे ॥९२॥
मयोक्त–
कुमार ! परिहासोऽयं, व्युत्पत्त्यर्थं मया कृतः । तद्ब्रूहि सर्वं यद्वाच्यं, द्विगुणोऽयमनुग्रहः ॥९३॥
विमलेनोक्तं–
उत्तुङ्गाः पृथवस्ताम्राः, स्निग्धा दर्पणसन्निभाः । नखा भवन्ति धन्यानां, धनभोगसुखप्रदाः ॥९४॥
सितैः श्रमणता ज्ञेया, (१)रुक्षपुष्पितकैः पुनः । जायते किल दुःशीलो, नखैर्लोकेऽत्र मानवः ॥९५॥
मध्ये संक्षिप्तपादस्य, स्त्रीकार्ये मरणं भवेत् । निर्मांसावुत्कटौ पादौ, न प्रशस्तावुदाहृतौ ॥९६॥

(१)–चित्रविचित्रैः ।

[पुरुषलक्षणानि]

कूर्मोन्नतौ घनौ स्निग्धौ, मांसलौ समकोमलौ । सुश्लिष्टौ चरणौ धन्यौ, नराणां सुखसाधकौ ॥९७॥
ये काकजङ्घाः पुरुषास्तथैवोद्बद्धपिण्डिकाः । ये दीर्घस्थूलजङ्घाश्च, दुःखितास्तेऽध्वगामिनः ॥९८॥
ये हंसशिखिमातङ्गवृषगत्यनुकारिणः । नरास्ते सुखिनो लोके, दुःखिनोऽन्ये प्रकीर्तिताः ॥९९॥
जानुद्वयं भवेद्गूढं, गुल्फौ वा सुसमाहितौ । यस्यासौ सुखितो ज्ञेयो, घटजानुर्न सुन्दरः ॥१००॥
ह्रस्वं राजीवसच्छायमुन्नतं [1]मणिके शुभम् । वक्रं दीर्घं विवर्णं च न लिङ्गमिह शस्यते ॥१०१॥
दीर्घायुष्का भवन्तीह, प्रलम्बवृषणा नराः । उत्कटाभ्यां पुनस्ताभ्यां, ह्रस्वायुष्काः प्रकीर्तिताः ॥१०२॥
मांसोपचितविस्तीर्णं, शुभकारि कटीतटम् । तदेव दारिद्र्यकरं, विज्ञेयं ह्रस्वसङ्कटम् ॥१०३॥
यस्योदरं भवेत्तुल्यं, सिंहव्याघ्रशिखण्डिनाम् । तथैव वृषमत्स्यानां, भोगभोगी स मानवः ॥१०४॥
वृत्तोदरोऽपि भोगानां, भाजनं किल गीयते । शूरो निवेदितः प्राज्ञैर्मण्डूकसमकुक्षिकः ॥१०५॥
गम्भीरा दक्षिणावर्ता, नाभिरुक्तेह सुन्दरा । वामावर्ता च तुङ्गा च, नेष्टा लक्षणवेदिभिः ॥१०६॥
विशालमुन्नतं तुङ्गं, स्निग्धलोमशमार्दवम् । वक्षःस्थलं भवेद् धन्यं, विपरीतमतोऽपरम् ॥१०७॥
कूर्मसिंहाश्वमातङ्गसमपृष्ठाः शुभा नराः । उद्बद्धबाहवो दुष्टा, दासास्तु लघुबाहवः ॥१०८॥
प्रलम्बबाहवो धन्याः, प्रशस्ता दीर्घबाहवः । [2]अकर्म कठिनौ हस्तौ, विज्ञेयाः पादवन्नखाः ॥१०९॥
दीर्घो मेषसमः स्कन्धो, निर्मांसो भारवाहकः । मांसलो लक्षणज्ञानां, लघुस्कन्धो मतः किल ॥११०॥
कण्ठो दुःखकरो ज्ञेयः, कृशो दीर्घश्च यो भवेत् । स कम्बुसन्निभः श्रेष्ठो, बलित्रयविराजितः ॥१११॥
लघ्वोष्ठो दुःखितो नित्य, पीनोष्ठः सुभगो भवेत् । विषमोष्ठो भवेद्भीरुर्लम्बोष्ठो भोगभाजनम् ॥११२॥
शुद्धाः समाः शिखरिणो, दन्ताः स्निग्धा घनाः शुभाः । विपरीताः पुनर्ज्ञेया, नराणां दुःखहेतवः ॥११३॥
द्वात्रिंशद्रदनो राजा, भोगी स्यादेकहीनकः । त्रिंशता मध्यमो ज्ञेयस्ततोऽधस्तान्न सुन्दरः ॥११४॥
स्तोकदन्ता अतिदन्ता, श्यामदन्ताश्च ये नराः । मूषकैः समदन्ताश्च, ते पापाः परिकीर्तिताः ॥११५॥
बीभत्सैश्च करालैश्च, दन्तैर्विषमसंस्थितैः । तेऽत्यन्तपापिनो ज्ञेया, दुष्टशीला नराधमाः ॥११६॥
या पद्मदलसच्छाया, सूक्ष्मा सा शास्त्रवेदिनाम् । भवेज्जिह्वा विशालाक्ष ! चित्रिता मद्यपायिनाम् ॥११७॥
शूराणां पद्मसच्छायं, भवेत्तालु मनोरमम् । कृष्णं कुलक्षयकरं, नीलं दुःखस्य कारणम् ॥११८॥
हंससारसनादानुकारिणः सुस्वरा नराः । भवन्ति सुखिनः काकखरनादास्तु दुःखिता ॥११९॥
दीर्घया सुखितो नित्यं, सुभगस्तु विशुद्धया । नसा चिपिटया पापश्चौरः कुञ्चितनासिकः ॥१२०॥
नीलोत्पलदलच्छाया, दृष्टिरिष्टा मनस्विनाम् । मधुपिङ्गा प्रशस्तैव, पापा मार्जारसन्निभा ॥१२१॥
सद्दृष्टिर्जिह्मदृष्टिश्च, रौद्रदृष्टिश्च केकरा[3] । "दीनातिरक्ता रूक्षा च, पिङ्गला च विगर्हिता ॥१२२॥
इन्दीवराभा धन्यानां, गम्भीरा चिरजीविनाम् । विपुला भोगिनां दृष्टिरुच्छ(ज्ज्व)लास्तोकजीविनाम् ॥१२३॥
काणाद्वरतरोऽन्धः स्यात्केकरादपि काणकः । वरमन्धोऽपि काणोऽपि, केकरोऽपि न कातरः ॥१२४॥
अवद्धलक्ष्या सततं, घूर्णते कारणं विना । रूक्षाभा म्लानरूपा च, सा दृष्टिः पापकर्मणाम् ॥१२५॥
अधो निरीक्षते पापः, सरलं ऋजुरीक्षते । ऊर्ध्वं निरीक्षते धन्यस्तिरश्चीनं तु कोपनः ॥१२६॥

---

(१)-अग्रभागे । (२)-कर्मणो भृतिक्रियाया अभावः । (३)-वक्रा ।

[पुरुषलक्षणानि]

दीर्घे पृथुलरूपे च, मानसौभाग्यशालिनाम् । भ्रुवौ नराणां हीने तु, योषिदर्थे महापदाम् ॥१२७॥
लघुस्थूलौ महाभोगौ, कर्णौ तौ धनभागिनाम् । आखुकर्णे भवेन्मेधा, लोमशौ चिरजीविनाम् ॥१२८॥
ललाटपट्टो विपुलश्चन्द्राभः सम्पदाकरः । दुःखिनामतिविस्तीर्णः, संक्षिप्तः स्वल्पजीविनाम् ॥१२९॥
वामावर्तो भवेद्यस्य, वामायां दिशि मस्तके। निर्लक्षणः क्षुधाक्षामो भिक्षामत्यात्म रूक्षिताम् । १३०॥
दक्षिणो दक्षिणे भागे, यस्यावर्तस्तु मस्तके । तस्य नित्यं प्रजायेत, कमला करवर्तिनी ॥१३१॥
यदि स्याद्दक्षिणे वामो, दक्षिणो वामपार्श्वके। पश्चात्काले ततस्तस्य भोगा नास्त्यत्र संशयः ॥१३२॥
[1]स्फुटिता रूक्षमलिनाः, केशा दारिद्र्यहेतवः। सुखदास्ते मृदुस्निग्धा, वह्न्याभाः कलिहेतवः ॥१३३॥

अन्यच्च–

उरोमुखललाटानि, पृथूनि सुखभागिनाम् । गम्भीराणि पुनस्त्रीणि, नाभिः सत्त्वं स्वरस्तथा ॥१३४॥
केशदन्तनखाः सूक्ष्मा, भवन्ति सुखहेतवः । कण्ठः पृष्ठं तथा जङ्घे, ह्रस्वं लिङ्गं च पूजितम् ॥१३५॥
रक्ता जिह्वा भवेद्धन्या, पाणिपादतलानि च। पृथुलाः पाणिपादास्तु, धन्यानां दीर्घजीविनाम् ॥१३६॥
स्निग्धदन्तः शुभाचारः, सुभगः स्निग्धलोचनः। नरोऽतिदीर्घो ह्रस्वश्च, स्थूलः कृष्णश्च निन्दितः ॥१३७॥
त्वचि रोमसु दन्तेषु, जिह्वायां चिकुरेषु च । नेत्रयोश्चातिरूक्षा ये, ते न धन्याः प्रकीर्तिताः ॥१३८॥
पञ्चभिः शतमुद्दिष्टं, चतुर्भिर्नवतिस्तथा । त्रिभिः षष्टिः समुद्दिष्टा, लेखारूढैर्भालवर्तिभिः ॥१३९॥
चत्वारिंशत्पुनः प्रोक्तं, वर्षाणि नरजीवितम् । ताभ्यां द्वाभ्यां तथैकेन, त्रिंशद्वर्षाणि सुन्दर ! ॥१४०॥

युग्मम् ।

किं च– अस्थिष्वर्थाः सुखं मांसे, त्वचि भोगाः स्त्रियोऽक्षिषु ।
गतौ यानं स्वरे चाज्ञा सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम् ॥१४१॥

गतेर्धन्यतरो वर्णो, वर्णाद्धन्यतरः स्वरः । स्वराद्धन्यतरं सत्त्वं, सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितम् ॥१४२॥
यथा वर्णस्तथा रूपं, यथा रूपं तथा मनः। यथा मनस्तथा सत्त्वं, यथा सत्त्व तथा गुणाः ॥१४३॥
तदिदं ते समासेन, वर्णितं नरलक्षणम् । अधुना योषितां भद्र !, लक्षणं मे निशामय ॥१४४॥

मयोक्तं–

कुमार ! भवता तावदाधारमिह कीर्तितम् । सर्वस्य लक्षणस्यास्य, सत्त्वमत्यन्तनिर्मलम् ॥१४५॥
तच्च किं यादृशं जातं, तादृगेवावतिष्ठते ? । किं वा कथञ्चिद्वर्धेत, नराणामिह जन्मनि ? ॥१४६॥

विमलेनोक्तं–

सन्ति संवर्धनोपायाः, सत्त्वस्यात्रैव जन्मनि । ते चेमे ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधयः ॥१४७॥
ब्रह्मचर्य दया दान निःस्पृहत्वमृतं तपः। औदासीन्य च सर्वत्र, सत्त्वसंशुद्धिहेतवः ॥१४८॥
एतैरविमलं सत्त्वं, शुद्ध्युपायैर्विशुध्यति । मृज्यमान इवादर्शः, क्षारचेलकरादिभिः ॥१४९॥
यतः–भावस्नेहं निराकृत्य, रूक्षयन्ति न संशयः। भावा एतेऽन्तरात्मानं, सेव्यमानाः पुनः पुनः ॥१५०॥
रूक्षीभूतात्पतत्यस्मादात्मनो मलसञ्चयः। ततः शुद्धा भवेल्लेश्या, सा च सत्त्वमिहोच्यते ॥१५१॥

(१)–पृथक् पृथक् स्थिता ।

[पुरुषलक्षणानि]

शुद्धे च सत्त्वे कुर्वन्ति, लक्षणानि बहिर्गुणम् । अपलक्षणदोषाश्च, जायन्ते नैव बाधकाः ॥१५२॥
तदेवं भद्र ! विद्यन्ते ते भावा यैर्विवर्धते । समस्तगुणसम्भाराधारं तत्सत्त्वमुत्तमम् ॥१५३॥

एवं च वदति विमले–

मया भद्रे ! न विज्ञातो, भावार्थस्तत्र कश्चन । तथापि भगिनीदोषात्त्वं प्रतीदं प्रजल्पितम् ॥१५४॥
कुमार ! साधु साधूक्तं, नष्टो मे संशयोऽधुना । तत्तावद्वर्णयेदानीं, लक्षणं मम योषिताम् ॥१५५॥
अन्यच्च कीदृशं तावदिदं ते प्रतिभासते । मिथुनं लक्षणैर्येन, जातस्ते विस्मयोऽतुलः ॥१५६॥

विमलेनोक्तं आकर्णय–

चक्रवर्ती भवत्येव, नरोऽमूदृशलक्षणैः । ललनाऽपीदृशी भद्र !, भार्या, तस्यैव जायते ॥१५७॥
तेन मे विस्मयो जातो, दृष्ट्वेदं मिथुनोत्तमम् । निशामय ततो भद्र !, लक्षणं योषितोऽऽधुना ॥१५८॥

[स्त्रीलक्षणानि]

मयोक्तं कथयतु कुमारः, विमलेनोक्तं–

मुखमर्धं शरीरस्य, सर्वं वा मुखमुच्यते । ततोऽपि नासिका श्रेष्ठा, नासिकातोऽपि लोचने ॥१५९॥
चक्रं पद्मं ध्वजं छत्रं, स्वस्तिकं वर्धमानकम् । यासां पादतले विन्द्याः, ताः स्त्रियो राजयोषितः ॥१६०॥
दासत्वं पृथुलैः पादैर्वक्रैः शूर्पनिभैस्तथा । शुष्कैर्दारिद्र्यमाप्नोति, शोकं चेति मुनेर्वचः ॥१६१॥
अङ्गुल्यो विरला रूक्षा, यस्याः कर्मकरी तु सा । स्थूलाभिर्दुःखमाप्नोति, दारिद्र्यं च न संशयः ॥१६२॥
श्लक्ष्णाभिः संहताभिश्च, सुवृत्ताभिस्तथैव च । रक्ताभिर्नातिदीर्घाभिरङ्गुलीभिः सुखान्विताः ॥१६३॥
पीनौ सुसंहतौ स्निग्धौ, निरारोमविवर्जितौ । हस्तिहस्तनिभौ यस्या जङ्घोरू सा प्रशस्यते ॥१६४॥
विस्तीर्णमांसला गुर्वी, चतुरस्राऽतिशोभना । समुन्नतनितम्बा च, कटिः स्त्रीणां प्रशस्यते ॥१६५॥
उदरेण [1]शिरालेन, निर्मांसेन क्षुधार्दिता । विलग्नमध्यशोभेन, तेनैव सुखभागिनी ॥१६६॥
कुनखैः सव्रणैः स्विन्नैर्विस्तीर्णै रोमशैः खरैः । विकृतैः पाण्डुरै रूक्षैर्नार्यो हस्तैः सुदुःखिताः ॥१६७॥

यावच्चैवं किल विस्तरेण निवेदयिष्यति मम नारीलक्षणं विमलस्तावदकाण्ड एव किं संपन्नं ?–

आकाशे भास्कराकारौ, निष्कृष्टासी विभीषणौ । नरौ विलोकितौ तूर्णमागच्छन्तौ तदा मया ॥१६८॥

[अकाण्डे वृत्तान्त]

ततः ससंभ्रमं तदभिमुखमवलोकयता मयाऽभिहितं—कुमार ! कुमारेति, ततो विमलेनापि विस्फारिता किमेतदिति चिन्तयता तदभिमुखं विमलकोमलकमलदलविलासलासिनी दृष्टिः, अत्रान्तरे प्राप्तौ लतागृहकम्योपरि तौ पुरुषौ, ततोऽभिहितमेकेन—अरे रे निर्लज्ज पुरुषाधम ! नास्ति नश्यतोऽपि भवति मोक्षः, तदिदानीं सुदृष्टं कुरु जीवलोकं, स्मरेष्टदेवतां, पुरुषो वा भवेति । एतच्चाकर्ण्यासौ लतागृहकमध्यवर्ती पुरुषो धीरा भवेति संस्थाप्य तां ललनामरे रे न विस्मर्तव्यमिदमात्मजल्पितं, पश्यामः को वाऽत्र नश्यतीति ब्रुवाणः समाकृष्य करवालमुत्पतितस्तदभिमुखं,

ततस्ताभ्यां समं तस्य, विलसत्खड्गखाण्णम् । प्रेङ्खत्खणखणारावसिंहनादातिभीषणम् ॥१६९॥
अनेककरणोद्दामवल्गनोद्धतिबन्धुरम् । जातमायोधनं भीममाकाशे कृतविस्मयम् ॥१७०॥ युग्मम्

(१)–दृश्यमानशिरावृन्देन ।

तयोश्चैकः पुरुषो मुहुर्मुहुर्लतागृहकं प्रवेष्टुमभिवाञ्छति स्म, ततः सा बाला भयविह्वला वेपमानपयोधरा हरिणिकेव सिंहत्रासिता दशस्वपि दिक्षु चक्षुः क्षिपन्ती निर्गत्य पलायितुं प्रवृत्ता, ततो दृष्ट्वा विमलकुमारमभिहितमनया—त्रायस्व पुरुषोत्तम ! त्रायस्व, गताऽस्मि तवाहं शरणं, विमलेनोक्तं—सुन्दरि ! धीरा भव, नास्त्यधुना ते भयं, अत्रान्तरे तद्ग्रहणार्थं प्राप्तः स पुरुषः, स च विमलकुमारगुणगणावर्जितया तस्मिन्नेव गगने स्तम्भितो वनदेवतया,

ततो विस्फारिताक्षोऽसौ, विलक्षो विगतक्रियः । चित्रभित्ताविव न्यस्तो, गगनस्थः स्थितो नरः ॥१७१॥

अत्रान्तरे स तस्य द्वितीयः पुरुषो निर्जितस्तेन मिथुनकेन पलायितुं प्रवृत्तः लग्नस्तत्पृष्ठतो मिथुनकः दृष्टः स्तम्भितनरेण, गृहीतोऽसौ रोषोत्कर्षेण, प्रवृत्ता पृष्ठतो गमनेच्छा, लक्षितो देवतया तद्भावः, ततश्चोत्तम्भितोऽसौ वनदेवतया प्रवृत्तः पृष्ठतो वेगेन इतश्च लङ्घितौ दृष्टेर्गोचरमितरौ गतः, सोऽपि तदनुमार्गेणाऽदर्शनं, ततः सा बाला आर्यपुत्र ! हा आर्यपुत्र ! क्व यासि मां मुक्त्वा मन्दभाग्यामिति प्रलपितुं प्रवृत्ता, संस्थापिता कथंचिद्विमलेन मया च, गता कियत्यपि वेला । अत्रान्तरे—

जयश्रिया परीताङ्गो, लसत्कान्तिमनोहरः । समागतः स वेगेन, तस्या मिथुनको नरः ॥१७२॥

ततस्तं दृष्ट्वा सा बालिकाऽमृतसेकसिक्तेव गता परमपरितोषं, निवेदितश्च तया तस्मै वृत्तान्तः । ततः स पुरुषो विमलकुमारं प्रणम्येदमाह—

बन्धुर्भ्राता पिता माता, जीवितं च नरोत्तम ! । त्वं मे येन प्रिया धीर ! रक्षितेयं मम त्वया ॥१७३॥

अथवा—दासोऽहं किङ्करो वश्यः, प्रेष्यस्ते कर्मकारकः । तद्दीयतां ममादेशः, किं करोमि तव प्रियम् ? ॥१७४॥

[रत्नचूडवृत्तान्तारम्भ]

विमलेनोक्तं—महासत्त्व ! अलमत्र सम्भ्रमेण के वयमत्र रक्षितुं ? रक्षितेयं स्वमाहात्म्येनैव भवता । केवलं महत्कौतुकं मे कथयतु भद्र ! कोऽयं वृत्तान्तः ? किं वा ते गतस्य संपन्नमिति, तेनोक्तं—यद्येवं ततो निषीदतु कुमारः महतीयं कथा ततो निषण्णाः सर्वेऽपि लतागृहके, स प्राह कुमाराकर्णय—अस्ति शरच्छशधरकरनिकरधवलो रजतमयो वैताढ्यो नाम पर्वतः, तत्र चोत्तरदक्षिणे द्वे श्रेणी, तयोश्च षष्टिः पञ्चाशच्च यथाक्रमं विद्याधरपुराणि वसन्ति, तत्र दक्षिणश्रेण्यामस्ति **गगनशेखरं** नाम पुरं, तत्र **मणिप्रभो** राजा, तस्य **कनकशिखा** देवी, तस्याश्च **रत्नशेखरस्तनयो रत्नशिखामणिशिखे** च दुहितरौ, तत्र रत्नशिखा **मेघनादस्य** दत्ता, मणिशिखा **त्वमितप्रभस्य** । ततस्तयो रत्नशिखामेघनादयो र्जातोऽहं तनयः, प्रतिष्ठितं मे नाम **रत्नचूड** इति, मणिशिखामितप्रभयोस्तु द्वौ सूनू जातावचलश्च **चपलश्च** । रत्नशेखरस्य च **रतिकान्ता** पत्नी, तस्यश्चेयमेका **चूतमञ्जरी** दुहिता जातेति, महत्क्रीडितानि सर्वाण्यपि वयं बालकाले, प्राप्तानि कुमारभावं, गृहीताः कुलक्रमायाता विद्याः । इतश्च रत्नशेखरस्य बालवयस्योऽस्ति **चन्दनो** नाम सिद्धपुत्रकः, स च—

सर्वज्ञागमसद्भावभावितो निपुणस्तथा । निमित्ते ज्योतिषे मन्त्रे, सतन्त्रे नरलक्षणे ॥१७५॥

ततस्तदीयसम्पर्कात्संजातो रत्नशेखरः । गाढं रक्तो दृढं भक्तो, धर्मे सर्वज्ञभाषिते ॥१७६॥

ततो मदीयताताय, मेघनादाय सादरम् । दत्तस्तेनापि सद्धर्मो, भगिन्यै मह्यमेव च ॥१७७॥

इतश्च-निर्दिष्टश्चन्दनेनाहं, किञ्चिदालोक्य लक्षणम् । यथाऽयं दारको विद्याचक्रवर्ती भविष्यति ॥१७८॥

[विमलरत्नचूडसम्बन्ध]

अत्रान्तरे मयोक्तं—कुमार ! संवदति तत्तावकीनं वचनं, विमलेनोक्तं—वयस्य वामदेव ! न मामकीनं तत्, किं तर्हि ?, आगमवचनं, अत्र च कुतो विसंवादः ? रत्नचूडेनोक्तं—ततस्तेन मदीयमातुलेन रत्नशेखरेण साधर्मिकोऽयमुचितोऽयं सलक्षणोऽयमिति मत्वा दत्ता मह्यमियं चूतमञ्जरी, परिणीता मया, ततः प्रकुपितावचलचपलौ, न च मां परिभवितुं शक्नुतः मृगयेते छिद्राणि, ततो मया छलघाताशङ्कया मुक्तो मुखरनामा चरः, तेन चागत्य निवेदितं मे यथा—कुतश्चिदवाप्ता ताभ्यामचलचपलाभ्यां काली विद्या, तत्साधनार्थं तौ कुत्रचिद्गताविति, मयोक्तं—भद्र ! यदा तावागच्छतस्तदा निवेदनीयं भवता । मुखरेणोक्तं—यदाज्ञापयति देवः, ततोऽद्य प्रभातसमये निवेदितं तेन मे, यथा—देव ! समायातौ तौ, सिद्धा काली विद्या, जातं तयोर्मन्त्रणं, अभिहितमचलेन यथा—चपल ! मया रत्नचूडेन सह योद्धव्यं, भवता तु चूतमञ्जरी हरणीयेति एतदाकर्ण्य देवः प्रमाणम्, ततो मया चिन्तितं—शक्तोऽहं सविद्ययोरपि तयोर्निराकरणे, केवलं न मारयितव्यौ मातृष्वसुः पुत्रौ तौ तावदचलचपलौ मया धर्मक्षतिभयाल्लोकापवादभयाच्च, दुष्टशीलश्चासौ चपलः, ततश्छलेन हृत्वा यद्येनां चूतमञ्जरीं विनाशयिष्यति ततो मे गृहीतो मुञ्चतश्चैनां लाघवं संपत्स्यते, न चान्योऽस्ति मे सहायो यो युध्यमानस्य मे चूतमञ्जरी रक्षति, तस्मादत्रावसरे ममापक्रमणं श्रेयः, ततो गृहीत्वा चूतमञ्जरीमपक्रान्तोऽहं, दृष्टपूर्वं च मयेदं बहुशः क्रीडानन्दनमुद्यानं, ततोऽत्र समागत्य स्थितो लतागृहके यावदनुमार्गेणैव मे समागतौ तावचलचपलौ, समाहूतश्चाहं गतोऽहं तदनुमार्गेण यावत्प्राप्तोऽसौ मया उत्तेजितः परुषवचनैः वलितो मदभिमुखं पुनर्लग्नमायोधनं ततो मया दत्त्वा बन्धमास्फोटितोऽसावचलो गगनवर्तिनैव सतिरस्कारं सस्पर्धं निष्ठुरमचलेन, ततस्तद्वचनमाकर्णयतो मे हृदयं कीदृशं सपन्नं ?—

इतः प्रियतमास्नेहतन्तुनिर्बन्धकीलितम् । इतश्च शत्रुदुर्वाक्यैः, सङ्ग्रामरसभासुरम् ॥१७९॥
न तिष्ठति न वा याति, मूढं कर्तव्यताकुलम् । दोलारूढमिवाभाति, क्षणं मे हृदयं तदा ॥१८०॥

तथापि गाढामर्षवशेन समुत्पतितोऽहं तदभिमुखं लग्नमायोधनं दृष्टं च तत्प्रायो युष्माभिः यावन्नष्टोऽचलो गगनस्थेनैव भूतले, ततस्तस्य चूर्णितान्यङ्गोपाङ्गानि विगलितं पौरुषं संजातं दैन्यं न वहन्ति विद्या, निष्पन्दं शरीरं, ततो मया चिन्तितं-सर्वथा तथा संपन्नो यथा न पुनरागच्छति, किं तु ?—

हत मुष्टिभिराकाश, कण्डिताश्च तुषा मया । योऽस्याहं पृष्ठतो लग्नस्तां हित्वा चूतमञ्जरीम् ॥१८१॥
यतः सैकाकिनी बाला भयेनैव मरिष्यति । अथवा चपलः पापः स तां नून हरिष्यति ॥१८२॥

यद्वा किमत्र वक्तव्यं, हृतैव ननु बालिका । तदधुना क्व याति स दुरात्मेति विचिन्त्य चलितोऽहं वेगेन यावद्दृष्टो मया सम्मुखमागच्छंश्चपलः, ततो मया चिन्तितं-अये किमेष चपलः समागतः किं न दृष्टाऽनेन चूतमञ्जरी किं वाऽनिच्छन्ती सुरतं रोषान्निपातिताऽनेन पापेन ? सर्वथा तस्यां स्वाधीनायां जीवन्त्यां वा न कथञ्चिदस्यागमनं युज्यते, तथाहि—

शून्ये दधिघटीं दृष्ट्वा, काकः स्थगनवर्जिताम् । लब्धास्वादोऽपि तां मुक्त्वा, कथमन्यत्र गच्छति ॥१८३॥

ततो निश्चितं—न जीवति मे प्रियतमा, यावच्चैवमहं चिन्तयामि तावदापतितश्चपलः, लग्नं युद्धं, ततः सोऽपि मया तथैवास्फोटितो भूतले जाता तस्यापि सैव वार्ता, ततो हा हन्त किं मृता सा ? किं नष्टा

सा किं विनष्टा सा किं क्वचिद्गोपायिता सा किमन्यस्य कस्यचित्करीभूतेति प्रियतमागोचरानेककुविकल्पलोलकल्लोलजालमालाकुलचेतोनदीस्रोतःप्लवे प्लवमानः प्राप्तोऽहमिममुद्देशं दृष्टा प्रियतमा ततः समुच्छ्वसितं हृदयेन पुलकितमङ्गेन स्थिरीभूतं चेतनया कृतमास्पदं शरीरे सुखासिकया निर्गतं चित्तोद्वेगेनेति, कथितं चानया मे सवृत्तान्तं भवदीयमाहात्म्यं, तदेष मया निवेदितः समासेन प्रस्तुतवृत्तान्तः। एवं च स्थिते—

तदेनां रक्षता तात !, रक्षितं मम जीवितम्। कृता कुलोन्नतिर्धीर ! दत्तं मे निर्मलं यशः ॥१८४॥
किंवाऽत्र बहुनोक्तेन ? नास्ति तद्वस्तु किञ्चन। महानुभाव ! लोकेऽत्र, यन्न मे विहितं त्वया ॥१८५॥

सुप्रसिद्धं चेदं लोके, यदुत—

कृते प्रत्युपकारोऽत्र, वणिग्धर्मो न साधुता। ये तु तत्रापि मुह्यन्ति, पशवस्ते न मानुषा ॥१८६।

तद्दीयतां ममादेशः, क्रियतां मदनुग्रहः। येन संपादयत्येष, प्रियं ते किङ्करो जनः ॥१८७॥

विमलेनोक्तं—अहो कृतज्ञशेखर! अलमतिसम्भ्रमेण, किं वा न संपन्नमस्माकं युष्मद्दर्शनेन? किमतोऽप्यपरं प्रियतरमस्ति? तथाहि—वचः सहस्रेण सतां न सुन्दरं, हिरण्यकोट्याऽपि न वा निरीक्षितम्। **अवाप्यते सज्जनलोकचेतसा, न कोटिलक्षैरपि भावमोलनम् ॥१८८॥**

किंवाऽत्र मया विहितं ते? येनैवमात्मानं पुनः पुनः संभ्रमयति भद्रः! इत्येवं वदति विमले कुतः सुजनेऽर्थित्वं? कर्तव्यश्चास्य मया कश्चित्प्रत्युपकारो, न भवत्यन्यथा मे चित्तनिर्वृत्तिरिति मन्यमानेन प्रकटितं रत्नचूडेनैकं रत्नं हस्ततले, तच्च कीदृशं?—

[विमलाय रत्नदान]

किं नीलं किमिदं रक्तं, किं पीतं यदिवा सितम्। किं कृष्णमिति सुव्यक्तं, लोकदृष्ट्या न लक्ष्यते ॥१८९॥
द्योतिताशेषदिक्चक्रं, सर्ववर्णविराजितम्। लसदच्छप्रभाजालैर्दिक्षु बद्धेन्द्रकार्मुकम् ॥१९०॥

तच्च दर्शयित्वाऽभिहितं रत्नचूडेन—कुमार!

सर्वरोगहरं धन्यं, जगद्दारिद्र्यनाशनम्। गुणैश्चिन्तामणेस्तुल्यमिदं रत्नं सुमेचकम् ॥१९१॥
दत्तं ममेदं देवेन, तोषितेन स्वकर्मणा। इह लोके करोत्येतत्सर्वाशापूरणं नृणाम् ॥१९२॥

तदस्य ग्रहणेन ममानुग्रहं करोतु कुमारो, नान्यथा मे धृतिः संपद्यते, विमलेनोक्तं—महात्मन्न कर्तव्यो भवताऽऽग्रहो न च विधेयाऽचेतस्यवभावना दत्तमिदं त्वया गृहीतं मया केवलं तवैवेदं सुन्दरं अतः संगोप्यतामिदं मुच्यतामतिसम्भ्रमः। ततश्चूतमञ्जर्योक्तं—कुमार! न कर्तव्यो भवताऽऽर्यपुत्रस्यायमभ्यर्थनाभङ्गः, तथाहि—

निःस्पृहा अपि चित्तेन, दातरि प्रणयोद्यते। **सन्तो नाभ्यर्थनाभङ्गं, दाक्षिण्यादेव कुर्वते** ॥१९३॥
एवं च चूतमञ्जर्यां, वदन्त्यां विमलः किल। किमुत्तरं ददामीति, यावच्चिन्तयते हृदि ॥१९४॥
तावद्वस्त्राञ्चले तस्य, रत्नचूडेन सादरम्। तद्रत्नं बद्धमेवोच्चैर्दिव्यकर्पटके स्थितम् ॥१९५॥
अथ तादृशरत्नस्य, लाभेऽपि विगतस्पृहम्। मध्यस्थं हर्षनिर्मुक्तं, विमलं वीक्ष्य चेतसा ॥१९६॥
स रत्नचूडः स्वे चित्ते, तद्गुणैर्गाढभावितः। तदा विचिन्तयत्येवं, विस्मयोत्फुल्ललोचनः ॥१९७॥

अहो अपूर्वं माहात्म्यमहो निःस्पृहताऽतुला । इदमस्य कुमारस्य, लोकातीतं विचेष्टितम् ॥१९८॥
यद्वा यस्येदृशं जातं, चित्तरत्नं महात्मनः । तस्यास्य बाह्यैर्लोकेऽत्र, किं वा रत्नैः प्रयोजनम्? ॥१९९॥
एतदेवंविधं चित्तं, जायते पुण्यकर्मणाम् । प्रायोऽनेकभवैर्धर्मकर्मरञ्जितचेतसाम् ॥२००॥
ये तु पापाः सदा जीवाः, शुद्धधर्मबहिष्कृताः । तेषां न संभवेत्प्रायो, निर्मल चित्तमीदृशम् ॥२०१॥

[रत्नचूडेन विमलोदन्तपृच्छा]

ततश्चैवमवधार्य चिन्तितं रत्नचूडेन—अये! पृच्छामि तावदेनमस्य कुमारस्य सहचरं, यदुत–कुत्रत्योऽयं कुमारः? किंनामा? किंगोत्रः? किमर्थमिहागतः? किंवाऽस्यानुष्ठानमिति, ततः पृष्टोऽहं यथाविवक्षितमेकान्ते कृत्वा रत्नचूडेन, मयाऽपि कथितं तस्मै यथा—अत्रैव वर्धमानपुरे क्षत्रियस्य धवलनृपतेः पुत्रोऽयं विमलो नामा, अभिहितं चामुनेन यथा—वयस्य वामदेव! यदिदं क्रीडानन्दनमुद्यानमतिरमणीयं जनवादेन श्रूयते तन्मम जन्मापूर्वं, ततोऽद्य गच्छावस्तद्दर्शनार्थं, मयोक्तं-यदाज्ञापयति कुमारः, ततः समागताविह, श्रुतो युवयोः शब्दः तदनुसारेण गच्छद्भ्यां दृष्टा पदपद्धतिः तथा लक्षितं नरमिथुनं ततो लतागृहके दृष्टौ युवां निरूपितौ कुमारेण कथितं मे लक्षणं निर्दिष्टं च यथाऽयं चक्रवर्तीयं चास्यैव भार्या भविष्यति। तदिदमिहास्यागमनप्रयोजनं, अनुष्ठानं पुनरस्य सर्वं यथा चेष्टितं श्लाघनीयं विदुषामभिमतं लोकानामाह्लादकं बन्धूनामभिरुचितं वयस्यानां स्पृहणीयं मुनीनामपीति, केवलं न प्रतिपन्नमनेनाद्यापि किञ्चिद्दर्शनम्। रत्नचूडेन चिन्तितं–अये! सर्वं सुन्दरमाख्यातमनेन–तदिदमत्र प्राप्तकालं दर्शयाम्यस्य भगवद्बिम्बं, उचितोऽयं तद्दर्शनस्य संपत्स्यतेऽस्य तद्दर्शनेन महानुपकारः, एवं च कुर्वतो ममापि प्रत्युपकारकरणमनोरथः परिपूर्णो भविष्यतीति विचिन्त्याभिहितोऽनेन विमलकुमारः यथा-कुमार! इह क्रीडानन्दने समागतः क्व(कदा) चित्पूर्वं मदीयमातामहो मणिप्रभः। प्रतिभातमिदमतिकमनीयं काननं ततोऽत्र पुनः पुनर्विद्याधराणामवतारणार्थं महाभवनं विधाय प्रतिष्ठितं तेन भगवतो युगादिनाथस्य बिम्बं, अत एव बहुशोऽहमिहागतः पूर्वं ततो ममानुग्रहेण तद्द्रष्टुमर्हति कुमारः। विमलेनोक्तं–यद्वदत्यार्यः, तदाकर्ण्य हृष्टो रत्नचूडः, ततो गता वयं भवनाभिमुखं ततो दृष्टं भगवतो मन्दिरं, तच्च कीदृशम्?–

[युगादिदेवभवने प्रवेश]

विमलस्फटिकच्छायं, स्वर्णराजिविराजितम् । तडिद्वलयसंयुक्तं, शरदम्बुधरोपमम् ॥२०२॥
विलसद्वज्रवैडूर्यपद्मरागमणित्विषा । नष्टान्धकारमम्बन्धमुद्योतितदिगन्तरम् ॥२०३॥

अपि च–लसदच्छाच्छनिर्मलस्फटिकमणिनिर्मितकुट्टिमसंक्रान्तविलसत्तपनीयस्तम्भं स्तम्भविन्यस्तविद्रुमकिरणकदम्बकरक्तमुक्ताफलावचूलं अवचूलविरचितमरकतमयूखश्यामायमानसितचमरनिकरं सितचमरनिकरदण्डचामीकरप्रभापिञ्जरितादर्शमण्डलं आदर्शमण्डलगतविराजमानारुणमणिहारनिकुरम्बं हारनिकुरम्बावलम्बितविशदहाटककिङ्किणीजालमिति । तत्र चैवंविधे भुवननाथस्य भवने प्रविश्य तैरवलोकितं भगवतो युगादिनाथस्य बिम्बं, तच्च–

दिक्षु रेद्धप्रभाजालं, शातकुम्भविनिर्मितम् । शान्तं कान्तं निराटोपं, निर्विकारं मनोहरम् ॥२०४॥

ततः सर्वैरपि विहितो हर्षभरविस्फारिताक्षैः प्रणामः, वन्दितं च विशदानन्दपुलकोद्भेदसुन्दरं वपुर्दधानाभ्यां विधिवच्चूतमञ्जरीरत्नचूडाभ्याम्, तच्चेदृशं सचराचरभुवनबन्धोर्भगवतो बिम्बं निरूपयतो

विमलकुमारस्य सहसा समुल्लसितं जीववीर्यं विदारितं भूरिकर्मजालं वृद्धिमुपगता सद्बुद्धिः प्रादुर्भूतो दृढतरं गुणानुरागः, ततश्चिन्तितमनेन—अहो भगवतोऽस्य देवस्य रूपं अहो सौम्यता अहो निर्विकारता अहो सातिशयत्वं अहो अचिन्त्यमाहात्म्यता, तथाहि—

आकार एव व्याचष्टे, निष्कलङ्को मनोहरः । अनन्तमस्य देवस्य, गुणसम्भारगौरवम् ॥२०५॥
वीतरागो गतद्वेषः, सर्वज्ञः सर्वदर्शनः । सुनिश्चितमयं देवो, निस्वादेवावगम्यते ॥२०६॥
यावत्स चिन्तयत्येवं, मध्यस्थेनान्तरात्मना । विमलः क्षालयन्नुच्चैर्मलमात्मीयचेतसः ॥२०७॥
तावत्तस्य समुत्पन्नं, स्वजातेः स्मरणं तदा । अतीतभवसन्तानवृत्तान्तस्मृतिकारणम् ॥२०८॥ युग्मम् ।
अथ संजातमूर्च्छोऽसावचिन्त्यरसनिर्भरः । पतितो भूतले सद्यः, सर्वेषां कृतसंभ्रमः ॥२०९॥
अथ वायुप्रदानेन, संजातः स्पष्टचेतनः । पृष्टं किमेतदित्येवं, रत्नचूडेन सादरम् ॥२१०॥
ततः प्रादुर्भवद्भक्तिः, स्फुटरोमाञ्चभूषणः । हर्षोत्फुल्लविशालाक्षः, प्रबद्धाञ्जलिसम्पुटः ॥२११॥
विमलो रत्नचूडस्य, गृहीत्वा चरणद्वयम् । आनन्दोदकपूर्णाक्षः, प्रणनाम मुहुर्मुहुः ॥२१२॥
प्राह च--शरीरं जीवितं बन्धुर्नाथो माता पिता गुरुः । देवता परमात्मा च, त्वं मे नास्त्यत्र संशयः ॥२१३॥
येनेदं दर्शनादेव, पापप्रक्षालनक्षमम् । त्वया मे दर्शितं धीर ! सद्बिम्बं भवभेदिनः ॥२१४॥

[विमलस्य सम्यक्त्वोत्पादः]

एतद्धि दर्शयता रत्नचूड ! भवता दर्शितो मे मोक्षमार्गः कृतं परमसौजन्यं छेदिता भववल्ली उन्मूलितं दुःखजालं दत्तं सुखकदम्बकं प्रापितं शिवधामेति । रत्नचूडेनोक्तं—कुमार ! नाहमद्यापि विशेषतोऽवगच्छामि, किमत्र संपन्नं भवतः ? विमलेनोक्तं—आर्य ! संपन्नं मे जातिस्मरणं, स्मृतोऽद्यदिनमिवातीतो भूरिभवसन्तानः, यतः पुनरपि निवेशिता मया भक्तिभरनिर्भरेण भूरिभवेषु वर्तमानेन भगवद्बिम्बे दृष्टिः निर्मलीकृतं सम्यग्ज्ञाननिर्मलजलेन चित्तरत्नं रञ्जितं सम्यग्दर्शनेन मानसं सात्मीकृतं सदनुष्ठानं भावितो भावनाभिरात्मा वासितं तत्साधुपर्युपासनयाऽन्तःकरणं सात्मीभूता मे समस्तभूतेषु मैत्री गतोऽङ्गाङ्गीभावं गुणाधिकेषु प्रमोदः धारितं बहुशश्चित्ते क्लिश्यमानेषु कारुण्यं दृढीभूता दुर्विनीतेषूपेक्षा निश्चलीभूतं वैषयिकसुखदुःखयोरौदासीन्यं तथा परिणतः प्रशमः परिचितः संवेगः चिरसंस्तुतो भवनिर्वेदः प्रगुणिता करुणा अनुगुणितमास्तिक्यं प्रगुणीभूता गुरुभक्तिः क्षेत्रीभूतौ तपःसंयमाविति । ततो यावद्दृष्टं मयेदं भुवनभर्तुर्भगवतो निष्कलङ्कं बिम्बं तावदहं सिक्त इवामृतरसेन पूरित इव रत्या स्वीकृत इव सुखासिकया भृत इव प्रमोदेन । ततः स्फुरित मम हृदये द्रुत—

रागद्वेषभयाज्ञानशोकचिह्नैर्विवर्जितः । प्रशान्तमूर्त्तिर्देवोऽयं, लोचनानन्ददायकः ॥२१५॥
दृश्यमानो यथा धत्ते, ममाह्लादं तथा पुरा । नूनं क्वचिन्मया मन्ये, दृष्टोऽयं परमेश्वरः ॥२१६॥
एवं च चिन्तयन्नेव, लोकातीतं रसान्तरम् । प्रविष्टोऽनुभवद्वारसंवेद्यमतिसुन्दरम् ॥२१७॥
यतो भवात्समारभ्य, प्राप्तं सम्यक्त्वमुत्तमम् । ततः स्मृता मया सर्वे, तदागन्निखिला भवाः ॥२१८॥

तदिदं महात्मन्नत्र मे संपन्नं, अतः कृतं तन्मे भवता यत्परमगुरवः कुर्वन्तीति ब्रुवाणो रत्नचूडचरणयोर्निपतितः पुनर्विमलकुमारः । ततो नरोत्तम ! अलमलमतिसंभ्रमेणेति वदता समुत्थापितोऽसौ

रत्नचूडेन साधर्मिक इति वन्दितः, सविनयं अभिहितं च-कुमार ! संपन्नमधुना मे समीहितं परिपूर्णा मनोरथाः कृतस्ते प्रत्युपकारो यदेवं मादृशजनोऽपि ते परिचिततत्त्वमार्गप्रत्यभिज्ञाने कारणभावं प्रतिपन्न इति, स्थाने च कुमारस्यायं हर्षातिरेकः, यतः-

सत्कलत्रे सुते राज्ये, द्रविणे रत्नसञ्चये। अवाप्ते स्वर्गसौख्ये च, नैव तोषो महात्मनाम् ॥२१९॥
तथाहि-तुच्छानि स्वल्पकालानि, सर्वाणि परमार्थतः। एतानि तेन धीराणां, नैव तोषस्य कारणम् ॥२२०॥
जैनेन्द्रं पुनरासाद्य, मार्गं भीमे भवोदधौ । सुदुर्लभं महात्मानो, जायन्ते हर्षनिर्भराः ॥२२१॥
तथाहि—संप्राप्तस्तत्क्षणादेव, मार्गः सर्वज्ञभाषितः। शमसातामृतास्वादसंवेदनकरो नृणाम् ॥२२२॥
अनन्तानन्दसंपूर्णमोक्षहेतुश्च निश्चितः । अतः सतां कथं नाम, न हर्षोल्लासकारणम् ? ॥२२३॥

अन्यच्च-

सत्त्वानुरूपं वाञ्छन्ति, फलं सर्वेऽपि जन्तवः। श्वा हि तुष्यति पिण्डेन, गजघातेन केसरी॥२२४॥
मूषको व्रीहिमासाद्य, नृत्यत्युत्तालहस्तकः । गजेन्द्रोऽवज्ञया भुङ्क्ते, यत्नदत्तं सुभोजनम् ॥२२५॥
तथा-अदृष्टतत्त्वा ये मूढाः, स्तोकचित्ता मनुष्यकाः। धनराज्यादिकं प्राप्य, जायन्ते ते मदोत्कटाः ॥२२६॥
त्वं तु पूर्वं-चिन्तामणिसमे रत्ने, लब्धे मध्यस्थतां गतः। न लक्षितो मया धीर ! हर्षदोषकलङ्कितः ॥२२७॥
अधुनैवं पुनर्धन्यः, स्फुटरोमाञ्चसुन्दरः । सन्मार्गलाभे तुष्टोऽसि, साधु साधु नरोत्तम ! ॥२२८॥

केवलमत्र जने नैवमतिगुरुत्वमारोपणीयं कुमारेण, किमत्र मया विहितं कुमारस्य ? निमित्तमात्रं अत्र संपन्नोऽहं, स्वयमेव योग्योऽसि त्वमेवंविधकल्याणपरम्परायाः, मयाऽपि हि तावकीनां पात्रतामुपलक्ष्यायं विहितो यत्नः, तथाहि-

स्वयंविज्ञातसद्भावा, लोकान्तिकसुरैस्तदा । यदि नाम प्रबोध्यन्ते, तीर्थनाथाः कथञ्चन ॥२२९॥
तथापि ते सुरास्तेषां, न भान्ति महात्मनाम्। गुरवस्तादृशे पक्षे, द्रष्टव्योऽयं त्वया जनः ॥२३०॥ युग्मम्

[उपकारकीर्त्तन]

विमलेनोक्तं—महात्मन्मा मैवं वोचः न सदृशमिदमस्योदितं भवता, नहि भगवति बोधयितव्ये लोकान्तिकसुराणां निमित्तभावः, भवता तु दर्शयता भगवद्बिम्बं संपादितमेव ममेदं सकलं कल्याणं, इह च-निमित्तमात्रतां योऽपि, धर्मे सर्वज्ञभाषिते । प्रतिपद्येत जीवस्य, स गुरुः पारमार्थिकः ॥२३१॥
एवं मे विदधानस्त्वं, गुरुरेव न संशयः। उचितं तु सतां कर्तुं, सद्गुरोर्विनयादिकम् ॥२३२॥

तस्मादुचितमेवेदं सर्वं तावकोपकारस्येति। किं च-

एषा भगवतामाज्ञा, सामान्यस्यापि सुन्दरम् । कार्यः साधर्मिकस्येह, विनयो वन्दनादिकः ॥२३३॥
कि पुनस्ते महाभाग ! नैवं सद्धर्मदायिनः । युज्यते विनयः कर्तुं, निर्मिथ्यस्यापि सद्गुरोः ॥२३४॥

रत्नचूडेनोक्तं-मा मैवमादिशतु कुमारः, तथाहि-

गुणप्रकर्षरूपस्त्वं, पूजनीयः सुरैरपि । त्वमेव गुरुरस्माकं, तन्नैवं वक्तुमर्हसि ॥२३५॥ विमलेनोक्त-
गुणप्रकर्षरूपाणां, कृतज्ञानां महात्मनाम्। इदमेव स्फुटं लिङ्गं, यद्गुरोर्भक्तिपूजनम् ॥२३६॥
स महात्मा स पुण्यात्मा, स धन्यः स कुलोद्गतः। स धीरः स जगद्वन्द्यः, स तपस्वी स पण्डितः ॥२३७॥

यः किङ्करत्वं प्रेष्यत्वं, कर्मकारत्वमञ्जसा । दासत्वमपि कुर्वाणः, सद्गुरूणां न लज्जते ॥२३८॥
स कायः श्लाघितः पुंसां, यो गुरोर्विनयोद्यतः । सा वाणी या गुरोः स्तोत्री, तन्मनो यद्गुरौ रतम् ॥२३९॥
अनेकभवकोटीभिरुपकारपरैरपि । धर्मोपकारकर्तॄणां निष्क्रयो न विधीयते ॥२४०॥

[विमलस्य दीक्षाग्रहणाभिलाष]

अन्यच्चेदमधुना पर्यालोच्यं भवता सार्धं मया यदुत–विरक्तं तावन्मे भवचारकवासाच्चित्तं गृहीता दुःखात्मकतया विषयाः भावितो लोकोत्तरामृतास्वादरूपतया प्रशमः न स्थातव्यमधुना गृहपञ्जरे ग्रहीतव्या भागवती दीक्षा, केवलं सन्ति मे तातप्रभृतयो बहवो बान्धवाः तेषां कः प्रतिबोधनोपायः स्यात्? एवं हि तेषां मया बन्धुत्वकार्यमाचरितं भवति यदि तेऽपि मन्निमित्तकं भगवद्भाषिते धर्मे प्रतिबुध्यन्ते, नान्यथा । रत्नचूडेनोक्तं—अस्ति बुधो नामाचार्यः, स यदीह कथञ्चिदागच्छेत्ततस्तानपि तव ज्ञातीनवश्यं प्रतिबोधयेत्, स हि भगवान्निधिरतिशयानामाकरश्चित्तज्ञतानैपुण्यस्य, प्रकर्षः प्राणिप्रशमलब्धेरियत्ताभूमिर्वचनविन्यासस्येति । विमलेनोक्तं—आर्य! क्व पुनरसौ दृष्टो बुधसूरिर्भवता? रत्नचूडेनोक्तं—

[बुधसूरिस्वरूपकथनम्]

अत्रैव क्रीडानन्दनेऽस्यैव च भगवद्भवनस्य द्वारभूमिभागे दृष्टोऽसौ मया । यतः समागतोऽहमतीताष्टम्यां सपरिकरो भगवत्पूजनार्थमिह मन्दिरे, प्रविशता च दृष्टं मया बृहत्तपोधनमुनिवृन्दं, तस्य च मध्ये स्थितः कृष्णो वर्णेन बीभत्सो दर्शनेन त्रिकोणेन शिरसा वक्रदीर्घया शिरोधरया चिपिटया नासिकया विरलविकरालेन दशनमण्डलेन लम्बेनोदरेण सर्वथा कुरूपतयोद्वेगहेतुर्दृश्यमानः केवलं परिशुद्धमधुरगम्भीरेण ध्वनिना विशदेन वर्णोच्चारणेनार्थसमर्पिकया गिरा धर्ममाचक्षाणो दृष्टो मयैकस्तपस्वी, संजातश्च मे चेतसि वितर्कः, यथा बत–भगवतो न गुणानुरूपं रूपम् । प्रविष्टोऽहं चैत्यभवने निवेशिता भक्तिसारं भगवद्बिम्बे दृष्टिः अवतारितं निर्माल्यं विधापितं सन्मार्जनं कारितमुपलेपनं विरचिता पूजा विकीर्णः पुष्पप्रकरः प्रज्वालिता मङ्गलप्रदीपाः समुल्लासितः सुगन्धिधूपः निःशेषित पूर्वकरणीयं प्रमार्जितमुपवेशनस्थान न्यस्तानि भूमौ जानुकरतलानि निबद्धा भगवद्वदने दृष्टिः प्रवर्धितः सद्भावनया शुभपरिणामः संजातो भक्त्यतिशयः प्लावितमानन्दोदकबिन्दुनिष्यन्दसन्दोहेन लोचनयुगलं संपन्नं कदम्बकुसुमसन्निभं बृहदानन्दविशदपुलकोद्भेदसुन्दरं मे शरीरं पठितो भावार्थानुस्मरणगर्भं भक्तिनिर्भरतया शक्रस्तवः कृतः पञ्चाङ्गप्रणिपातः निषण्णो भूतले स्तुतः सर्वज्ञप्रणीतप्रवचनोन्नतिकरैर्योगमुद्रया प्रधानस्तोत्रैर्भावसारं भगवान् रञ्जितं भगवद्गुणैरन्तःकरणं विहितो भूयः पञ्चाङ्गप्रणिपातः तदवस्थेनैव वन्दिताः प्रमोदवृद्धिजनकाः सूरिप्रभृतयः समुत्थितो जिनमुद्रया संपादितं चैत्यवन्दनं, तदन्ते कृतं प्रणिधान मुक्ताशुक्तिमुद्रया ।

अत्रान्तरे मत्परिवारेण निर्वर्तितं भगवतो बलिविधानं सज्जीकृतं स्नात्रोपकरणं विस्तारिता विचित्रवस्त्रालङ्कारोल्लोचाः प्रारब्धं सङ्गीतकं समापूरिताः कलकाहलाः चालिताः सुघोषघण्टाः राणितानि कणकणकभाणकानि ध्मानिता दिव्यदुन्दुभयः नादिता मधुरशङ्खाः वादिताः पटुपटहाः आस्फालिता घर्घरिकया मृदङ्गाः समुच्छलितानि कंसालकानि विजृम्भितः स्तोत्ररवः प्रवर्तितो मन्त्रजापः विमुक्तं कुसुमवर्षं झणझणायिता मधुपावली अभिषेचितं महार्हरसगन्धौषधिसत्तीर्थोदकैर्विधिना जगज्जीवबन्धोर्भगवतो बिम्ब प्रवृत्ता मन्थरं चूतमञ्जरी विलसितमुद्दामानन्दोचितं शेषविलासिनीजनेन दत्तानि महादानानि कृतमुचितकरणीयम् । एवं महता विमर्देन विधाय भगवदभिषेकपूजनं निर्गतोऽहं साधुवन्दनार्थं

यावत्तावत्तथैव तस्य सुसाधुवृन्दस्य मध्ये स्थितः स तपस्वी निविष्टः कनककमले रतिविरहित इव मकरकेतनो रोहिणीवियोजित इव मृगलाञ्छनः शचीविनाकृत इव पुरन्दरः उत्तमकार्तस्वरभास्वरेणाकारेण उल्लसन्महाप्रभाप्रवाह उल्लसद्देहप्रभाप्रवाहः पिञ्जरितमुनिमण्डलः कूर्म्मोन्नतेन चरणतलेन गूढशिराजालेन प्रशस्तलाञ्छनलाञ्छितेन दर्प्पणाकारनखेन सुश्लिष्टाङ्गुलिना चरणयुगलेन वरकराकारेण जङ्घोरुद्वयेन कठिनपीनसुवृत्तविस्तीर्णेन केसरिकिशोरलीलाविडम्बनाकटीतटेन त्रुटितमनोहरेणोदरदेशेन विशालेन वक्षःस्थलेन प्रलम्बेन भुजदण्डयुगलेन मत्तमहेभकुम्भास्फालनसहाभ्यां कराभ्यां त्रिवलिविराजितेन कण्ठेनाधरितशशधरारविन्दशोभेन वदनेन उत्तुङ्गसुसंस्थितेन नासावंशेन सुश्लिष्टमांसप्रलम्बेन कर्णयुगलेनापहसितकुवलयदलाभ्यां लोचनाभ्यां महतसमया स्फुरत्किरणजालरंजिताधरपुटया दन्तपद्धत्या सुश्लिष्टाष्टमीशशधरसन्निभेन ललाटपट्टेन अधस्तनावयवचूडामणिनोत्तमाङ्गभावेन, किं बहुना ? सर्वथोपमाऽतीतरूपधारी दृष्टोऽसौ मया तथैव धर्म्ममाचक्षाणः, प्रत्यभिज्ञातश्च तेन पूर्वावधारितेन ध्वनिना, संजातो मे मनसि विस्मयः ।

[बुधसूरिरूपपरावर्त्त]

ततश्चिन्तितं मया—अये ! स एवायं तपस्वी कथं पुनरीदृशकमनीयरूपः क्षणादेव संपन्न इति । अथवा किमत्राश्चर्यं ? निवेदितं मे पूर्वं धर्मगुरुणा चन्दनेन, यथा—भवन्ति भगवतां सुसाधूनां लब्धयः, तन्माहात्म्येन च भवन्त्येते यथेच्छया विविधरूपधारिणो जायन्ते परमाणुवत्सूक्ष्माः संपद्यन्ते पर्वतवद्गुरवः वर्त्तन्ते अर्कतूलवल्लघवः पूरयन्ति स्वदेहविस्तारेण भुवनं आज्ञापयन्ति किङ्करमिव देवेश्वरं निमज्जन्ति कठिनशिलातले कुर्वन्त्येकघटाद्घटशतसहस्रं दर्शयन्त्येकपटात्पटशतसहस्रं आकर्णयन्ति सर्वाङ्गोपाङ्गैः हरन्ति स्पर्शमात्रेण निःशेषरोगगणं गच्छन्ति पवनवद् गगने सर्वथा नास्ति किञ्चिदसाध्यमेतेषां भगवतां सुसाधूनां, प्राप्तलब्धयो ह्येते सर्वस्य करणपटवो भवन्ति । अतोऽयं मुनिसत्तमः पूर्वं तथा कुरूपो मया दृष्टः अधुना पुनरेवंविधरूपधारी दृश्यते तन्नूनं प्राप्तलब्धिरेष भगवानित्यहो भगवतोऽतिशयः ।

ततः प्रहृष्टचेतसा वन्दितो मया भगवानन्यमुनयश्च, अभिनन्दितोऽहं सर्वैः स्वर्गापवर्गमार्गसंसर्गनिसर्गहेतुना धर्मलाभेन निविष्टो भूतले श्रुता चामृतकल्पा आक्षेपकारिणी भव्यचित्तानां विक्षेपजननी विषयाभिलाषस्य अभिलाषोत्पादनी शिवसुखे निर्वेदसंपादनी भवप्रपञ्चे बाधनी विमार्गस्य भगवतो धर्मदेशना, रञ्जितोऽहं तस्य गुणप्राग्भारेण, पृष्टश्च निकटोपविष्टः शनैरेको मुनिर्मया, यदुत—कोऽयं भगवान् किंनामा कुत्रत्यो वेति ? तेनोक्तं—सूरिरेष गुरुरस्माकं बुधो नाम, स धरातलपुरवास्तव्यस्तदधिपतेरेव शुभविपाकनृपतेस्तनयो निजसाधुतानन्दनस्तृणवदपहाय राज्यं निष्क्रान्तः साम्प्रतमनियतविहारेण विहरतीति । ततोऽहमाकर्ण्य तच्चरितं दृष्ट्वा तदतिशयं निरीक्ष्य रूपं श्रुत्वा धर्मदेशनाकौशलं संचिन्त्य च हृदये यथाऽहो रत्नाकरकल्पमिदं भगवतां दर्शनं यत्रैवंविधानि पुरुषरत्नान्युपलभ्यन्ते, ततः संजातो भगवदर्हत्प्रणीते मार्गे मेरुशिखरवन्निष्प्रकम्पः स्थिरीभूतश्च धर्मे तेनैव बुधसूरिदर्शनेन मदीयः सर्वोऽपि परिकरः, ततोऽभिवन्द्य भगवन्तं गतोऽहं स्वस्थानं, भगवानपि क्वचिदन्यत्र विहरतीति । तेनाहं ब्रवीमि यद्यसौ बुधसूरिरागच्छेत्ततस्ते बन्धुवर्गं बोधयति, परोपकारकरणैकव्यसनी हि स भगवान्, यतस्तदापि मम मत्परिकरस्य च सद्धर्मे स्थैर्यार्थं विहितं तेन तत्तादृशं वैक्रियरूपमिति । विमलेनोक्तं—आर्य ! सोऽपि कथञ्चिदिहागमनाय भवतैवाभ्यर्थनीयः, रत्नचूडेनोक्तं—यदादिशति कुमारः केवलमस्मद्वियोगेन साम्प्रतं विधुरस्तातो विसंस्थुलाऽम्बा

वर्त्तते तद्गच्छामि तावदहं तयोः संधीरणार्थं स्वस्थाने, ततः करिष्यामि युष्मदादेशं, नात्र कुमारेण विकल्पो विधेय इति । विमलेनोक्तं--आर्य ! किं गन्तव्यं ? । रत्नचूडः प्राह कुमार !--

[विमलाद्वियोगो रत्नचूडस्य]

युष्मत्सङ्गामृतक्षोदलब्धास्वादस्य मेऽधुना गन्तव्यमिति वक्तव्ये, भारती न प्रवर्तते ॥२४१॥
तथाहि--जडोऽपि सज्जने दृष्टे, जायते तोषनिर्भरः । उदिते विकसत्येव, शशाङ्के कुमुदाकरः ॥२४२॥
स तत्र क्षणमात्रेण, प्रीतिसंबद्धमानसः । जीवन्नेव न तं मुक्त्वा, नूनमन्यत्र गच्छति ॥२४३॥
किं च---संसारेऽनन्तदुःखौघपूरितेऽप्यमृतं परम् । इदमेकं बुधैरुक्तं, यत्सद्भिश्चित्तमीलनम् ॥२४४॥
कोऽर्घं कर्तुं समर्थोऽत्र, सतां सङ्गस्य भूतले । यदि (चेत्) तद्विघटने हेतुर्न स्याद्विरहमुद्गरः ॥२४५॥
चिन्तामणिमहारत्नममृतं कल्पपादपम् । स दृष्टं संत्यजेन्मूढः, सज्जनं यो विमुञ्चति ॥२४६॥
कुमारविरहोत्त्रासाज्जिह्वा लगति तालुके । तत्रापि पुरतो मेऽद्य, गन्तव्यमिति जल्पतः ॥२४७॥
इदं वज्राशनेस्तुल्यमिदमत्यन्तनिष्ठुरम् । यन्मे भवादृशामग्रे, गच्छाम इति जल्पनम् ॥२४८॥
तथापि—तातामाचित्तसन्तापरूपं संचिन्त्य कारणम् । महद्गन्तव्यमेवेति, मयेदमभिधीयते ॥२४९॥

विमलेनोक्तं–आर्य ! यद्येवं ततो गम्यतां भवता, केवलं न विस्मरणीयमिदमार्येण मदीयमभ्यर्थनं आनेतव्यः स कथञ्चिदत्र बुधसूरिरिति । रत्नचूडेनोक्तं--कुमार ! -कोऽत्र विकल्पः ? ततो भाविसुजनदर्शनविच्छेदकातरहृदया चूतमञ्जरी सबाष्पगद्गदया गिरा विमलं प्रत्याह–कुमार ! -

सहोदरोऽसि मे भ्राता, देवरोऽसि नरोत्तम ! । शरीरं जीवितं नाथस्त्वं मे भवसि सुन्दर ! ॥२५०॥
तदेष गुणहीनोऽपि, स्मरणीयः क्वचिज्जनः । भवादृशां महाभाग ! धन्या हि स्मृतिगोचरे ॥२५१॥
विमलेनोक्तं–आर्य !–
गुरुश्च गुरुपत्नी च, यदि न स्मृतिगोचरे । ततो मे कीदृशो धर्मः, किं वा सौजन्यमुच्यताम् ? ॥२५२॥

एवं च कृत्वा मयापि सह सम्भाषणं गतौ चूतमञ्जरीरत्नचूडौ । मम पुनरगृहीतसंकेते ! भद्रे समाकर्णयतोऽपि तथा विमलरत्नचूडयोः सम्बन्धिनं धर्मजल्पं गुरुकर्मतया दूरभव्यतया च मत्तस्येव सुप्तस्येव विक्षिप्तचित्तस्येव मूर्च्छितस्येव प्रोषितस्येव मृतस्येव न तदा परिणतमेकमपि धर्मपदं हृदये वज्रशिलाशकलघटितमिव मनागपि न द्रावितं जिनवचनामृतरससेकेनापि चित्तम् । ततो विशेषतः संस्तुत्य भगवन्तं निर्गतश्चैत्यभवनान्मया सहितो विमलः । ततोऽभिहितमनेन--वयस्य वामदेव ! यदिदं रत्नचूडेन मह्यं दत्तं रत्नं महाप्रभावमिदमाख्यातं तेन ततः कदाचिदिदमुपयुज्यते क्वचिन्महति प्रयोजने मम च नास्थाऽधुना रत्नादिके ततो गृहीतमिदमनादरेण कथञ्चिन्नङ्क्षयति तस्मादत्रैव कुत्रचित्प्रदेशे निधाय गच्छाव इति । मयोक्तं--यदादिशति कुमारः, ततो विमोच्य वस्त्राञ्चलं समर्पितं तद्रत्नं मे विमलेन, निखातं मयैकत्र भूप्रदेशे कृतो निरुपलक्ष्यः स प्रदेशः, प्रविष्टौ नगरे, गतोऽहं स्वभवने कृतः स्तेयबहुलिकाभ्यां मम शरीरेऽनुप्रवेशः, ततश्चिन्तितं मया--तद्रत्नं रत्नचूडेन, सर्वकार्यकरं परम् । निवेदितं समक्षं मे, तुल्यं चिन्तामणेर्गुणैः ॥२५३॥
तत्तादृशमनर्घेयं, रत्नं को नाम मुञ्चति ? । हरामि त्वरितं गत्वा, किं ममापरचिन्तया ? ॥२५४॥

ततोऽवलम्ब्य जघन्यतां विस्मृत्य विमलस्नेहं अविगणय्य सद्भावार्पणं अपर्यालोच्यायतिं अनाकलय्य महापापं अविचार्य कार्याकार्यं अधिष्ठितः स्तेयबहुलिकाभ्यां गतोऽहं तं प्रदेशं उत्खातं तद्रत्नं

निखातमन्यत्र प्रदेशे, चिन्तितं च मया कदाचिदधुनैवागच्छति विमलः ततो रिक्तेऽस्मिन्दृष्टे प्रदेशे भवेदस्य विकल्पो यथा वामदेवेन गृहीतं तद्रत्नं यदि पुनरत्र प्रदेशे यथेदं कर्पटावगुण्ठितं निखातं तथैवान्यः तत्प्रमाणः पाषाणो निखन्यते ततो विमलस्य तं दृष्ट्वा भवेदेवंविधो वितर्कः यथा तद्रत्नं ममैवापुण्यैरेवं पाषाणीभूतमिति. एवं च विचिन्त्य मया निखातस्तत्प्रमाणः कर्पटावगुण्ठितस्तत्र प्रदेशे पाषाणः, समागतो गृहं लङ्घितं तद्दिनं समायाता रजनी स्थितोऽहं पर्यङ्के।

[वामदेवकृतो रत्नापहार]

समुत्पन्ना मे चिन्ता-अये विरूपकं मया कृतं यन्नानीतं तद्रत्नं दृष्टः केनचिदह तथा कुर्वाणः ग्रहीष्यति कश्चिदन्यस्तद्रत्न तदधुना किं करोमीति वितर्ककल्लोलमालाकुलितचित्तवृत्तेश्चित्तगतापेन विनिद्रस्यैवातीता सर्वाऽपि शर्वरी। प्रभाते च समुत्थायातित्वरितं गतोऽहं पुनस्तं प्रदेशम्। इतश्च समागतो मद्भवने विमलः न दृष्टोऽहमनेन पृष्टो मत्परिजनः क्व वामदेव इति, कथितमन्येन यथा क्रीडानन्दनोद्यानाभिमुखं गत इति। ततः समागतो ममानुमार्गेण विमलः, स चागच्छन् दूरे दृष्टो मया. ततः संजाता ममाकुलता विस्मृतो रत्नप्रदेशः समुत्खातः पाषाणो गोपितः कटीपश्यां कृतो निरुपलक्षः स प्रदेशः गतोऽहमन्यत्र गहनान्तरे संप्राप्तो विमलः दृष्टोऽहमनेन लक्षितो भयतरललोचनः, ततोऽभिहितमनेन-वयस्य ! वामदेव किमेकाकी त्वमिहागतः ? किं वा भीतोऽसि ? मयोक्तं-श्रुतः प्रभाते मया त्वमिहागतः तेनाहमप्यागतः ततो न दृष्टस्त्वमत्र तेन संजातो मम हृदये त्रासः क्व कुमारो गत इति चिन्तया साम्प्रतं तु त्वयि दृष्टे यदि परं स्वस्थो भविष्यामीति, विमलेनोक्तं-यद्येवं ततः सुन्दरमिदं संपन्नं यदिहागतौ साम्प्रतं गच्छावो भगवद्भवने। मयोक्तं-एवं भवतु।

ततो गतौ जिनमंदिरे प्रविष्टोऽभ्यन्तरे विमलः स्थितोऽहं द्वारदेशे, चिन्तितं मया-नूनं विज्ञातोऽहमनेन ततो नश्यामि त्वरितं इतरथा ममेदमेष रत्नमुद्दालयिष्यति न चात्र पुरे तिष्ठतो ममास्त्यस्मान्मोक्षः अतः 'पतामि निर्देश इति, ततः पलायितोऽहं वेगेन क्रान्तो बहुविषयं ऊढस्त्रीणि रात्रिन्दिनानि गतोऽष्टाविंशतिं योजनानि छोटितो रत्नग्रन्थिः दृष्टो निष्ठुरपाषाणः ततो हा हतोऽस्मीति गतो मूर्च्छां, लब्धा कृच्छ्रेण चेतना गृहीतः पश्चात्तापेन प्रारब्धः पलायितुं भ्रष्टोऽहं कथंचित्ततः स्थानात् तत्पुनर्गृह्णामीत्यभिप्रायेण वलितः स्वदेशाभिमुखम्। इतश्च जिनसदनान्निर्गतेन न दृष्टोऽह विमलेन, ततः संजाता विमलस्य चिन्ता-क्व पुनर्गतो वामदेव इति, गवेषितः सर्वत्र कानने न चोपलब्धः, ततो भवने पुरे च सर्वत्र गवेषितो यावत्तत्रापि न दृष्ट', ततः सर्वदिक्षु प्रहिता ममान्वेषकपुरुषाः, प्राप्तोऽहमेकैः भीतस्तेभ्यः, अभिहितस्तैः यथा वामदेव! शोकार्त्तस्त्वद्वियोगेन विमलो वर्तते वयमानेतारस्तवानेन प्रहितास्तेन गम्यतामिति। ततो मया चिन्तितं-अये! न लक्षितोऽहं विमलेन, ततो विगतं मे भयं नीतोऽहं तैर्विमलसमीपे दृष्टो विमलेन ममालिङ्गितः स्नेहेन मुक्तमुभाभ्यां नयनैर्विमलसलिलं, किं तु मया कपटेन प्रियमीलकमुदा विमलेन, निवेशितोऽहमर्धासने, अभिहितश्चानेन-वयस्य ! वामदेव वर्णय किमनुभूतं भवता ? मयोक्तं-कुमाराकर्णय अस्ति तावत्प्रविष्टस्त्वं जिनमन्दिरे, ततो यावत्तत्र किलाहमपि प्रविशामि तावद्दृष्टा मया तूर्णमागच्छन्ती गगनतलेऽम्बरचरी, सा च कीदृशी-

---

(१)-गच्छामि परदेशे।

प्रकाशयन्ती दिक्चक्रं, रूपलावण्यशालिनी । आकृष्टकरवाला च, यमजिह्वेव भीषणा ॥२५५॥

ततस्तां दृष्ट्वा यावदहमभिलापोत्त्राससंकीर्णं रसान्तरमनुभवामि तावदुत्पाटितस्तया नेतुमारब्धो गगनमार्गेण, ततोऽहं—

हा कुमार कुमारेति, रटन्नुच्चैः सुविह्वलः । नीत एव तया दूरं, भो विद्याधरयोषिता ॥२५६॥
किं च—पयोधरभरेणोच्चैः, सस्नेहमवगूहितः । चुम्बितश्च बलाद्वक्त्रे, प्रार्थितो रतकाम्यया ॥२५७॥
तथा रक्तापि सा बाला, विषरूपा प्रभासते । कुमार ! वरमित्रेण, त्वया विरहितस्य मे ॥२५८॥

चिन्तितं च तदा मया, यदुत—

अनुरक्ता सुरूपा च, यद्यप्येषा तथापि मे । वरमित्रवियुक्तस्य, न सुखाय प्रकल्पते ॥२५९॥

अत्रान्तरे समायाताऽन्याऽम्बरचरी विलोकितोऽहमनया गता साऽपि मय्यभिलाषं प्रवृत्ता चोद्दालने, ततश्च—आः पापे कुत्र यासीति, शब्दसन्दर्भभीषणम् । जातं परस्पर युद्धं, तयोः खचरयोषितोः ॥२६०॥

ततो व्याकुलितायां निश्चुटितोऽहं हस्तात्पतितो भूतले चूर्णितो गात्रभारेण, चिन्तितं मया— यद्यपि दलितोऽहं न शक्नोमि वेदनया नष्टुं तथापि यावदनयोरेका न गृह्णाति मां तावन्नश्यामि येन जीवन्नेव विमलकुमारवरवयस्यं पश्यामि, ततः पलायितोऽहं त्वरया दृष्टश्चामीभिर्मनुष्यैः प्रापितः कुमारसमीपं, तदिदं कुमार ! मयाऽनुभूतमिति । तच्छ्रुत्वा रञ्जितो विमलो मदीयनिष्कृत्रिमस्नेहेन, हृष्टा मेऽन्तर्गता बहुलिका किल प्रत्यायितोऽयं मया विमलो मुग्धबुद्धिरिति ।

[वामदेवे रुष्टा देवी]

अत्रान्तरे ग्रस्त इव मकरेण दलित इव वज्रेण समाघ्रात इव कृतान्तेन न जाने कां प्राप्तोऽहमवस्थां ? यतः—समुन्मूलयदिवान्त्राणि मे प्रादुर्भूतमुदरशूलं उत्पाटयन्तीव लोचने प्रवृद्धा शिरोवेदना प्रकम्पितानि सन्धिबन्धनानि प्रचलितं रदनजालं समुल्लसितः श्वाससमीरणः भग्ने नयने निरुद्धा भारती, समाकुलीभूतो विमलः कृतो हाहारवः समागतो धवलराजः मिलितो जनसमूहः समाहूतं वैद्यमण्डलं प्रयुक्तानि भेषजानि न संजातो विशेषः स्मृतं विमलस्य तद्रत्नं अयमवसरस्तस्येति मत्वा गतो वेगेन तत्प्रदेशं निरूपितं यत्नेन यावन्न दृश्यते तद्रत्नं ततो जाता विमलस्य मदीयचिन्ता—कथमसौ जीविष्यति ? ततः समागतो मम समीपे । अत्रान्तरे विजृम्भितैका वृद्धनारी मोटितमनया शरीरं उद्वेल्लितं भुजयुगलं मुत्कलीभूताः केशाः कृतं विकरालरूपं मुक्ताः फेत्काररावाः वल्गितमुद्दामदेहया, भीतः सराजको जनः । ततो विधाय पूजामुत्पाद्य धूपं पृष्टाऽसौ—भट्टारिके ! का त्वमसीति, सा प्राह—वनदेवताऽहं, मयाऽयमेवं विहितो वामदेवो, यतोऽनेन पापेन सद्भावप्रतिपन्नोऽपि वञ्चितोऽयं सरलो विमलः, हृतमस्य रत्नं, निखातमन्यप्रदेशे, पुनर्गृहीत्वा नष्टः, पुनरानीतेन रचितमालजालं, एवं च कथितं तया वनदेवतया सविस्तरं मदीयं विलसितं, दर्शितं तत्र प्रदेशे रत्नं, आह च—तदेष मया चूर्णनीयो दुष्टात्मा वामदेवः ।

[विमलकारिता मुक्तिः]

विमलेनोक्तं—सुन्दरि ! मा मैवं कार्षीः, महानेवं क्रियमाणे मम चित्तसन्तापः संपद्यते । ततो विमलाभ्यर्थनया मुक्तोऽहं वनदेवतया, निन्दितोऽहं लोकेन धिक्कारितः शिष्टजनेन हसितो बालसार्थेन बहिष्कृतः स्वजनवर्गेण जातस्तृणादपि जनमध्ये लघुतरोऽहमिति, तथापि महानुभाव-

तया विमलो मामवलोकयति चिरन्तनस्थित्या न दर्शयति विप्रियं न मुञ्चति स्नेहभावं न शिथिलयति प्रमादं न रहयति मां क्षणमप्येकं, वदति च--वयस्य ! वामदेव न भवता मनागप्यज्ञजनवचनैश्चित्तोद्वेगो विधेयः, यतो दुराराधोऽयं लोकः, ततो भवादृशामेष केवलमवधीरणामर्हतीति । न च न प्रतीतं तस्य महात्मनो विमलस्य तदा मदीयचरितं, तथापि -

अहं बहुलिकादोषात्तादृशो दुष्टचेष्टितः । स तादृशो महाभागस्तत्रेदं विद्धि कारणम् ॥१॥
वारुण्यामुदयं गच्छेदस्तं प्राच्यां दिवाकरः । लङ्घयेच्च स्वमर्यादां, यद्वा क्षीरमहार्णवः ॥२॥
अथवा—वह्निपिण्डोऽपि जायेत, कदाचिद्धिमशीतलः । अलाबुवत्तरेन्नीरे, निक्षिप्तो मेरुपर्वतः ॥३॥
निर्व्याजस्नेहकारुण्यः, महादाक्षिण्यमहोदधिः । तथापि सुजनो भद्रे ! प्रतिपन्नं न मुञ्चति ॥४॥ त्रिभिर्विशेषकम् ।
अन्यच्च—
जानन्नपि न जानीते, पश्यन्नपि न पश्यति । न श्रद्धत्ते च शुद्धात्मा, सज्जन खलचेष्टितम् ॥५॥
ततोऽहं बन्धुभिस्त्यक्तो, लोके सजातलाघवः । विचरामि तदा सार्धं, विमलेन महात्मना ॥६॥
अथान्यदा मया युक्तो, विमलो विमलेक्षणः । संप्राप्तस्तत्र जैनेन्द्रमन्दिरे वन्दनेच्छया ॥७॥
विधायाशेषकर्तव्यं, प्रणिपत्य जिनेश्वरम् । अथासौ स्तोतुमारब्धो, विमलः कलया गिरा ॥८॥

[रत्नचूडागमनम्]

अत्रान्तरे लसद्दीप्तिर्विद्योतितदिगन्तरः । स **रत्नचूडः** संप्राप्तः, खचरैः परिवेष्टितः ॥९॥
अथासौ मधुरध्वानमाकर्ण्य श्रुतिपेशलम् । ततः संचिन्तयत्येवं, **रत्नचूडः** प्रमोदितः ॥१०॥
—अये ! स स्तौति धन्यात्मा, विमलो जन्तुबान्धवम् । भगवन्तं महाभागं, तत्तावच्छ्रूयतामिदम् ॥११॥
ततो निभृतसञ्चारो, मूकीकृत्य स्वखेचरान् । सहैव **चूतमञ्जर्या**, चित्रन्यस्त इव स्थितः ॥१२॥
अथ गम्भीरनिर्घोषः, स्फुटकण्टकभूषणः । आनन्दोदकपूर्णाक्षः, क्षिप्तदृष्टिर्जिनानने ॥१३॥
सद्भक्त्यावेशयोगेन, साक्षादिव पुरः स्थितम् । जिनेशं परमात्मानं, भगवन्तं सनातनम् ॥१४॥
सोपालम्भं सविश्रम्भं, सस्नेहं प्रणयान्वितम् । ततः संस्तोतुमारब्धो, विमलोऽमलमानसः॥१५ ।त्रिभिर्विशेषकम् ।

[विमलकृता स्तुति]

अपारघोरसंसारनिमग्नजनतारक ! । किमेष घोरसंसारे, नाथ ! ते विस्मृतो जनः ? ॥१६॥
सद्भावप्रतिपन्नस्य, तारणे लोकबान्धव ! । त्वयाऽस्य भुवनानन्द ! येनाद्यापि विलम्ब्यते ॥१७॥
आपन्नशरणे हीने, करुणामृतसागर ! । न युक्तमीदृशं कर्तुं, जने नाथ ! भवादृशाम् ॥१८॥
भीमेऽहं भवकान्तारे, मृगशावकसन्निभः । विमुक्तो भवता नाथ ! किमेकाकी दयालुना ? ॥१९॥
इतश्चेतश्च निक्षिप्तचक्षुस्तरलतारकः । निरालम्बो भयेनैव, विनश्येऽहं त्वया विना ॥२०॥
अनन्तवीर्यसम्भार ! जगदालम्बदायक ! । विधेहि निर्भयं नाथ ! मामुत्तार्य भवाटवीम् ॥२१॥
न भास्करादृते नाथ ! कमलाकरबोधनम् । यथा तथा जगन्नेत्र ! त्वदृते नास्ति निर्वृतिः ॥२२।
किमेष कर्मणां दोषः ? किं ममैव दुरात्मनः ? । किं वाऽस्य हतकालस्य ? किं वा मे नास्ति भव्यता ? ॥२३।
किं वा सद्भक्तिनिर्ग्राह्य ! सद्भक्तिस्त्वयि तादृशी । निश्चलाऽद्यापि संपन्ना ? न मे भुवनभूषण ! ॥२४॥
लीलादलितनिःशेषकर्मजाल ! कृपापर ! । मुक्तिमर्थयते नाथ ! येनाद्यापि न दीयते ॥२५॥

त्रिभिर्विशेषक्रम् । स्फुटं च जगदालम्ब ! नाथेदं ते निवेद्यते । नास्तीह शरणं लोके, भगवन्तं विमुच्य मे ॥२६॥
त्वं माता त्वं पिता बन्धुस्त्वं स्वामी त्वं च मे गुरुः । त्वमेव जगदानन्द ! जीवितं जीवितेश्वर ! ॥२७॥
त्वयाऽवधीरितो नाथ ! मीनवज्जलवर्जिते । निराशो दैन्यमालम्ब्य, म्रियेऽहं जगतीतले ॥२८॥
स्वसंवेदनसिद्धं मे, निश्चलं त्वयि मानसम् । साक्षाद्भूतान्यभावस्य, यद्वा किं ते निवेद्यताम् ? ॥२९॥
मच्चित्तं पद्मवन्नाथ ! दृष्टे भुवनभास्करे । त्वयीह विकसत्येव, विदलत्कर्मकोशकम् ॥३०॥
अनन्तजन्तुसन्तानव्यापाराक्षणिकस्य ते । ममोपरि जगन्नाथ ! न जाने कीदृशी दया ? ॥३१॥
समुन्नते जगन्नाथ ! त्वयि सद्धर्मनीरदे । नृत्यत्येष मयूराभो, मद्दोर्दण्डशिखण्डिकः ॥३२॥
तदस्य किमियं भक्तिः ? किमुन्मादोऽयमीदृशः ? । दीयतां वचनं नाथ ! कृपया मे निवेद्यताम् ॥३३॥
मञ्जरीराजिते नाथ ! सच्चूते कलकोकिलः । यथा दृष्टे भवत्येव, लसत्कलकलाकुलः ॥३४॥
तथैष सरसानन्दबिन्दुसन्दोहदायक ! । त्वयि दृष्टे भवत्येवं, मूर्खोऽपि मुखरो जनः ॥३५॥
तदेनं माऽवमन्येथा, नाथासंबद्धभाषिणम् । मत्वा जडं जगज्ज्येष्ठ ! सन्तो हि नतवत्सलाः ॥३६॥
किं बालोऽलीकवाचाल, आलजालं लपन्नपि । न जायते जगन्नाथ ! पितुरानन्दवर्धकः ॥३७॥
तथाऽश्लीलाक्षरोल्लापजल्पाकोऽयं जनस्तव । किञ्चिद् वर्धयते नाथ ! तोषं किं नेति कथ्यताम् ? ॥३८॥
अनाद्यभ्यासयोगेन, विषयाशुचिकर्दमे । गर्ते सूकरसंकाशं, याति मे चटुलं मनः ॥३९॥
न चाहं नाथ ! शक्नोमि, तन्निवारयितुं चलम् । अतः प्रसीद तद्देव ! देव ! वारय वारय ॥४०॥
किं ममापि विकल्पोऽस्ति ? नाथ ! तावकशासने । येनैवं लपतोऽधीश ! नोत्तरं मम दीयते ॥४१॥
आरूढमियती कोटीं, तव किङ्करतां गतम् । मामप्येतेऽनुधावन्ति, किमद्यापि परीषहाः ? ॥४२॥
किं चामी प्रणताशेषजनवीर्यविधायक ! । उपसर्गा ममाद्यापि, पृष्ठं मुञ्चन्ति नो खलाः ॥४३॥
पश्यन्नपि जगत्सर्वं, नाथ ! मां पुरतः स्थितम् । कषायारातिवर्गेण, किं न पश्यसि पीडितम् ? ॥४४॥
कषायाभिद्रुतं वीक्ष्य, मां हि कारुणिकस्य ते । विमोचने समर्थस्य नोपेक्षा नाथ ! युज्यते ॥४५॥
विलोकिते महाभाग ! त्वयि संसारपारगे । आसितुं क्षणमप्येकं, संसारे नास्ति मे रतिः ॥४६॥
किं तु किं करवाणीह ? नाथ ! मामेष दारुणः । आन्तरो रिपुसङ्घातः, प्रतिबध्नाति सत्वरम् ॥४७॥
विधाय मयि कारुण्यं, तदेनं विनिवारय । उद्दामलीलया नाथ ! येनागच्छामि तेऽन्तिके ॥४८॥
तवायत्तो भवो धीर ! भवोत्तारोऽपि ते वशः । एवं व्यवस्थिते किं वा स्थीयते ? परमेश्वर ! ॥४९॥
तद्दीयतां भवोत्तारो, मा विलम्बो विधीयताम् । नाथ ! निर्गतिकोल्लापं, न शृण्वन्ति भवादृशाः ? ॥५०॥
इत्येवं विमलो यावत्सद्भावार्पितमानसः । भुवननाथमभिष्टुत्य, पञ्चाङ्गप्रणतिं गतः ॥५१॥
तावदुल्लासितानन्दपुलकोद्भेदसुन्दरः । सतुष्टस्तस्य भारत्या, रत्नचूडः सखेचरः ॥५२॥ युग्मम्॥

[रत्नचूडेनाभिनन्दनप्रदानम्]

साधु साधु कृतं धीर ! स्तवनं भवभेदिनः । त्वयेत्येवं ब्रुवाणोऽसौ, प्रादुरासीत्तदा पुरः ॥५३॥
धन्यस्त्वं कृतकृत्यस्त्वं, जातोऽसि त्वं महीतले । यस्येदृशी महाभाग ! भक्तिर्भुवनबान्धवे ॥५४॥
मुक्त एवासि संसारान्निश्चितस्त्वं नरोत्तम ! । प्राप्य चिन्तामणिं नैव, नरो दारिद्र्यमर्हति ॥५५॥
एवं च कलवाक्येन, विमलं खचराधिपः । अभिनन्द्य ततो नाथं, वन्दित्वा भक्तिनिर्भरः ॥५६॥

तदन्ते विमलस्योच्चैर्वन्दनं प्रविधाय सः । प्रथमं वन्दितस्तेन, निविष्टः शुद्धभूतले ॥५७॥
ततो विहितकर्तव्या, निषण्णा चूतमञ्जरी । विद्याधरनरेन्द्राश्च, निषण्णा नतमस्तकाः ॥५८॥
अथ पृष्टतनूदन्तौ, जाततोषौ परस्परम् । विमलो रत्नचूडश्च, सम्भाषं कर्तुमुद्यतौ ॥५९॥
उक्तं च रत्नचूडेन, महाभाग! निशम्यताम् । हेतुना येन संजातं, मम कालविलम्बनम् ॥६०॥
नानीतो भवदादिष्टः, स सूरिर्बुधनामकः । तत्रापि कारणं किञ्चिन्महाभाग! निशामय ॥६१॥

[रत्नचूडस्य विद्याधरेन्द्रता]

इतो गतोऽहं वैताढ्ये दृष्टाऽम्बा शोकविह्वला । तातश्च मद्वियोगेन, तौ च संधीरितौ मया ॥६२॥
अथातीते दिने तस्मिन्, सद्धर्मानन्दबन्धुरे । रात्रौ स्थितोऽहं शय्यायां, कृतदेवनमस्कृतिः ॥६३॥
ध्यायतः परमात्मानं, भगवन्तं जिनेश्वरम् । समागता च मे निद्रा, द्रव्यतो न तु भावतः ॥६४॥
तावद् भो भो महाभाग! भुवनेश्वरभक्तक! । उत्तिष्ठेति गिरं शृण्वन्, विबुद्धोऽहं मनोहराम् ॥६५॥
अथ विद्योतिताशेषदिक्चक्रप्रतिभास्वराः । तदाऽहं पुरतः साक्षात्पश्यामि बहुदेवताः ॥६६॥
ततः ससम्भ्रमोत्थानविहितातुलपूजनम् । ताभिर्मां श्लाघयन्तीभिरिदमुक्तं वचस्तदा ॥६७॥
धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि, पूजनीयोऽसि मादृशाम् । यस्य भागवतो धर्म, स्थिरस्ते नरसत्तम! ॥६८॥
रोहिण्याद्या वयं विद्यास्तव पुण्येन चोदिताः । सर्वास्ते योग्यतां मत्वा, समायाताः स्वयंवराः ॥६९॥
आवर्जिता गुणैस्तात! तावकीनैः सुनिर्मलैः । अत्यन्तमनुरक्तास्ते, सर्वाः सर्वात्मना वयम् ॥७०॥
यस्य भागवतो धीर! नमस्कारो हृदि स्थितः । सदा जाज्वल्यते लोके, तस्य ते किमु दुर्लभम्? ॥७१॥
एताः पञ्चनमस्कारमन्त्रमाहात्म्ययन्त्रिताः । आगत्य स्वयमेवेह, वयं किङ्करतां गताः ॥७२॥
करिष्यामः प्रवेशं ते, शरीरे पुरुषोत्तम! । प्रतीच्छ भवितव्यं च, भवता चक्रवर्तिना ॥७३॥
एतच्चास्माभिरादिष्टं, विद्याधरबलं तव । पदातिभावमापन्नमायातं द्वारि वर्तते ॥७४॥
लसत्कुण्डलकेयूरकिरीटमणिभास्वराः । ततः प्रविश्य ते सर्वे, खेचरा मे नतिं गताः ॥७५॥
अत्रान्तरे प्रहतमुद्दामातोद्यशब्दं प्राभातिकतूर्यं, पठितं च कालनिवेदकेन यदुत—

एष भो! भास्करो लोके, स्वभावादुदयं गतः । प्रबोधकारको नृणां दृष्टिप्रसरदायकः ॥७६॥
सदनुष्ठानहेतुश्च, सर्वासामर्थसम्पदाम् । सम्पादक इति ख्यातः, सद्धर्म इव वर्तते ॥७७॥ ततः—
भो भो लोकाः! समुत्थाय, सद्धर्मे कुरुतादरम् । येन वोऽतर्किता एव, संपद्यन्ते विभूतयः ॥७८॥

एतच्चाकर्ण्य चिन्तितं मया—अये! भगवद्भाषितसद्धर्ममाहात्म्यमिदं यद्—अतर्कितोपनता एव सिद्धा ममैताः सर्वविद्याः, न चेदं मे हर्षस्थानं, विघ्नः खल्वेष समुपस्थितो मे, न भविष्यति विमलेन सार्धं दीक्षाग्रहणं, यतः पुण्यानुबन्धि पुण्यमपि भगवता सौवर्णिकनिगडतुल्यं व्याख्यातं, आदिष्टं च पूर्वमेव मे चन्दनेन विद्याधरचक्रवर्तित्वं, समर्थितं च महात्मना विमलेन, तत्का गतिः? भवितव्यमेवमनेन। तदेवं चिन्तयत एव मे कृतो देवताभिः शरीरेऽनुप्रवेशः, प्रारब्धो विद्याधरसमूहैर्मे राज्याभिषेकः, कृतानि कौतुकानि विहितानि माङ्गलिकानि समुपनीतानि सत्तीर्थोदकानि प्रकटितानि रत्नानि सज्जीकृताः कनककलशाः। एवं च महता विमर्देन निर्वर्तितो मे राज्याभिषेकः, ततः पूजयतो देवान् सन्मानयतो गुरून्

दुःखितलोकानामपहृत्य बाधां संपाद्य च सुखं ततः स्वयं सुखमनुभूयते तत्सुन्दरं, एवं हि प्रभुत्वमाचरितं भवति, नान्यथा, तथाहि–

विधाय लोकं निर्बाधं स्थापयित्वा सुखेऽखिलम् ।
यः स्वयं सुखमन्विच्छेत्स राजा प्रभुरुच्यते ॥७९॥
यस्तु लोके सुदुःखार्ते, सुखं भुङ्क्ते निराकुलः ।
प्रभुत्वं हि कुतस्तस्य ? कुक्षिंभरिरसौ मतः ॥ ८० ॥

[दुःखिसत्त्वान्वेषणा]

तदिदमत्र प्राप्तकालं वर्तते तावदेष संतापिताशेषभूमण्डलो ग्रीष्मसमयः । ततोऽहमत्रैव **मनोनन्दना**भिधाने गृहोपवने युक्तो बन्धुवर्गेण परिवृतो मित्रवृन्देन सेव्यमानो घर्मसमयोचितां राजलीलां संपादयामि तातांम्बयोः सम्बन्धिनमादेशं, केवलं नियुज्यन्तां राजपुरुषा ये सर्वं दुःखदौर्गत्योपहतं लोकं गवेषयित्वा समानीय च मया सार्धं सुखमनुभावयन्तीति । एतच्चाकर्ण्य प्रहृष्टो धवलराजः प्रमुदिता कमलसुन्दरी, ततोऽभिहितमाभ्यां–साधु वत्स ! गुरुवत्सल ! साधु चारु जल्पितं वत्सेन, युक्तमिदमीदृशमेव भवतो विवेकस्येति, ततस्तत्र मनोनन्दने गृहोपवने सज्जीकारितमतिविशालं नरेन्द्रेण हिमगृहं, तच्चाच्छादितं निरन्तरं नलिनीदलैः समन्तादुपगूढं मरकतहरितैः कदलीवनैर्वेष्टितं सततवाहिन्या कर्पूरपूरितोदकप्रवाहया गृहनद्या विलेपितं मलयजकर्पूरक्षोदगार्या कृतविभागमुशीरमृणालनालकल्पितैर्भित्तिभागैः । ततस्तत्र तादृशे ग्रीष्मसन्तापहारिणि शिशिरसुखोत्कम्पकारिणि महति हिमभवने विरचितानि शिशिरपल्लवशयनानि कल्पितानि शिशिरसुखदमृदून्यासनानि प्रवेशितः सह लोकसमूहेन विमलकुमारः, ततः समस्तेनापि जनसमुदयेन सहित एव विलिप्तः सरसचन्दनेन गुण्डितः कर्पूररेणुना मालितः सुरभिपाटलादामभिर्विराजितो मल्लिकाकुसुमस्तवकैरालिङ्गितः स्थूलमुक्ताफलकलापेन निवसितः सूक्ष्मकोमलवसनैर्वीज्यमानः शिशिरबिन्दुवर्षिभिस्तालवृन्तैर्लालितः स्वादुकोमलेनाहारेण प्रीत इव सुरभिताम्बूलेन प्रमोदित इव मनोहारिकाकलिगीतेन सानन्द इव विविधकरणाङ्गहारहारिणा नृत्तेन साह्लाद इव ललितविलासिनीलोककुवलयदललोललोचनमालावलोकनेन प्रविष्ट इव मह लोकेनावगाहितुं रतिसागरम् । तदेवं जननीजनकयोः प्रमोदसन्दोहदानार्थं सर्वेषामपि लोकानामात्मनोऽप्यधिकतरं बहिःसुखं सपादयन्नासितुं प्रवृत्तो विमलकुमारः । प्रवेशयन्ति च यथादर्शं राजादेशेन नियुक्तपुरुषाः दुःखदौर्गत्योपहतं तत्र लोकं, ततः क्रियते तेषां दुःखापनोदः संपाद्यते चानन्दातिरेक इति, एवं च—

नृपतोपविधायिविलासकरे, सुखसागरवर्तिनि राज्यधरे ।
अथ तत्र सुते सुभगे विमले, प्रमदः क्रियते नगरे सकले ॥८१॥

एवं चानन्दिते राजनि तुष्टायां महादेव्यां प्रमुदिते सकले जने विमलसुखसागरावगाहनेन प्रविष्टाः केचिन्नियुक्तपुरुषास्तत्र हिमगृहे दत्ता तैरन्तरा जवनिका तया च व्यवहितमेकं पुरुषं संस्थाप्य कृतप्रणामैर्विज्ञपितं तैः, यथा—देव ! देवादेशेन विचरद्भिरस्माभिर्दृष्टोऽयमत्यन्तदुःखितः पुरुषः समानीतश्च देवसमीपं, न चैष गाढबीभत्सतया देवदर्शनयोग्य इति मत्वा जवनिकया व्यवहितोऽस्माभिरिह प्रवेशित इत्येतदाकर्ण्य देवः प्रमाणम् । धवलराजेनोक्तं—भो भद्राः ! क्व दृष्टोऽयं युष्माभिः ? कथं चात्यन्तदुःखित इति । ततोऽभिहितमेकेन— देव ! अस्ति तावदितो निर्गता वयं देवादेशेन दुःखदारिद्र्योपहतलोकानयनार्थं,

निरूपितं नगरं, यावद्दृष्टं समस्तमपि तत्सततानन्दं, ततो गता वयमरण्ये, यावद्दृष्टो दूरादयं पुरुषः, कथं ?,
वर्तमानेऽतिमध्याह्ने, भूतले वह्निसन्निभे । उत्तप्तलोहपिण्डाभे, जगत्पति भास्करे ॥८२॥
निर्दाहिमुर्मुराकारे, सूक्ष्मधूलीमहाचये । पादत्राणविनिर्मुक्तो, गच्छन्नेष विलोकितः ॥८३॥ युग्मम् ।

[बुधसूरेरागमनम्]

ततोऽयं दुःखित इतिकृत्वा दूरादुच्चैरभिहितोऽस्माभिः यदुत–भो भो भद्र ! तिष्ठ तिष्ठेति । अनेनोक्तं–भो भद्राः ! स्थितोऽहं यूयं तिष्ठतेति ब्रुवाणो गन्तुं प्रवृत्तः । ततो मया गत्वा वेगेन बलादानीतोऽयं महातरुमूले, निरूपितः सर्वैः राजपुरुषैः यावद् दवदग्धस्थाणुरिवातिकृष्णो वर्णेन बुभुक्षाक्षामेणोदरेण पिपासाशोषितेनाधरोष्ठेन अध्वखेदनिःसहेनाङ्गेन बहिरन्तस्तापप्रपञ्चकेन स्वेदजलेन कुष्ठेन गलता कृमिजालोल्बणेन देहेन अन्तःशूलनिवेदकैर्मुखभङ्गैः प्रकम्पमानया जराजीर्णकपोलया गात्रयष्ट्या महाज्वरप्रपञ्चकेन दीर्घोष्णनिःश्वासजालेन मलाविलेनाश्रुगलनाविकलेन लोचनयुगलेन प्रविष्टया नासिकया शटितप्रायैः करचरणैरभिनवलुञ्चितेन मस्तकेनात्यन्तमलिनैश्चीवरखण्डैर्लम्बमानेन कम्बलेन गृहीतेन सदण्डेनालाबुद्वयेन करतलावलम्बिनौर्णिकपिच्छेन सर्वथा

निधानं सर्वदुःखानां, दारिद्र्यस्य परा गतिः । अयमेवेति सर्वेषां, तदाऽस्माकं हृदि स्थितम् ॥८४॥
एनं वीक्ष्य नरं नाथ ! गाढं बीभत्सदर्शनम् । चिन्तितं च तदाऽस्माभिः, सोऽयं प्रत्यक्षनारकः ॥८५॥

[बुधसूरिकथित संसारिस्वरूप]

ततोऽभिहितोऽस्माभिः–भद्र ! किमित्येवंविधे मध्याह्ने बम्भ्रमीषि ? किमिति शीतलच्छायायामुपविष्टः सुखासिकया न तिष्ठसीति ? अनेनोक्तं–भद्रा ! न खल्वहं स्वायत्तोऽस्मि गुरोरादेशेन पर्यटामि तदायत्तोऽहम् । अस्माभिश्चिन्तितं–अये ! परवशोऽयं वराकः अहो कष्टमिदमस्य महत्तरं दुःखकारणं यदीदृशावस्थस्यापि पराधीनत्वं नाम, ततोऽभिहितमस्माभिः–भद्र ! किं पुनरेवमहर्निशमादेशं कुर्वतस्ते स गुरुः करिष्यति ? अनेनोक्तं–भद्राः ! सन्ति मम कृतान्तसदृशा बलिनोऽष्टावृणिकाः तेभ्यो ग्रन्थिदानेन मां मोचयिष्यति । ततोऽस्माभिश्चिन्तितं–अहो कष्टतरमिदमस्य वराकस्य महत्तमं दुःखकारणं यदेवंविधावस्थस्यापि दानग्रहणं तन्मोचनदुराशा चेति, सर्वथा नातः परतरो दुःखी जगति लभ्यते, ततोऽस्माभिरुक्तं–भद्र ! प्रवर्तस्व गच्छ राजकुले येन ते सर्वदुःखदारिद्र्यऋणविमोक्षः क्रियते । अनेनोक्तं–अलं भवतां मदीयचिन्तया, न खलु भवादृशैर्मोचितो मुच्येऽहमिति ब्रुवाणो गन्तुं प्रवृत्तः । ततश्चिन्तितमस्माभिः--अरे ! सोन्माद इवायं दुरात्मा तथापि कर्तव्यं राजशासनं नेतव्योऽयं देवसमीपमित्याकलय्यानीतोऽस्माभिरिति । धवलराजेनोक्तं--महत्कुतूहलं मे पश्याम्येनं अपनयत जवनिकामिति, ततोऽपनीता तैर्जवनिका दृष्टो यथानिदिष्टस्वरूपः पुरुषः विस्मितः सपरिवारो राजा । विमलेन चिन्तितं--अये ! समागतः स एष भगवान् बुधसूरिः, अहो भगवतो वैक्रियरूपकरणातिशयः अहो ममोपरि करुणा अहो परोपकारकरणैकरसत्वं अहो स्वसुखकार्यनिरपेक्षता अहो निर्व्याजसौजन्यातिरेक इति । तथाहि—

स्वकार्यमवधीर्यैव, परकार्ये कृतोद्यमाः ।
भवन्ति सततं सन्तः, प्रकृत्यैव न संशयः ॥८६॥ अथवा--

स्वकार्यमिदमेतेषां, यत्परार्थे प्रवर्तनम् ।
भानोः किं किञ्चिदस्त्यन्यल्लोकोद्योतादृते फलम् ॥८७॥ अथवा—
निजे सत्यपि साधूनां, कार्ये नैवादरः क्वचित् ।
सलाञ्छनो जगद्द्योतो, दृष्टान्तोऽत्र निशाकरः ॥८८॥
नाभ्यर्थिताः प्रवर्तन्ते, परकार्ये महाधियः ।
केन हि प्रार्थिता लोके, वृष्टये धीर! नीरदाः? ॥८९॥
स्वप्नेऽपि न स्वदेहस्य, सुखं वाञ्छन्ति साधवः ।
क्लिश्यन्ते यत्परार्थे ते, सैव तेषां सुखासिका ॥९०॥

यथाऽग्निर्दाहपाकाय, जीवनाय यथाऽमृतम् । स्वभावेन तथा लोके, परार्था साधुसंहतिः ॥९१॥
कथं ते नामृत सन्तो? ये परार्थपरायणाः । तृणायापि न मन्यन्ते, स्वसुखे धनजीविते ॥९२॥
इत्येवं ते महात्मानः, परार्थे कृतनिश्चयाः । आत्मनोऽपि भवन्त्येव, नूनं सिद्धप्रयोजनाः ॥९३॥
अष्टभिः कुलकम् ।

तदेष भगवानेवं, रूपमास्थाय वैक्रियम् । बोधनार्थं समायातो, मद्बन्धूनां कृतोद्यमः ॥९४॥

सदिष्टं चानेन मम भगवता रत्नचूडस्य हस्ते यथाऽहमागमिष्यामि रूपान्तरेण, भवता च दुःखितसत्त्वान्वेषणं कार्यं न चाहं विज्ञातोऽपि वन्दनीयः न तावदात्मा परैर्लक्षयितव्यो भवता यावत्स्वार्थसिद्धिर्न संपन्नेति। ततः कृतो विमलेन बुधसूरेर्मानसिको नमस्कारः। कथं?

नमस्ते ज्ञातसद्भाव! नमस्ते भव्यवत्सल! । नमस्ते मूढजन्तूनां, सम्बोधकरणे पटो! ॥९५॥
अज्ञानापारनीरेशसन्तारणपरायण! । स्वागतं ते महाभाग! चारु चारु त्वया कृतम् ॥९६॥ युग्मम्
इति । भगवताऽपि मनसैवाभिहितं—

संसारसागरोत्तारी, सर्वकल्याणकारकः । स्वकार्यसिद्धये भद्र! धलाभोऽस्तु तेऽनघः ॥९७॥

अत्रान्तरे हिमभवनमध्ये प्रवेशितः स राजपुरुषैः पुरुषः, स च खेदनिःसहतया द्राटूकृत्य निषण्णो भूतले प्रचलायितुं प्रवृत्तः ततस्तं तादृशमवलोक्य केचिदुपहसन्ति केचिच्छोचन्ति केचिन्निन्दन्ति केचिदवधीरयन्ति, तथाऽन्ये परस्परं जल्पन्ति, यदुत—

दुःखी दीनो रुजाक्रान्तः, श्रान्तः क्लान्तो बुभुक्षितः । एष प्रेक्षणकप्रायः, समायातो नराधमः ॥९८॥
क्वानीतः केन वानीतः? किञ्चिदेष सुदुःखितः । न वराको विजानीते, केवलं प्रचलायते ॥९९॥

एतच्चाकर्ण्य तेन रूपान्तरवर्तिना बुधसूरिणा किं कृतम्?—

प्रदीपभास्वरौ कृत्वा, लसन्नात्रक्षिगोलकौ । कोपाटोपात्तदास्थान, ज्वलदेव निरीक्षितम् ॥१००॥ उक्तं च—
आः पापाः! किमहं जातो, युष्मत्तोऽपि विरूपकः? । दुःखितो वा? यतो यूयं, मामेवं हसथाधमाः ॥१०१॥
कृष्णवर्णा बुभुक्षार्तास्तृष्णार्ताः खेदनिःसहाः । तापार्ताः कुष्ठिनो यूयं, नाहं भो मूढमानवाः! ॥१०२॥
शूलाक्रान्ता जराजीर्णा, महाज्वरविबाधिताः । सोन्मादा विकलाक्षाश्च, यूयं नाहं नराधमाः! ॥१०३॥
यूयमेव परायत्ता, यूयमेव ऋणार्दिताः । यूयं च प्रचलायध्वे, नाहं भो मूढमानवाः! ॥१०४॥
हे पापाः! कलिता यूयं, नूनं कालेन बालिशाः । मुनिं मां दुर्बलं मत्वा, तेनैव हसथाधुना ॥१०५॥

अथ तौ भास्कराकारौ, दृष्ट्वा तस्याक्षिगोलकौ । आज्वल्यमानौ सहसा, प्रकाशितदिगन्तरौ ॥१०६॥
जिह्वां च विद्युदाभासां, दन्तपङ्क्तिं च भास्वराम् । दृष्ट्वा श्रुत्वा च तां वाचं, जगतः कम्पकारिणीम् ॥१०७॥
क्षणादेव तदास्थानं, भीतकम्पितमानसम् । संजातं सिंहनादेन, यथा हरिणयूथकम् ॥१०८॥
ततो धवलराजेन. विमलं प्रति भाषितम् ।—कुमार ! नैष कोऽपीह, नरः प्रकृतिमानुषः ॥१०९॥
तथाहि–मलाविलं पुरा चक्षुरधुना भास्कराधिकम् । अस्य देदीप्यते वत्स ! तेजसा वक्त्रकोटरम् ॥११०॥
अनेकरणसङ्घट्टभटकोटिविदारिणः । श्रुत्वाऽस्य भारती वत्स ! कम्पते मम मानसम् ॥१११॥
तदेष न भवत्येव, तावत्सामान्यमानवः । देवः कश्चिदिहायातः, प्रच्छन्नो मुनिवेषकः ॥११२॥
एवं च स्थिते--यावन्न तेजसा वत्स ! सर्वं भस्मीकरोत्ययम् । तावत्प्रसादयाम्येनं, क्रोधान्धं मुनिपुङ्गवम् ॥११३॥
विमलेनोक्तं--एवमेतन्न सन्देहः, सम्यक्तातेन लक्षितम् । नैष सामान्यपुरुषो विषमः कोऽप्ययं महान् ॥११४॥
ततश्च--
तूर्णं प्रसाद्यतामेष, यावन्नो याति विक्रियाम् । भक्तिग्राह्या महात्मानः, क्रियतां पादवन्दनम् ॥११५॥
तच्छ्रुत्वा विलसल्लोलकिरीटकरकुड्मलः । धावन्नुच्चैर्महाराजो, मुनेः पादनतिं गतः ॥११६॥
ततो दृष्ट्वा महाराजं, पतितं क्रमयोस्तथा । तथैव प्रणतं सूरेः, सर्वं जनकदम्बकम् ॥११७॥
उक्तं च नरपतिना--
क्षाम्यत्वेनं महाभागो, दोषमज्ञजनैः कृतम् । ददातु वः प्रसादेन, स्वीयं मे दिव्यदर्शनम् ॥११८॥
ततो यावन्नृपो भूमेरुत्थाय पुनरीक्षते । तावत्स कीदृशस्तेन, सलोकेन विलोकितः ? ॥११९॥
लोचनानन्दिलावण्यनिर्जितामरविग्रहः । विलसद्दीप्तिविस्तारः, साक्षादिव दिवाकरः ॥१२०॥
अशेषलक्षणोपेतः, सर्वावयवसुन्दरः । निषण्णः कमले दिव्ये, सत्कार्तस्वरभास्वरे ॥१२१॥
अथ तं तादृशं वीक्ष्य, कान्तरूपं मुनीश्वरम् । सनृपास्ते जना जाता, विस्मयोत्फुल्ललोचनाः ॥१२२॥
परस्परं च जल्पितुं प्रवृत्ताः, यदुत–
कथं वा तादृशः पूर्वं ?, कथमेवंविधोऽधुना ? । नूनमेष महाभागो, देव एव न संशयः ॥१२३॥
ततः कृत्वा नरेन्द्रेण, ललाटे करकुड्मलम् । स पृष्टो भगवानेवं, कस्त्वं भो नाथ ! कथ्यताम् ? ॥१२४॥
मुनिरुवाच–
यतिरस्मि महाराज ! न देवो नापि दानवः । विशेषयतिरूपं तु, लिङ्गादेवावगम्यते ॥१२५॥
धवलराजेनोक्तं--
यद्येवं किमिदं नाथ ! विहितं भवताऽद्भुतम् । ईदृशं रूपनिर्माणं, पूर्वं बीभत्सदर्शनम् ॥१२६॥
कृष्णवर्णादयो दोषा, निजदेहविवर्तिनः । अस्माकं भवताऽऽदिष्टाः, किं वा सचिन्त्य कारणम् ? ॥१२७॥
कथं वा क्षणमात्रेण, दिव्यरूपधरः परः । भगवन्नाथ ! संपन्नो ? मादृशां कृतविस्मयः ॥१२८॥
तदिदं मे प्रसादेन, सर्वं नाथ ! निवेदय । ममोत्पन्नं मनोमध्ये, महदत्र कुतूहलम् ॥१२९॥

[बुधसूरिकथित संसारिस्वरूप]

मुनिराह महाराज ! कृत्वा मध्यस्थमानसम् । कथ्यमानमिदं सर्वं, समाकर्णय साम्प्रतम् ॥१३०॥
इदं विरचितं पूर्वं, मया रूपं नरेश्वर ! । निदर्शनार्थं जीवानां, संसारोदरवर्तिनाम् ॥१३१॥

यतः—एवंभूता इमे सर्वे, जीवाः संसारवर्तिनः । तथापि न विजानन्ति, स्वरूपं मूढमानसाः ॥१३२॥
अतोऽमीषां प्रबोधार्थं, तादृग् बीभत्सदर्शनम् । दृष्टान्तभूतं भूतानां, रूपं भूत(प!)निरूपितम् ॥१३३॥
मुनिवेषधरं तच्च, यन्मया भूप ! निर्मितम् । कृष्णवर्णादयो दोषा, युष्माकं ये च योजिताः ॥१३४॥
तत्रापि कारणं भूप! वर्ण्यमानं मया स्फुटम्। विधाय निपुणां बुद्धिं, धीर ! चित्तेऽवधारय ॥१३५॥ युग्मम् ।
मुनयो ये महात्मानो, बुद्धाः सर्वज्ञदर्शने । तपःसंयमयोगेन, क्षालिताखिलकल्मषाः ॥१३६॥
ते कृष्णवर्णा बीभत्साः, क्षुत्पिपासादिपीडिताः । कुष्ठिनोऽपि बहिर्भूप ! सुन्दराः परमार्थतः ॥१३७॥
एते तु लोका राजेन्द्र ! ये सद्धर्मबहिष्कृताः । गृहस्थाः पापनिरताः, विषयामिषगृध्नवः ॥१३८॥
एते यद्यपि दृश्यन्ते नीरोगाः सुखनिर्भराः । तथापि तत्त्वतो ज्ञेया, दुःखिता रोगपीडिताः ॥१३९॥
किं च- कृष्णवर्णादयो दोषा, गृहिणां सन्ति ते यथा । तथा न सन्ति साधूनां, तदिदं ते निवेद्यते ॥१४०॥
बहिः कनकवर्णोऽपि, पण्डितैः परमार्थतः । अन्तः पापतमोलिप्तः, कृष्णवर्णोऽभिधीयते ॥१४१॥
बहिरङ्गारवर्णोऽपि, चित्ते स्फटिकनिर्मलः । नरो विचक्षणैर्भूप ! स्वर्णवर्णोऽभिधीयते ॥१४२॥
एवं च कृष्णवर्णोऽपि, साधुः संशुद्धमानसः । विज्ञेयः परमार्थेन, स्वर्णवर्णो नराधिप ! ॥१४३॥
गृहस्थस्तु सदा भूप ! पापारम्भपरायणः । हेमावदातदेहोऽपि, विज्ञेयः कृष्णवर्णकः ॥१४४॥
अनेन परमार्थेन, मयोक्तमिदमञ्जसा ।—न कृष्णवर्णोऽहं लोका ! यूयमेव तथाविधाः ॥१४५॥
तथा—संप्राप्तैरपि नो तृप्तिर्विषयैर्या नराधिप ! । विद्वद्भिः परमार्थेन, सा बुभुक्षा प्रकीर्तिता ॥१४६॥
तया बुभुक्षिताः सर्वे, भुवनोदरचारिणः । अमी वराकाः सद्धर्मविकला मूढजन्तवः ॥१४७॥
ते हि यद्यपि दृश्यन्ते, तृप्ताः संपूरितोदराः । तथापि तत्त्वतो ज्ञेया, बुभुक्षाक्षामितोदराः ॥१४८॥
साधवस्तु महात्मानः, सदा सन्तोषपोषिताः । न पीडितास्तया भूप ! भीमभावबुभुक्षया ॥१४९॥
तेन यद्यपि दृश्यन्ते, विरिक्तजठराः परम् । तथापि तत्त्वतो ज्ञेयास्ते तृप्ताः स्वस्थमानसाः ॥१५०॥
इदं कारणमालोच्य, बुभुक्षार्ताः पुरा मया । यूयमुक्ता धरानाथ ! तृप्तश्चात्मा प्रकाशितः ॥१५१॥
तथा—अनागतेषु भोगेषु, योऽभिलाषो नराधिप ! । सा पिपासेति विज्ञेया, भावकण्ठस्य शोषणी ॥१५२॥
तया पिपासिताः सर्वे, पिबन्तोऽप्युदकं जनाः । ये केचिद्भूप ! दृश्यन्ते, जैनधर्मबहिष्कृताः ॥१५३॥
मुनयस्तु सदा धन्या, भाविभोगेषु निःस्पृहाः । तेनोदकं विनाऽप्येते, पिपासादूरवर्तिनः ॥१५४॥
अतः पिपासिता यूयमहं तु न तृषार्दितः । मयेदं कारणं मत्वा, पुरा राजन्निवेदितम् ॥१५५॥
तथा—अलब्धमूलपर्यन्तो दोषचौरशताकुलः । विषमो विषयव्यालो, दुःखवल्ल्या प्रपूरितः ॥१५६॥
अयं नरेन्द्र ! संसारो, विद्वद्भिर्भावचक्षुषा । अध्वा निरीक्षितो घोर(१), खेदहेतुः शरीरिणाम् ॥१५७॥ युग्मम् ।
एते च सततं जीवा, गृहीत्वा कर्मशम्बलम् । वहन्तो भवमार्गेऽत्र, न कुर्वन्त्युत्प्रयाणकम् ॥१५८॥
तेनामी जैनसद्धर्मरहिता मूढजन्तवः । संसाराध्वमहाखेदखेदिताः सततं मताः ॥१५९॥
ततो यद्यपि दृश्यन्ते, गृहे शीतलमण्डपे । तथापि तत्त्वतो ज्ञेया, गच्छन्तः पथि ते सदा ॥१६०॥
मुनयस्तु सदा भूप ! विवेकवरपर्वते । आरूढाः सतताह्लादे, वर्तन्ते जैनसत्पुरे ॥१६१॥
तत्र चित्तसमाधानं, मण्डपं हिमशीतलम् । आसाद्य निर्वृतात्मानस्तिष्ठन्ति विगतश्रमाः ॥१६२॥

(१)-विश्रान्तिम् ।

ततो यद्यपि दृश्यन्ते, ते बहिः खेदनिःसहाः । विज्ञेयाः खेदनिर्मुक्तास्तथापि परमार्थतः ॥१६३॥
तदिदं कारणं मत्वा, भवन्तः खेदनिःसहाः । अहं तु नेति राजेन्द्र ! मया पूर्वं निवेदितम् ॥१६४॥
तथा--क्रोधो मानस्तथा माया, लोभश्चेति चतुर्विधः । तापः संसारिणां भूप ! सर्वाङ्गीणः सुदारुणः ॥१६५॥
तेन दन्दह्यमानास्ते, तापार्ताः सततं मताः । यद्यपीह विलोक्यन्ते, चन्दनादिविलेपिताः ॥१६६ ।
साधवस्तु महाराज ! सततं शान्तमानसाः । निष्कषाया महात्मानो, निस्तापाः पापसूदनाः ॥१६७॥
ततो यद्यपि दृश्यन्ते, ते बहिस्तापपीडिताः । तथापि परमार्थेन, विज्ञेयास्तापदूरगाः ॥१६८॥
इदमेव मया ज्ञात्वा, यूयं तापार्दिताः पुरा । अहं तु नेति राजेन्द्र ! प्रतिज्ञातमशङ्कया ॥१६९॥
तथा--कुविकल्पकृमिस्थानं, मिथ्यात्वं भूप ! देहिनाम् । गलदास्तिक्यजाम्बालं, कुष्ठमुक्तं मनीषिभिः ॥१७०॥
विनाशयति तद्भूप ! सद्बुद्धिवरनासिकाम् । घर्घराव्यक्तघोषं च, नरं धत्ते मदोद्धतम् ॥१७१॥
शमसंवेगनिर्वेदकारुण्यानि च मूलतः । हस्तपादसमान्येषां, शाटयत्येव देहिनाम् ॥१७२॥
तेन मिथ्यात्वकुष्ठेन, विद्वद्‌द्वेगहेतुना । आक्रान्ताः पृथिवीनाथ ! सदाऽमी मूढजन्तवः ॥१७३॥
ततो यद्यपि दृश्यन्ते, सर्वावयवसुन्दराः । तथापि भावतो ज्ञेयाः, कृमिजालक्षताङ्गकाः ॥१७४॥
सम्यग्भावेन पूतानां, मुनीनां पुनरीदृशम् । कुष्ठं नास्त्येव तेनामी, सर्वावयवसुन्दराः ॥१७५॥
ततश्च--कथञ्चिदपि यद्येते, बहिः कुष्ठसमन्विताः । भवेयुर्भावतो भूप ! तथापि न तथाविधाः ॥१७६॥
अत एव मया पूर्वमिदमालोच्य कारणम् । तथोक्ताः कुष्ठिनो यूयं, नाहं कुष्ठीति चोदितम् ॥१७७॥
तथा—परेषु द्वेषदुष्टानां, समृद्धिं वीक्ष्य देहिनाम् । ईर्ष्या या जायते भूप ! सा शूलमभिधीयते ॥१७८॥
ईर्ष्याशूलेन चाक्रान्ताः, परेषां व्यसने क्षमाः[1] । द्वेषाध्माताः प्रकुर्वन्ति वक्त्रभङ्गं पुनः पुनः ॥१७९॥
तच्च नास्ति महाशूलं, मुनीनां धरणीपते ! । सर्वत्र समचित्तास्ते, वीतद्वेषा हि साधवः ॥१८०॥
इदं कारणमाश्रित्य, शूलाक्रान्ताः पुरा मया । यूयमुक्तास्तथाऽऽत्मा च शूलहीनः प्रकाशितः ॥१८१॥
अनादिभवचक्रेऽत्र, यथाभूताः कथञ्चन । तथाद्यापि प्रवर्तन्ते, सदाऽमी भूप ! जन्तवः ॥१८२॥
कदाचिन्न पुनः प्राप्तं, विद्याजन्म मनोहरम् । नैतैर्विवेकतारुण्यं, न मृता भावमृत्युना ॥१८३॥
जराजीर्णास्ततो भूप ! यावत्संसारजीविनः । जन्तवोऽनन्तदुःखालीवलीपलितसंगताः ॥१८४॥
बहिरते तरुणाकारं, धारयन्तोऽपि मानवाः । विज्ञेयास्तत्त्वतो भूप ! जराजीर्णकपोलकाः ॥१८५॥
साधुभिर्भूपते ! लब्धं, विद्याजन्म मनोहरम् । प्राप्तं विवेकतारुण्यं, दीक्षासम्भोगसुन्दरम् ॥१८६॥
अप्राप्य तां जरां घोरां, तारुण्ये वर्तमानकाः । तथा च ते मरिष्यन्ति, यथोत्पत्तिर्न जायते ॥१८७॥
अतः सर्वे जराजीर्णा, ये भवे दीर्घजीविनः । सन्तस्तु यौवनारूढाः, कर्मनिर्दलनक्षमाः ॥१८८॥
तथा- यतोऽमी देहिनो मूढा, रागसन्तापतापिताः । तेनोच्यन्ते मया भूप ! महाज्वरविबाधिताः ॥१८९॥
सत्साधूनां पुनर्नैव, रागगन्धोऽपि विद्यते । ते बहिर्ज्वरवन्तोऽपि, विज्ञेयास्तेन विज्वराः ॥१९०॥ तथा--
यत् कृत्य सदनुष्ठान, तन्न कुर्वन्ति मूढका । वारिता अपि कुर्वन्ति, पापानुष्ठानमञ्जसा ॥१९१॥
ततोऽमी जगतीनाथ ! येऽपि पण्डितमानिनः । सोन्मादा इति विज्ञेयास्तेऽपि भावेन देहिनः ॥१९२॥
सदनुष्ठानरक्तानां, साधूनां पुनरीदृशः । नोन्मादोऽस्ति धरानाथ ! तस्मात्ते शुद्धबुद्धयः ॥१९३॥
जराजीर्णा रुजाक्रान्ताः, सोन्मादा इति तत्पुरा । यूयं नाहमिति प्रोक्तं, सर्वमेतेन हेतुना ॥१९४॥

(१)-परेषां सकष्टप्रदाने तोषमुपगन्तारः ।

तथा—पश्यन्तोऽपि विशालेन, चक्षुषा बहिरञ्जसा । अन्तर्वसुन्धरानाथ ! कामान्धा मूढजन्तवः ॥१९५॥
विकलाक्षा मया पूर्वं, तेनामी परिकीर्तिताः । साधूनां विकलाक्षत्वं कामजन्य न विद्यते ॥१९६॥
अतो यद्यपि दृश्यन्ते, ते बहिर्नष्टदृष्टयः । तथापि साधवो नैव, विकलाक्षा नराधिप ! ॥१९७॥
तेनामी जन्तवः प्रोक्ता, विकलाक्षा मया पुरा । आत्मा प्रकाशितो भूप ! सज्जाक्षश्चारुलोचनः ॥१९८॥
राजन्नेते परायत्ता, यथा गेहस्य जन्तवः । साधवस्त्वपरायत्तास्तथा ते कथ्यतेऽधुना ॥१९९॥
निःस्नेहं परमार्थेन, भिन्नकर्मविनिर्मितम् । इदं कलत्रपुत्रादि, चञ्चलं च कुटुम्बकम् ॥२००॥
अदृष्टपरमार्थानामत्यन्तं मनसः प्रियम् । तत्त्वभूतमिदं तेषां, मूढानां प्रतिभासते ॥२०१॥
ततस्तदर्थं क्लिश्यन्ते, दासाः कर्मकरा यथा । रात्रौ दिवा च मोहेन, पशुभूता वराककाः ॥२०२॥
आहारयन्ति न स्वस्था, रात्रौ निद्राविवर्जिताः । चिन्तयाऽऽकुलिता नित्यं, धनधान्यपरायणाः ॥२०३॥
तदेवं ते कुटुम्बस्य, सदैवादेशकारिणः । परायत्ता न जानन्ति, परमार्थममेधसः ॥२०४॥
तथाहि—माता भ्राता पिता भार्या, दुहिता पुत्र इत्यपि । सर्वेऽपि जन्तवो जाता, नरादिभवचक्रके ॥२०५॥
ततो विज्ञातसद्भावः, को हि नाम सकर्णकः । तदायत्तो भृशं भूत्वा, स्वकार्यं हारयेन्नरः ? ॥२०६॥
अत एव महात्मानस्तत्कलत्रादिपञ्जरम् । संपरित्यज्य निःशेषं, जाता निःसङ्गबुद्धयः ॥२०७॥
त एव ह्यपरायत्तास्त एव कृतिनो नराः । त एव स्वामिनो भूप ! सर्वस्य जगतोऽनघाः ॥२०८॥
गुरूणां ते परायत्ता, भवन्तोऽपि महाधियः । निर्मुक्ता गृहपाशेन, तस्मादत्यन्तसुन्दराः ॥२०९॥
इदं च हृदये कृत्वा, कारणं मानवेश्वर ! । यूयमुक्ताः परायत्ता, मयाऽऽत्मा तद्विलक्षणः ॥२१०॥
तथा- ये च तेऽष्टौ मया पूर्वमृणिकाः संप्रकाशिताः । विद्धि तान्यष्ट कर्माणि, दुःखदानीह देहिनाम् ॥२११॥
(तैश्चामी) सतत जीवाः, कदर्थ्यन्ते मुहुर्मुहुः । दानग्रहणिकैर्भूप ! कर्मभिस्तीव्रदारुणैः ॥२१२॥
बुभुक्षिताः क्वचिद्दीना, धार्यन्तेऽत्यन्तविह्वलाः । क्वचिद्गाढं प्रपीड्यन्ते, क्षिप्त्वा नरककोष्ठके ॥२१३॥
साधूनामपि ते सन्ति, ऋणिकाः किं तु नो तथा । कदर्थनं प्रकुर्वन्ति, शुद्धप्रायमृणं यतः ॥२१४॥
शोधयन्ति च ते नित्यं, साधवः कृतनिश्चयाः । ऋणं तत्तेन ते तेषामृणिका नैव बाधकाः ॥२१५॥
ऋणार्दिता मया पूर्वं, यूयमेतेन हेतुना । प्रोक्ता भूप ! तथाऽऽत्मा च, ऋणमुक्तः प्रकाशितः ॥२१६॥
यथा च प्रचलायन्ते, भावतोऽमी नरेश्वर ! । जैनधर्मबहिर्भूता, जन्तवस्तन्निशामय ॥२१७॥
दुरन्तः कर्मसन्तानो, घोरः संसारसागरः । रौद्रा रागादयो दोषास्तरलं देहिनां मनः ॥२१८॥
चटुलश्चेन्द्रियग्रामो, दृष्टनष्टं च जीवितम् । चला विभूतयः सर्वा, देहश्च क्षणभङ्गुरः ॥२१९॥
शत्रुः प्रमादो जीवानां, दुस्तरः पापसञ्चयः । असंयतत्वं दुःखाय, भीमो नरककूपकः ॥२२०॥
अनित्याः प्रियसंयोगा, भवन्त्यप्रियसङ्गमाः । क्षणरक्तविरक्ताश्च, योषितो मित्रबान्धवाः ॥२२१॥
उग्रो मिथ्यात्ववेतालो, जरा कान्तिनिर्तिनी । भोगाश्चानन्तदुःखाय, दारुणो मृत्युभूधरः ॥२२२॥
एतत्सर्वमनालोच्य, कृत्वा पादप्रसारिकाम् । विवेकचक्षुः संमील्य, स्वपन्ति ननु जन्तवः ॥२२३॥
महाघुरघुरारावं, कुर्वन्तो नष्टचेतनाः । कथञ्चिन्न प्रबुध्यन्ते, शब्दैरपि विवेकिनाम् ॥२२४॥
विबुद्धा अपि कृच्छ्रेण, घूर्णमानेन चक्षुषा । भूयोभूयः स्वपन्त्येव, ते महामोहनिद्रया ॥२२५॥ अन्यच्च—
कुतो वय समायाताः ? प्रापिताः केन कर्मणा ? । क्वागताः ? क्व च यास्यामो ? विदन्त्येतन्न मूढकाः ॥२२६॥

ततो यद्यपि दृश्यन्ते, [1]वल्गमानाः पृथग्जनाः । तथापि तत्त्वतो भूप ! विज्ञेयाः प्रचलायिताः ॥२२७॥
साधूनां पुनरेषा भो ! महामोहतमोमयी । निद्रा नास्त्येव धन्यानां, तेन ते नित्यजागराः ॥२२८॥
सर्वज्ञागमदीपेन, साधवस्ते महाधियः । गत्यागती प्रपश्यन्ति, स्वस्यान्येषां च देहिनाम् ॥२२९॥
ततश्च–ते बहिर्निद्रया भूप ! सुप्ता अपि कथञ्चन । असुप्ता इति विज्ञेया, विवेकोन्मीलितेक्षणाः ॥२३०॥
इदमेव मया सर्वं, संचिन्त्य हृदये पुरा । यूयं भोः ! प्रचलायध्वे, नाहमित्येव भाषितम् ॥२३१॥
तथा -यूयमेव न जानीथ, स्वरूपं मोहनिद्रिताः । मम प्रत्यक्षमेवेदं, विवेकस्फुटचक्षुषः ॥२३२॥
अन्यच्चैवं व्यवस्थिते–
ये सद्धर्मबहिर्भूतास्त एव परमार्थतः । देहिनो भूप ! विज्ञेया, दारिद्र्याक्रान्तमूर्तयः ॥२३३॥
तथाहि–ज्ञानदर्शनचारित्रवीर्यादीनि नरेश्वर ! । न सन्ति भावरत्नानि, तेषां पापहतात्मनाम् ॥२३४॥
तान्येव धनसाराणि, तान्येवैश्वर्यकारणम् । तान्येव सुन्दराणीह, तैर्विना कीदृशं धनम् ? ॥२३५॥
अतस्तै रहिता येऽत्र, दृश्यन्ते धनपूरिताः । विज्ञेयास्तेऽपि राजेन्द्र ! निर्धनाः परमार्थतः ॥२३६॥
तत्साधूनां पुनस्तानि· भावरत्नानि भूपते ! । चित्तापवरके नित्यं, जाज्वल्यन्ते महात्मनाम् ॥२३७॥
अतस्ते धनिनो धन्यास्त एव परमेश्वराः । ते शक्ता भुवनस्यापि, पोषणे नास्ति संशयः ॥२३८॥
मलिना मलिनैर्भूप ! बहिश्चीवरखण्डकैः । अलाबुहस्ता दृश्यन्ते, दरिद्रा इव मुग्धकैः ॥२३९॥
तथापि परमार्थेन, ते महारत्ननायकाः । विज्ञेयाः पण्डितैर्भूप, मुनयः परमेश्वराः ॥२४०॥
किं च–तृणाग्राद्रत्नकोटीश्च, पातयन्ति स्वतेजसा । यदि कार्यं भवेत्ताभिस्तेषां भूप ! महात्मनाम् ॥२४१॥
अतः स्वकीय दारिद्र्यमनालोच्य भवादृशैः । महाधनोऽपि मादृक्षः, कथमुक्तो दरिद्रकः ? ॥२४२॥
मलिनोऽपि स एवात्र, यः कर्ममलपूरितः । बहिः क्षालितसद्गात्रवस्त्रोऽपि जगतीपते ! ॥२४३॥
तुषारहारगोक्षीरनिर्मलीमसमानसः । बहिर्मलधरोऽप्यत्र, निर्मलो मानवेश्वर ! ॥२४४॥
तदिदं भावमालिन्यमविचार्याऽऽत्मनि स्थितम् । अह हा हसितः केन, कारणेन पुरा जनैः ? ॥२४५॥
सुभगोऽपि जगत्यत्र, सद्धर्मनिरतो नरः । विवेकिनां समस्तानां यस्मादत्यन्तवल्लभः ॥२४६॥
सुरासुरसमायुक्तं, जगदेतच्चराचरम् । बन्धुभूतं हि वर्तेत, सद्धर्मगतचेतसाम् ॥२४७॥
तस्मात्साधुः सदाचारो, लोके सौभाग्यमर्हति । तत्र ये कुर्वते द्वेषं, पापिष्ठास्ते नराधमाः ॥२४८॥
पुमानधर्मभूयिष्ठो, दुर्भगो भावतो मतः । निन्दन्ति तं यतः सर्वे, महाराज ! विवेकिनः ॥२४९॥
तस्मात्पापे रतः प्राणी, लोके दौर्भाग्यमर्हति । तमप्यत्र प्रशंसन्ति, ये ते पापा नराधिप ! ॥२५०॥ एवं च स्थिते--धार्मिको मुनिवेषेण, प्रकटोऽपि पुरा जनैः । दुर्भगैः सुभगोऽप्यस्मि, केन कार्येण निन्दितः ? ॥२५१॥

एवं च स्थिते महाराज ! य इमे–जिनवचनामृतबहिर्भूताः संसारोदरवर्तिनो जन्तवोऽनवरतं वराका बध्यन्ते दृढकर्मसन्तानरज्ज्वा पीड्यन्ते विषयासन्तोषबुभुक्षया शुष्यन्ति विषयाशापिपासया खिद्यन्ते निरन्तरभवचक्रभ्रमणेन सततोपतप्ताः कषायघर्मोष्मणा गृह्यन्ते मिथ्यात्वमहाकुष्ठेन तुद्यन्ते परेर्ष्याशूलेन जीर्यन्ते दीर्घसंसारावस्थानेन दन्दह्यन्ते रागमहाज्वरेण अन्धीक्रियन्ते कामकाचपटलेन आक्रम्यन्ते भावदारिद्र्येण अभिभूयन्ते जराराक्षस्या आच्छाद्यन्ते मोहतिमिरेण आकृष्यन्ते हृषीकतुरङ्गमैः पापच्यन्ते

(१)–उद्यम कुर्वन्त ।

क्रोधतीव्रवह्निना अवष्टभ्यन्ते मानमहापर्वतेन वेष्टयन्ते मायाजालिकया प्लाव्यन्ते लोभसागरप्लवेन परितप्यन्त इष्टवियोगवेदनया दोदूयन्तेऽनिष्टसङ्गमतापेन दोलायन्ते कालपरिणतिवशेन तन्तम्यन्ते कुटुम्बपोषणपरायणतया कदर्थ्यन्ते [1]कर्मदानग्रहणिकैः अभिद्रूयन्ते महामोहनिद्रया कवलीक्रियन्ते मृत्युमहामकरेणेति--त इमे महाराज ! जन्तवो यद्यपि शृण्वन्ति वेणुवीणामृदङ्गकाकलीगीतानि, पश्यन्ति विभ्रमविब्बोककारिमनोहारिरूपाणि, आस्वादयन्ति सुसंस्कृतकोमलपेशलहृदयेष्टविशिष्टाहारप्रकारजातं, आजिघ्रन्ति कर्पूरागुरुकस्तूरिकापारिजातमन्दारनमेरुहरिचन्दनसन्तानकसुमनोहरकोष्ठपुटपाकादिगन्धजातं, आलिङ्गन्ति कोमलललितललनातूल्यादिस्पर्शजातं, तथा ललन्ते सह स्निग्धमित्रवृन्देन विलसन्ति मनोरमकाननेषु विचरन्ति यथेष्टचेष्टया क्रीडन्ति नानाक्रीडाभिः भवन्ति सुखाभिमानेनानाख्येयरसवशनिर्भरा निमीलिताक्षाः तथाप्यमीषां जन्तूनां क्लेशरूप एवायं वृथा सुखानुशयः, एवंविधविविधदुःखहेतुशतव्रातपूरितानां हि महाराज ! कीदृशं सुखं ? का वा मनोनिर्वृतिरिति ।

तदिमे दुःखपूरेण, पूरिताः परमार्थतः । मोहादेवावगच्छन्ति, जन्तवः सुखमात्मनः ॥२५२॥

व्याधैर्विलुप्यमानस्य शक्तिनाराचतोमरैः ।
यत्सुखं हरिणस्येह, तत्सुखं भूप ! गेहिनाम् ॥२५३॥

गलेन गृह्यमाणस्य, निर्भिन्ने तालुमर्मके । यत्सुखं मूढमीनस्य, तत्सुखं भूप ! गेहिनाम् ॥२५४॥
एतावद्दुःखसङ्घातपातनिर्भिन्नमस्तकाः । सद्धर्मरहिता भूप ! गेहिनो नारकोपमाः ॥२५५॥

[साधुभगवता पूर्वोक्तोपद्रवाभाव]

सत्साधूनां पुनर्भगवतां महाराज ! न सन्त्येवामी पूर्वोदिताः सर्वेऽपि क्षुद्रोपद्रवाः, यतस्तेषां भगवतां प्रनष्टं मोहतिमिरं आविर्भूतं सम्यग्ज्ञानं निवृत्तः सर्वत्राग्रहविशेषः परिणतं सन्तोषामृतं व्यपगता दुष्टक्रिया त्रुटितप्राया भववल्लरी स्थिरीभूतो धर्ममेघसमाधिः, तथा गाढानुरक्तमन्तरङ्गमन्तःपुरं यतस्तेषां भगवतां सन्तोषदायिनी धृतिसुन्दरी चित्तप्रमादहेतुः श्रद्धा आह्लादकारिणी सुखासिका निर्वाणकारणं विविदिषा प्रमोदविधायिनी विज्ञप्तिः सद्बोधकारिणी मेधा प्रमदातिरेकनिमित्तमनुप्रेक्षा अनुकूलचारिणी मैत्री अकारणवत्सला करुणा मदानन्ददायिनी मुदिता सर्वोद्वेगविघातिनी उपेक्षेति ।

तदेताभिः समायुक्ताः, सुन्दरीभिर्नरेश्वर ! । इष्टाभिर्दृढरक्ताभिर्मोदन्ते ते मुनीश्वराः ॥२५६॥

संसारसागरोत्तीर्णं, निर्वाणसुखसागरे । निमग्नं ते सदाऽऽत्मानं, मन्यन्ते मुनिपुङ्गवाः ॥२५७॥
नेन्द्राणां तन्न देवानां, नापि तच्चक्रवर्तिनाम् । सद्ध्यानपरिपूतानां, यत्सुखं शान्तचेतसाम् ॥२५८॥
ये स्वकेऽपि महात्मानो, वर्तन्ते देहपञ्जरे । परा इव सुखं तेषां, भूप ! कः प्रष्टुमर्हति ? ॥२५९॥
संसारगोचरातीतं, यत्सुखं वेदयन्ति ते । त एव यदि जानन्ति, रसं तस्य न चापरे ॥२६०॥
एवं व्यवस्थिते राजन् ! दुःखिभिः ! सुखपूरितः । परमार्थमनालोच्य, निन्दितोऽस्मि मुधा जनैः ॥२६१॥
किंवा सुखाभिमानेन यूयमेव विनाटिताः । न लक्षयथ राजेन्द्र ! परमार्थसुखं परम् ? ॥२६२॥

नृपतिरुवाच—भगवन्!-यद्येव विषया दुःखं, प्रशमः सुखमुत्तमम् ।
तदेष लोकः सर्वोऽपि, कस्मान्नेदं प्रबुध्यते ? ॥२६३॥

---

(१)-उत्तमर्णः ।

मुनिराह महाराज ! महामोहवशादिदम् । न बुध्यते जनस्तत्त्वं, यथाऽसौ बठरो गुरुः ॥२६४॥

[बठरगुरुकथानकम्]

धवलराजेनोक्तं—भदन्त ! कोऽसौ बठरगुरुः ? कथं चासौ न बुध्यते स्म तत्त्वं ? बुधसूरिराह—महाराजाकर्णय—अस्ति भवो नाम विस्तीर्णो ग्रामः, तस्य च मध्ये तत्स्वरूपं नाम शिवायतनं, तच्च सदा पूरितमनर्घेयरत्नैः भृतं मनोज्ञैर्विविधखण्डखाद्यकैः समायुक्तं द्राक्षापानादिपानकैः समृद्धं धनेन निचितं धान्येन संपन्नं हिरण्येन पर्याप्तं कनकेन अन्वितं वरचेलेन पुष्टमुपस्करेण—

सर्वथा सर्वसामग्र्या, संयुक्तं सुखकारणम् । तद्देवमन्दिरं शैवं, तुङ्गं स्फटिकनिर्मलम् ॥२६५॥

तत्र च शिवभवने तस्य स्वामी सारगुरुर्नाम शैवाचार्यः सकुटुम्बकः प्रतिवसति । स चोन्मत्तको हितमपि वत्सलमपि सुन्दरमपि तदात्मीयं कुटुम्बकं न पालयति न च जानीते तस्य स्वरूपं न लक्षयति तां शिवभवनसमृद्धिं, ततो विज्ञातमिदं तस्य चेष्टितं तद्ग्रामवासिभिस्तस्करैः । ततो धूर्ततया तैरागम्य कृता तेन भौतेन सह मैत्री, तस्य चोन्मत्तकतयैव ते तस्कराः सुन्दरा वत्सला हितकारिणो वल्लभाश्च प्रतिभासन्ते । ततोऽपकर्ण्य तदात्मीयं कुटुम्बकं तैरेव सार्धमनवरत विलसन्नास्ते । ततोऽसौ वारितो माहेश्वरैः यथा-भट्टारक ! चौराः खल्वेते, मा कार्षीरमीभिः सह सम्पर्कमिति । स तु न शृणोति तद्वचनं, ततोमूर्खइति मत्वा तैर्माहेश्वरैः सारगुरुरिति नामापहृत्य तस्य बठरगुरुरिति नाम स्थापितं, परित्यक्तं च सर्वमाहेश्वरैर्धूर्ततस्करपरिकरितं तन्मित्रभावमापन्न बठरगुरुमुपलभ्य तद्देवमन्दिरम् । ततो लब्धप्रसरैस्तैर्धूर्ततस्करैर्योगदानेन[1] तस्य वर्धितो गाढतरमुन्मादो वशीकृतं शिवायतनं अभिभूतं तत्कुटुम्बकं क्षिप्तं मध्यापवरके तालितं तस्य द्वारं, ततो वशीभूतमस्माकं सर्वमिति मत्वा तुष्टचित्तैस्तैरेकः स्थापितो महाधूर्तस्तस्करो नायकः । ततः कृततालारवास्तस्याग्रतस्तं बठरगुरुं नाटयन्तस्तिष्ठन्ति, गायन्ति चेदं गीतकं, यदुत—

धूर्तभावमुपगम्य कथञ्चिदहो जना ! वञ्चयध्वमपि मित्रजन हृतभोजनाः ।
मन्दिरेऽत्र बठरस्य यथेष्टविधायका, एत एत ननु पश्यथ वयमिति नायकाः ॥२६६॥

क्वचित्पुनरेवं गायन्ति, यदुत—

बठरो गुरुरेष गतो वशतां, वसतिं वयमस्य सरत्नशताम् ।
निजधूर्ततया प्रकटं जगतां खादेम पिबेम च हस्तगताम् ॥२६७॥

[बठरगुरुमतिविपर्यास]

स पुनरधन्यो बठरगुरुर्न लक्षयति तामात्मविडम्बनां, नावबुध्यते निजकुटुम्बव्यतिकरं, न जानीते समृद्धशिवायतनहरणं, नावगच्छति तेषां रिपुरूपतां, मन्यते च महामित्रभावं, ततो हृष्टतुष्टो रात्रौ दिवा च तेषां तस्कराणां कुटुम्बकस्य मध्यगतो नृत्यन्नास्ते । तत्र च ग्रामे चत्वारः पाटकाः प्रतिवसन्ति, तद्यथा—जघन्योऽनिजघन्य उत्कृष्ट उत्कृष्टतरश्चेति । ततोऽसौ बठरगुरुर्बुभुक्षाक्षामस्तान् भोजनं याचते । ततस्तैः समर्पितं तस्य तस्करैर्महाघटकर्परं चर्चितो मषीपुण्ड्रकैरभिहितश्च—वयस्य ! गुरो ! भिक्षामट । विनिर्गतस्तेन । ततस्तैः परिवेष्टित एव गतोऽसौ तत्रातिजघन्यपाटके भिक्षार्थं, ततो गृहे गृहे नृत्यन्नसौ

(१) चूर्णौषधिप्रदानेन ।

वेष्टितस्तैर्विहिततालारवैर्विचरितुं प्रवृत्तः। संज्ञितास्तस्करैः पिङ्गलोकाः यथा -चूर्णयतैनं, ततस्तैः किं कृतं ?- यष्टिमुष्टिमहालोष्टप्रहारैस्ताडितो भृशम् । स वराको रटन्नुच्चैः, कृतान्तैरिव दारुणैः ।।२६८।।

अनुभूय महादुःखं, चिरं भिक्षाविवर्जितः । निर्गतः पाटकात्तस्मात्ततोऽसौ भग्नकर्परः ।।२६९।।

ततः समर्पितं तैस्तस्करैस्तस्य शरावं नीतस्तत्र जघन्यपाटके तत्रापि न लभते भिक्षां, बाध्यते पिङ्गजनेन--ततस्तत्रापि पर्यट्य, चिरं भग्ने शरावके । उत्कृष्टपाटके नीतस्तैर्दत्त्वा ताम्रभाजनम् । २७०।।
तत्रासौ विरलां भिक्षां, लभते छायया तया। यथाऽयं देवगेहस्य, रत्नपूर्णस्य नायकः ।।२७१।।
कदर्थ्यते च तत्रापि, पिङ्गलोकैस्तथा परैः । अथान्यदा क्वचित्तस्य, भग्नं तत्ताम्रभाजनम् ।।२७२।।
तत्र भग्ने पुनः पात्रे, दत्त्वा राजतभाजनम् । तथैव वेष्टितश्चौरैर्नीतोऽसौ तुर्यपाटके ।।२७३।।
तत्र चात्यन्तविख्यातः, किलायं रत्ननायकः । ततः सुसंस्कृतां भिक्षां, लभतेऽसौ गृहे गृहे ।।२७४।।
एवं ते तस्करास्तेषु, पाटकेषु पुनः पुनः । भ्रमयन्त्येव तं भौतं, नाटयन्तो दिवानिशम् ।।२७५।।
हसन्तश्चूर्णयन्तश्च, वल्गमाना गृहे गृहे । कृततालारवा हृष्टा, नानारूपैर्विडम्बनैः ।।२७६।।
स तथा क्रियमाणोऽपि, तस्करैर्वठरो गुरुः । भिक्षामात्रेण हृष्टात्मा, वल्गते पूरितोदरः ।।२७७।।
गायति च, कथम् ?--

अतिवत्सलको मम मित्रगणः, कुरुते विनयं च समस्तजनः ।
तदिदं मम राज्यमहो प्रकटं, भ्रियते जठरं सुधया विकटम् ।।२७८।।

अन्यच्च-आत्मानं मन्यते मूढो, मग्नं च सुखसागरे । द्वेष्टि तस्करदोषाणां, कथकं स जडो जनम् ।।२७९।।

न पुनरसौ वराको बहिर्भावितं रत्नादिसमृद्धादात्मीयभवनाच्च्यावितमनुरक्तसुन्दरनिजकुटुम्बात् पातितं दुःखसमुद्रे शोच्यमात्मानमाकलयतीति । तदेष महाराज ! निवेदितस्ते मया बठरगुरुर्येन सदृशोऽयं लोक इति । नृपतिराह—कथमेतत् ? भगवतोक्तं आकर्ण्य—

ग्रामोऽत्र भूप ! संसारो, विस्तीर्णस्तस्य मध्यगम् । स्वरूपं जीवलोकस्य, विज्ञेयं शिवमन्दिरम् ।।२८०।।

[जीवलोके उपनय]

तदेव ज्ञानवीर्यादिरत्नपूरैश्च पूरितम् । संपूर्णं सर्वकामैश्च, परमानन्दकारणम् ।।२८१।।
जीवलोकश्च तत्स्वामी, भौताचार्यो निगद्यते । तस्य स्वाभाविकाः सर्वे, ये गुणास्तत्कुटुम्बकम् ।।२८२।।
तत्तु स्वाभाविकं तस्य, सुन्दरं हितकारि च । तथापि जीवलोकस्य, न चित्ते प्रतिभासते ।।२८३।।
सोऽयं लोकः सदोन्मत्तः, कर्मयोगेन वर्तते । न जानीते निजं रूपं, गुणरत्नादिपूरितम् ।।२८४।।
रागादिदोषाः सर्वेऽपि, तस्कराः परिकीर्तिताः । त एव हि महाधूर्ता, जीवलोकस्य वञ्चकाः ।।२८५।।
सुहृदस्ते प्रभासन्ते, जीवलोकस्य वल्लभाः । ते च गाढं प्रकुर्वन्ति कर्मोन्मादस्य वर्धनम् ।।२८६।।
ते स्वरूपं वशीकृत्य, जीवलोकस्य ये गुणाः । कुटुम्बमन्तस्तत्क्षिप्त्वा, चित्तद्वारं निरुन्धते ।।२८७।।
तदेवं ते धरानाथ ! गुणसम्भारपूरितम् । स्वरूपं जीवलोकस्य, हृत्वा मन्दिरसन्निभम् ।।२८८।।
अभिभूय तिरोधाय, तस्य भावकुटुम्बकम् । बृहद्धूर्तोपमं राज्ये, महामोहं निधाय च ।।२८९।।
रागादिदोषाः सर्वेऽपि, तस्याग्रे हृष्टमानसाः । तं लोकं वर्धितोन्मादं, नाटयन्ति वशीकृतम् ।।२९०।।

स एष श्रूयते भूप ! महाकोलाहलः सदा । गीततालरवोन्मिश्रः, कृतो रागादितस्करैः ॥२६१॥
माहेश्वरास्तु विज्ञेया ये जीवा जैनदर्शने । प्रबुद्धास्ते हि तं लोकं, वारयन्ति क्षणे क्षणे ॥२६२॥
कथं ?--जीवलोक ! न युक्तस्ते, सङ्गो रागादितस्करैः । सर्वस्वहारका दुष्टास्तवैते भावशत्रवः ॥२६३॥
स तु कर्ममहोन्मादविह्वलीभूतचेतनः । हितं तत्तादृशं वाक्यं, जीवलोकोऽवमन्यते ॥२६४॥
सुन्दराः सुहृदो धन्या, ममैते हितहेतवः । एवं हि मन्यते मूढो, रागादीनेष भावतः ॥२६५॥
ततो माहेश्वराकारैः, स सारगुरुसन्निभः । तैर्ज्ञाततत्त्वैर्मूर्खत्वाद्वठरो गुरुरुच्यते ॥२६६॥
तं लोकभीतं विज्ञाय, धूर्तं रागादितस्करैः । जैनमाहेश्वरास्तस्य, त्यजन्ति शिवमन्दिरम् ॥२६७॥
यथा च याचितास्तेन, क्षुधाक्षामेण भोजनम् । ते तस्कराः करे दत्तं, तैस्तस्य घटकर्परम् ॥२६८॥
विलिप्तश्च मषीपुण्ड्रैर्नीतो भिक्षाऽटनेन सः । तदिदं जीवलोकेऽपि, समानमिति गृह्यताम् ॥२६९॥
तथाहि--भोगाकाङ्क्षाक्षुधाक्षामो, जीवलोकोऽपि वर्तते । रागादीनेष यत्नेन, याचते भोगभोजनम् ॥३००॥
ततस्तेऽपि भवग्रामे, भिक्षाटनविधित्सया । निःसारयन्ति दर्पिष्ठास्तं लोकं भीतसन्निभम् ॥३०१॥
कथम् ?--कृष्णपापमषीलेपपुण्ड्रकैर्गाढचर्चितम् । विशालनरकायुष्कवितीर्णघटकर्परम् ॥३०२॥
तिर्यङ्नारकमानुष्यदेवसम्बन्धिनो भवाः । विज्ञेयास्ते भवग्रामे, चत्वारः पाटकास्त्वया ॥३०३॥
जघन्यातिजघन्यौ द्वौ, तत्राद्यौ परिकीर्तितौ । उत्कृष्टो मानुषो ज्ञेयस्तथोत्कृष्टतरः परः ॥३०४॥
कर्परं च शरावं च, ताम्रं राजतमेव च । भाजनं लोकभीतस्य, तदायुष्कमुदाहृतम् ॥३०५॥
स एष जीवलोकस्तैर्वेष्टितो भावतस्करैः । पापात्मा नरकं यायादाद्यपाटकसन्निभम् ॥३०६॥
तत्रासौ याचमानोऽपि, नाश्नुते भोगभोजनम् । घोरैर्नरकपालैश्च, पीड्यते पिङ्गसन्निभैः ॥३०७॥
तीव्रानन्तमहादुःखसङ्घातमनुभूय च । आयुष्ककर्परे भग्ने, निर्गच्छेच्च ततः क्वचित् ॥३०८॥
अथ तिर्यग्भवं प्राप्य, द्वितीयमिव पाटकम् । ततोऽसौ पर्यटेत्तत्र, भोगभोजनलम्पटः ॥३०९॥
अथ तत्रापि नैवासौ, लभते भोगभोजनम् । क्षुदादिपिङ्गलोकेन, केवलं परिपीड्यते ॥३१०॥
पुनश्च तिर्यगायुष्के, क्वचिन्निष्ठां गते सति । तृतीयपाटकाकारं, मानुष्यकमवाप्नुते ॥३११॥
अथ तत्र भवेदस्य, पुण्यलेशः कथञ्चन । आन्तरैश्वर्ययुक्तत्वे, सा छाया परिकीर्तिता ॥३१२॥
ततश्च--या छायाऽस्य महाराज ! सा पुण्यलवलक्षणा । तया हि जीवलोकोऽत्र, लभते भोगभोजनम् ॥३१३॥
तथा मनुष्यभावेऽपि, राजदायादतस्करैः । रागादिभिश्च पीड्येत, धूर्तोक्तजनसन्निभैः ॥३१४॥
स ताम्रभाजनाकारे, नरायुष्केऽतिलिङ्घते । गच्छेद्देवभवं लोकस्तुर्यपाटकसन्निभम् ॥३१५॥
अन्तरङ्गमहारत्नच्छाया तत्र गरीयसी । नरेन्द्र ! जीवलोकस्य, देवलोके विभाव्यते ॥३१६॥
ततस्तत्र भवे भूरि, लभते भोगभोजनम् । दधानो राजताकारममरायुष्कभाजनम् ॥३१७॥
एवमेष महाराज ! लोकभीतो दिवानिशम् । बुभुक्षितो भवग्रामे, बम्भ्रमीति पुनः पुनः ॥३१८॥
उन्मत्तः कर्मयोगेन, पापमष्या विलेपितः । रागादिभिः कृताराबैर्वेष्टितो धूर्ततस्करैः ॥३१९॥
हसन् गायन् रटन्नुच्चैर्नृत्यन्नुद्दामलीलया । तेषु तेषु महाराज ! योनिगेहेषु हिण्डते ॥३२०॥
यथा च हृदये तुष्टः, स भीतो भिक्षया तया । वराको नैव जानीते, हृतं रत्नभृतं गृहम् ॥३२१॥
अभिभूतं कुटुम्बं च, सुन्दरं गाढवत्सलम् । न लक्षयति चात्मानं, दुःखसागरमध्यगम् ॥३२२॥

केवलं मोहदोषेण, संतुष्टः सुखनिर्भरः । वल्गमानो जने गाढं, करोत्यात्मविडम्बनम् ॥३२३॥
तथाऽयमपि राजेन्द्र ! जीवलोकः कथञ्चन । संसारे यद्यवाप्नोति, तुच्छं वैषयिकं सुखम् ॥३२४॥
तथा-इन्द्रत्वं विबुधत्वं वा, राज्यं रत्नधनादिकम् । पुत्रं कलत्रमन्यद्वा, लभते यदि किञ्चन ॥३२५॥
ततोऽलीकाभिमानेन, किलाहं सुखनिर्भरः । मीलन्निःस्पन्दमन्दाक्षो, न चेतयति किञ्चन ॥३२६॥
ततश्च-अहो सुखमहो स्वर्गो, धन्योऽहमिति भावितः । एवं विचेष्टते भूप ! यथाऽयं तावको जनः ॥३२७॥
अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यानन्दादिभिः सदा । भावरत्नैर्भृतं त्वात्मस्वरूपं नावबुध्यते ॥३२८॥
वराको न च जानीते, यथेदं भावतस्करैः । हृतं रागादिभिर्मेऽत्र, स्वरूपं मन्दिरोपमम् ॥३२९॥
क्षमामार्दवसत्यादिरूपं भावकुटुम्बकम् । न चायं बुध्यते लोकः, सुन्दरं हितवत्सलम् ॥३३०॥
इदं च न विजानीते, चित्तापवरके यथा । अमीभिरेव रागाद्यैरभिभूय तिरोहितम् ॥३३१॥
ततोऽयं तादृशैश्वर्यादनन्तानन्ददायिनः । भ्रंशितः सुखहेतोश्च, कुटुम्बाच्चैर्वियोजितः ॥३३२॥
क्षिप्तश्चात्र भवग्रामे, दुःखसङ्घातपूरिते । तथापि लोको रागादीन्, वयस्यानिव मन्यते ॥३३३॥
भिक्षाभूतमिदं लब्ध्वा, तथा वैषयिकं सुखम् । हृष्टो नृत्यति मूढात्मा, यथासौ बठरो गुरुः ॥३३४॥
तदेवमेष राजेन्द्र ! जनस्तत्त्वं न बुध्यते । दुःखसागरमध्यस्थः, सुखित्वं तेन मन्यते ॥३३५॥

[धवलराजस्वमोक्षचिन्ता]

धवलराजेनोक्तं—भदन्त ! यद्येवं ततः सततमुन्मत्ता वयं विषमा रागादितस्कराः मुषितं स्वरूपशिवायतनं नाशितं भावकुटुम्बकं पर्यटामो भवग्रामे सुदुर्लभा भोगभिक्षा तल्लवलाभेन तुष्टा वयं निमग्नाः परमार्थतो दुःखसागरे अतः कथं पुनरितोऽस्माकं मोक्षो भविष्यतीति ? बुधसूरिणोक्तं-महाराज ! भविष्यति भवतामितो भवविडम्बनान्मोक्षो यदि यादृशं तस्य बठरगुरोर्वृत्तान्तान्तरं संपन्नं तादृशं भवतामपि संपद्येत । नृपतिराह-भदन्त ! किं पुनस्तस्य संपन्नं ?

[बठरगुरुकथाशेष]

भगवतोक्तं-महाराज ! तं तथाऽनवरतं तैर्धूर्ततस्करैः खलीक्रियमाणं बठरगुरुमुपलभ्य समुत्पन्ना कस्यचिदेकस्य महामाहेश्वरस्य तस्योपरि करुणा, यदुत-कथमस्य दुःखविमोक्षो जायेत ? ततः पृष्टोऽनेनैको महावैद्यः, दत्तस्तेनोपदेशः सम्यगवधारितोऽनेन गृहीतमुपकरणं गतो रात्रौ शिवायतनं, इतश्च बृहतीं वेलां नाटयित्वा बठरगुरुं श्रान्ता इव प्रसुप्तास्ते तस्मिन्नवसरे धूर्ततस्कराः, ततः प्रविष्टो माहेश्वरः प्रज्वालितोऽनेन शिवमन्दिरे प्रदीपः ततो दृष्टोऽसौ बठरगुरुणा माहेश्वरः, तथाभव्यतया च संजातखेदेन याचितोऽसौ जलपानं, माहेश्वरः प्राह-भट्टारक ! पिबेदं तत्त्वरोचकं नाम सत्तीर्थोदकं पीतमनेन ततः प्रनष्टः क्षणादुन्मादो निर्मलीभूता चेतना विलोकितं शिवमन्दिरं दृष्टास्ते धूर्ततस्कराः, किमेतदिति पृष्टो माहेश्वरः ? कथितोऽनेन शनैः शनैः सर्वोऽपि वृत्तान्तः, ततोऽभिहितं शैवेन-तर्हि किं मयाऽधुना विधेयं ? ततः समर्पितो माहेश्वरेणास्य वज्रदण्डः, प्राह च-भट्टारक ! वैरिणस्तवैते ततो निपातय मा विलम्बिष्ठाः । ततः समुत्थाप्य चूर्णिता वज्रदण्डेन ते सर्वेऽपि तस्कराः शैवेन प्रविघाटितश्चित्तापवरकः प्रकटीभूतं कुटुम्बकं आविर्भूता रत्नराशयः प्रविलोकिता सर्वापि निजशिवमन्दिरविभूतिः संजातः प्रमोदातिरेकः ततो बहुतस्करं परित्यज्य तं भवग्रामं

स्थितस्ततो वहिर्भूते निरुपद्रवे शिवालयाभिधाने गत्वा महामठे स सारगुरुरिति । तदयमीदृशो वृत्तान्तस्तस्य संपन्नः । नृपतिरुवाच—भदन्त कथमेष वृत्तान्तोऽत्र जने समानः ?

[कथाशेषोपनयः]

भगवानाह-महाराजाकर्णय-महामाहेश्वरस्थानीयोऽत्र सद्धर्मप्रबोधकरो गुरुर्द्रष्टव्यो, यतः-

विडम्ब्यमानं रागादितस्करैर्दुःखपीडितम् । भावैश्वर्यपरिभ्रष्टं, स्वकुटुम्बवियोजितम् ॥३३६॥

लोकभीतं भवग्रामे, वीक्ष्य भिक्षाचरोपमम् । तन्मात्रेणैव संतुष्टं, कर्मोन्मादेन विह्वलम् ॥३३७॥

सद्धर्मगुरुरेवात्र, जायते करुणापरः । अमुष्माद्दुःखसन्तानात्कथमेष वियोक्ष्यते ? ॥३३८॥

ततो जिनमहावैद्योपदेशादवधारयति सद्धर्मगुरुस्तत्रोपायं, ततो धूर्ततस्करेष्विव सुप्तेषु रागादिषु क्षयोपशममुपगतेषु प्रज्वालयति जीवस्वरूपशिवमन्दिरे सज्ज्ञानप्रदीपं पाययति सम्यग्दर्शनामलजलं समर्पयति चारित्रवज्रदण्डं, ततोऽयं जीवलोकः सज्ज्ञानप्रदीपोद्योतितस्वरूपशिवमन्दिरे महाप्रभावसम्यग्दर्शनसलिलपाननष्टकर्मोन्मादो गृहीतचारित्रदण्डभासुरो गुरुवचनेनैव निर्दलयति सस्पर्धमाहूय महामोहादिधूर्ततस्करगणं, तं च निर्दलयतोऽस्य जीवलोकस्य विशालीभवति कुशलाशयः क्षीयन्ते प्राचीनकर्माणि न बध्यन्ते नूतनानि विलीयते दुश्चरितानुबन्धः समुल्लसति जीववीर्यं निर्मलीभवत्यात्मा परिणमति गाढमप्रमादो निवर्तन्ते मिथ्याविकल्पाः स्थिरीभवति समाधिरत्नं प्रहीयते भवसन्तानः, ततः प्रविघाटयत्येष जीवलोकश्चित्तापवरकावरणकपाटं, ततः प्रादुर्भवति स्वाभाविकगुणकुटुम्बकं विस्फुरन्ति ऋद्धिविशेषाः विलोकयति तानेष जीवलोको विमलसंवेदनालोकेन, ततः संजायते निरभिष्वङ्गानन्दसन्दोहः समुत्पद्यते बहुदोषभवग्रामजिहासा उपशाम्यति विषयमृगतृष्णिका [1]रूक्षीभवत्यन्तर्यामी विघटन्ति सूक्ष्मकर्मपरमाणवः व्यावर्तते चिन्ता संतिष्ठते विशुद्धध्यानं दृढीभवति योगरत्नं जायते महासामायिकं प्रवर्ततेऽपूर्वकरणं विजृम्भते क्षपकश्रेणी निहन्यते कर्मजालशक्तिः विवर्तते शुक्लध्यानानलः प्रकटीभवति योगमाहात्म्यं विमोच्यते सर्वथा घातिकर्मपाशेभ्यः क्षेत्रज्ञः स्थाप्यते परमयोगे देदीप्यते विमलकेवलालोकेन कुरुते जगदनुग्रहं विधत्ते च केवलिसमुद्घातं समानयति कर्मशेषं संपादयति योगनिरोधं समारोहति शैलेश्यवस्थां त्रोटयति भवोपग्राहिकर्मबन्धनं विमुञ्चति सर्वथा देहपञ्जरं ततो विहाय भवग्राममेष जीवलोकः सततानन्दो निराबाधो गत्वा तत्र शिवालयाभिधाने महामठे सारगुरुरिव सभावकुटुम्बकः सकलकालं तिष्ठतीति ॥

अनेन हेतुना महाराज ! मयोक्तं—यथा यादृशं तस्य सारगुरोर्वृत्तान्तान्तरं संपन्नं तादृशं यदि भवतामपि संपद्येत ततो भवेदितो विडम्बनान्मोक्षो, नान्यथेति ।

ततः श्रुत्वा मुनेर्वाक्यमिदमत्यन्तसुन्दरम् । हृष्टः स धवलो राजा, ते च लोकाः प्रमोदिताः ॥३३९॥

ततश्च--विदलत्कर्मजालैस्तैः, समस्तैर्भक्तिनिर्भरैः । इदमुक्तमनूचानैर्ललाटे कृतकुड्मलैः ॥३४०॥

येषां नो भगवान्नाथः, संपन्नोऽत्यन्तवत्सलः । तेषां न दुर्लभो नाम, वृत्तान्तोऽयं यतीश्वर ! ॥३४१॥

अतो भगवताऽस्माकं, निर्विकल्पेन चेतसा । दीयतामधुनाऽऽदेशो, मादृशैः किं विधीयताम् ? ॥३४२॥

---

(१) अन्तर्यामी=आत्मा, कर्मबन्धजनककषायस्नेहशून्यो भवतीति हृदयम् ।

[दीक्षोपदेश]

बुधसूरिराह–चारु चारूदितं भद्राः ! सुन्दरा भवतां मतिः । विज्ञातं ननु युष्माभिः, सर्वं मामकभाषितम् ॥३४३॥
बुद्धो मदीयवाक्यार्थः, सभावार्थो नरोत्तम ! । साम्प्रतं हि महाराज ! सफलो मे परिश्रमः ॥३४४॥
इयानेव ममादेशो, भवद्भिः क्रियतामिह । यन्मया विहितं भूप ! तद्भवद्भिर्विधीयताम् ॥३४५॥
नृपतिरुवाच—भदन्त ! किं भवद्भिर्विहितं ? बुधसूरिराह–
पर्यालोच्य मयाऽसारं, संसारं चारकोपमम् । दीक्षा भागवती भूप ! गृहीता तन्निबर्हिणी ॥३४६॥
युष्माकमपि चेज्जातो, मदीयवचनेन भोः ! । अनन्तदुःखविस्तारे, निर्वेदो भवचारके ॥३४७॥
ततो गृह्णीत तां दीक्षां, संसारोच्छेदकारिणीम् । हे लोका ! मा विलम्बध्वं, धर्मस्य त्वरिता गतिः ॥३४८॥ युग्मम् ।
नृपतिरुवाच–यदादिष्टं भदन्तेन, स्थितं तन्मम मानसे । किंचित्तु भवता तावत्कथ्यतां मे कुतूहलम् ॥३४९॥
एते प्रबोधिता नाथ ! यत्नेन भवता वयम् । भवांस्तु बोधितः केन ! कथं वा कुत्र वा पुरे ? ॥३५०॥
किं वा जातः स्वयंबुद्धो ? भदन्त ! परमेश्वरः । सर्वं निवेद्यतां नाथ ! ममेदं हितकाम्यया ॥३५१॥ युग्मम् ।
सूरिराह महाराज ! साधूनामात्मवर्णनम् । नैवेह युज्यते कर्तुं तद्धि लाघवकारणम् ॥३५२॥
ममात्मचरिते तच्च, कथ्यमाने परिस्फुटम् । यतः संपद्यते तस्मान्न युक्तं तस्य कीर्तनम् ॥३५३॥
ततो धवलराजेन, प्रणम्य चरणद्वयम् । स पृष्टः कौतुकावेशान्निर्बन्धेन पुनः पुनः ॥३५४॥
अथ विज्ञाय निर्बन्धं, तादृशं तस्य भूपतेः । कुतूहलं जनानां च, ततः सूरिरभाषत ॥३५५॥
यद्यस्ति ते महाराज ! महदत्र कुतूहलम् । ततो निवेद्यते तुभ्यं, समाकर्णय साम्प्रतम् ॥३५६॥

[बुधसूरिचरितम्]

अस्ति लोके सुविख्यातं, विस्तीर्णमतिसुन्दरम् । अनेकाद्भुतवृत्तान्तं, पुरं नाम धरातलम् ॥३५७॥
तत्र प्रसिद्धमाहात्म्यो, जगदाह्लादकारकः । राजा शुभविपाकोऽस्ति, प्रतापाक्रान्तभूतलः ॥३५८॥
तस्यातिवल्लभा साध्वी, समस्ताङ्गमनोहरा । विद्यते विदिता लोके, सुन्दरी निजसाधुता ॥३५९॥
अन्यदा कालपर्यायादासाद्य निजसाधुताम् । समुत्पन्नो बुधो नाम, तत्सुतो लोकविश्रुतः ॥३६०॥
आकरो गुणरत्नानां, कलाकौशलमन्दिरम् । स वर्धमानः संजातो, रूपेण मकरध्वजः ॥३६१॥
भ्राता शुभविपाकस्य, जगत्तापकरः परः । तथाऽशुभविपाकोऽस्ति, भीषणो जनमेजयः ॥३६२॥
तस्य विख्यातमाहात्म्या, लोकसन्तापकारिणी । देवी परिणतिर्नाम, विद्यते भीमविग्रहा ॥३६३॥
अथ ताभ्यां समुत्पन्नो, दारुणाकारधारकः । विषाङ्कुरोपमः क्रूरो, मन्दो नाम सुताधमः ॥३६४॥
आवासो दोषकोटीनां, गुणगन्धविवर्जितः । संपन्नो वर्धमानोऽसौ, तथापि मदविह्वलः ॥३६५॥
पितृव्यपुत्रभावेन, तयोश्च बुधमन्दयोः । यदृच्छया वा संपन्ना, भ्रातृमैत्री मनोहरा ॥३६६॥
महितावेव तौ नित्यं, नगरे काननेषु च । ततो विचरतः स्वेच्छाक्रीडारसपरायणौ ॥३६७॥
अथास्ति धिषणा नाम, पुरे विमलमानसे । शुभाभिप्रायराजस्य, दुहिता चारुदर्शना ॥३६८॥
सा तेन यौवनस्थेन, बुधेन वरलोचना । गृहे स्वयंवरायाता, परिणीता कृतोत्सवा ॥३६९॥
तस्याश्च कालपर्यायात्, निःशेषगुणमन्दिरम् । मनोरथशतैर्जातो, विचारो नाम पुत्रकः ॥३७०॥
अथान्यदा निजे क्षेत्रे, क्रीडतोर्बुधमन्दयोः । यस्तदानीं समापन्नो, वृत्तान्तस्तं निबोधत ॥३७१॥

तस्य क्षेत्रस्य पर्यन्ते, दृष्टस्ताभ्यां मनोरमः । ललाटपट्टसन्नामा, विशालो वरपर्वतः ॥३७२॥
तस्योपरिष्टादुत्तुङ्गे, शिखरे सुमनोहरा । निलीनालिकुलच्छाया, कचपर्याख्या वनावली ॥३७३॥
ललाटपट्टनामानं, पर्वतं तं निरीक्षितुम् । अथ तौ लीलया तत्र, प्रदेशे समुपागतौ ॥३७४॥
यावद्दृष्टा सुदीर्घाभिः, शिलाभिः परिनिर्मिता । तस्याधस्ताद्गता दूरं, नासिकाख्या महागुहा ॥३७५॥
अथ तां तादृशीं वीक्ष्य, रमणीयां महागुहाम् । तन्नीरूपणलाम्पट्यं, संजातं बुधमन्दयोः ॥३७६॥
अथाग्रे संस्थितौ तस्यास्तन्निरीक्षणलालसौ । यावद्दृष्टं सुगम्भीरं, तत्रापवरकद्वयम् ॥३७७॥
तथा—युक्तं तदन्धकारेण, लोचनप्रसरातिगम् । अदृश्यमानपर्यन्तं, द्वाराभ्यामुपलक्षितम् ॥३७८॥
ततो मन्दो बुधं प्राह, पश्यावरकद्वयम् । अनेनैव विभक्तेयं, नासिकाख्या महागुहा ॥३७९॥
तदाकर्ण्य बुधेनोक्तं, भ्रातः ! सम्यग्विनिश्चितम् । एषा शिलाऽनयोर्मध्ये त्रिभागार्थं विनिर्मिता ॥३८०॥
एवं च जल्पतोर्वत्स, तदानीं बुधमन्दयोः । गुहातो निर्गता काचिद्दारिका चटुलाकृतिः ॥३८१॥
प्रणम्य पादयोस्तूर्णं, तयोः सा राजपुत्रयोः । पुरतो दर्शितप्रीतिस्ततश्चेत्थमभाषत ॥३८२॥

[*नासिकाघ्राणसंगम*]

स्वागतं भवतोरत्र, विहितो मदनुग्रहः । प्रतिजागरणं मेऽद्य, युवाभ्यां यदनुष्ठितम् ॥३८३॥
ततो मन्दो लसत्तोषो, दृष्ट्वा वचनपाटवम् । तां दारिकां मृदूल्लापैः, सस्नेहं समभाषत ॥३८४॥
कथम् ?-निवेदयावयोर्बाले ? काऽसि त्वं वरलोचने ? । किमर्थं वा वसस्यत्र, गुहाकोटरचारिणी ? ॥३८५॥
एतच्च वचनं श्रुत्वा, सा शोकभरपीडिता । मूर्च्छया पतिता बाला, भूतले नष्टचेतना ॥३८६॥
ततो वायुप्रदानाद्यैर्मन्देनाश्वासिता पुनः । स्थूलमुक्ताफलानीव, साऽश्रुबिन्दूनमुञ्चत ॥३८७॥
भद्रे ! किमेतदित्येवं, पृच्छतश्च पुनः पुनः । मन्दस्य साऽब्रवीदेवं, स्नेहगद्गदया गिरा ॥३८८॥
नाथ ! मे मन्दभाग्यायाः, किं स्तोकं शोककारणम् ? । युवयोर्विस्मृताऽस्मीति, याऽहं स्वस्वामिनोरपि ॥३८९॥
अहं भुजङ्गता नाम, भवतोः परिचारिका । युवाभ्यामेव देवाभ्यां, गुहायां विनियोजिता ॥३९०॥
अस्यां हि भवतोरस्ति, घ्राणनामा वयस्यकः । तिष्ठामि युष्मदादेशात्तस्याहं परिचारिका ॥३९१॥
चिरकालप्ररूढं हि, युवयोस्तेन संगतम् । यथा चेदं तथा नाथ ! समाकर्णय साम्प्रतम् ॥३९२॥
पुरेऽसंव्यवहाराख्ये, पुराऽभूद्भवतोः स्थितिः । ततः प्रचलितौ कर्मपरिणामस्य शासनात् ॥३९३॥
गतावेकाक्षसंस्थाने, विकलाक्षे पुनस्ततः । भूरिलोकाकुलं तत्र, विद्यते पाटकत्रयम् ॥३९४॥
द्वितीये पाटके सन्ति, बहवः कुलपुत्रकाः । तत्र त्रिकरणं नाम, तन्मध्ये संस्थितौ युवाम् ॥३९५॥
स कर्मपरिणामाख्यो, नरेन्द्रस्तत्र तिष्ठतोः । प्रसन्नो युवयोस्तेन, दत्तेयं वां महागुहा ॥३९६॥
अयं च घ्राणसंज्ञोऽत्र, वयस्यो हितकारकः । युवयोर्विहितस्तेन, गुहायाः परिपालकः ॥३९७॥
सुखसागरहेतुश्च, युवयोरेष वत्सलः । वयस्योऽचिन्त्यमाहात्म्यस्ततःप्रभृति वर्तते ॥३९८॥
किं तु—राजादेशवशादेष, न गुहाया विनिर्गतः । तत्रैव वर्तमानोऽयं, युवाभ्यां लालितः पुरा ॥३९९॥
तथाविधेषु स्थानेषु, यत्र यत्र गतौ युवाम् । लालितस्तत्र तत्रायं, गन्धैर्नानाविधैः पुरा ॥४००॥
पुरीं मनुजगत्याख्यामन्यदा क्वचिदागतौ । तस्यां पुनर्विशेषेण, युवाभ्यामेष लालितः ॥४०१॥
अहं च विहिता स्नेहादस्यैव परिचारिका । युवाभ्यामेव मित्रस्य, मन्दभाग्या भुजङ्गता ॥४०२॥

तदेवं चिरमूढैषा, घ्राणेन सह मैत्रिका । युवयोरनुचरी लोके, प्रसिद्धाऽहं भुजङ्गता ॥४०३॥
तथापि देवौ यद्येवं, कुर्वाते गजमीलिकाम् । अतः परतरं नाथ ! किं शोकभरकारणम् ? ॥४०४॥
तस्माच्चिरन्तनस्थित्या, दृश्यतां किङ्करो जनः । युवाभ्यां नाथ ! निर्मिथ्यं, पाल्यतामेष बान्धवः ॥४०५॥
एवं वदन्ती साऽलीकस्नेहदर्शितसम्भ्रमा । पादेषु पतिता गाढं, बालिका बुधमन्दयोः ॥४०६॥

[बुधकृता भुजङ्गतोपेक्षा]

बुधेन चिन्तितं हन्त, दारिका नैव सुन्दरा । इयं हि धूर्ततासारा, कारणैः प्रतिभाव्यते ॥४०७॥
यतः--कपोलसूचित हास्यं, सलज्जं मृदुभाषितम् ।
भवतीह कुलस्त्रीणां, निर्विकार निरीक्षितम् ॥४०८॥
एषा तु बृहदाटोपा, विलासोल्लासिलोचना । वागाडम्बरसारा च, ततो दुष्टा न संशयः ॥४०९॥
ततोऽवधार्य चित्तेन, बुधेनेत्थं महात्मना । कृताऽवधीरणा तस्याः, किञ्चिन्नो दत्तमुत्तरम् ॥४१०॥

[मन्देन घ्राण-भुजङ्गतालालनम्]

मन्दस्तु पादपतितां, समुत्थाप्य भुजङ्गताम् । संजातनिर्भरस्नेहस्ततश्चेदमवोचत ॥४११॥
विषादं मुञ्च चार्वङ्गि ! धीरा भव वरानने ! । एवं हि गदितुं बाले ! युक्तं ते चारुलोचने ! ॥४१२॥
वृत्तान्तो विस्मृतोऽप्येष, तथा संपादितस्त्वया । अनेन स्नेहसारेण, सोऽपि प्रत्यक्षतां गतः ॥४१३॥
तदत्रभवती तावन्निवेदयतु मेऽधुना । यदेष कुरुते भद्रे ! स्नेहक्रीती जनस्तव ॥४१४॥
तयोक्तमियदेवात्र, कर्तव्यं नाथ ! साम्प्रतम् । अयं चिरन्तनस्थित्या, लालनीयो वयस्यकः ॥४१५॥
मन्दः प्राह यथा कार्यं, लालनं कमलानने ! । मयाऽस्य वरमित्रस्य, तत्सर्वं मे निवेदय ॥४१६॥
भुजङ्गताऽऽह सद्गन्धलुब्धबुद्धिरयं सदा । अतः सुगन्धिभिर्द्रव्यैः, क्रियतामस्य लालनम् ॥४१७॥
चन्दनागरुकर्पूरकुरङ्गमदमिश्रितम् । कुङ्कुमक्षोदगन्धाढ्यं, रोचतेऽस्मै विलेपनम् ॥४१८॥
एलालवङ्गकर्पूरसज्जातिफलसुन्दरम् । तथा सुगन्धि ताम्बूलं, स्वदतेऽस्मै मनोरमम् ॥४१९॥
सधूपा विविधा गन्धा, [1]वर्तिकाः पुष्पजातयः । यत्किञ्चित्सौरभोपेतं, तदेवास्यातिवल्लभम् ॥४२०॥
दुर्गन्धिवस्तुनामापि, नैवास्य प्रतिभासते । तस्मात्सुदूरतस्त्याज्यं, तदस्य सुखमिच्छता ॥४२१॥
तदेवं क्रियतां तावल्लालनं मित्रपालनम् । एतद्धि भवतोर्दुःखवारणं सुखकारणम् ॥४२२॥
यदेवं लालितेनेह, घ्राणेन भवतोः सुखम् । संभविष्यति तद्देव ! को हि वर्णयितुं क्षमः ? ॥४२३॥
मन्देनोक्तं विशालाक्षि ! सुन्दरं गदितं त्वया । सर्वं विधीयते सुभ्रु ! तिष्ठ भद्रे ! निराकुला ॥४२४॥
एवं च वदतो मन्दस्य-पादयोः पतिता भूयो, हर्षविस्फारितेक्षणा । महाप्रसाद इत्येवं, वदन्ती सा भुजङ्गता ॥४२५ ।

[बुधस्य विवेक.]

बुधस्तु मौनमालम्ब्य, शून्यारण्ये मुनिर्यथा । अवस्थितो यतस्तेन शठोऽयं लक्षितस्तया ॥४२६॥
ततो न किञ्चिदुक्तोऽसौ [2]काकली विहिता परम् । बुधेन तु तदालोक्य, चित्तेनेदं विवेचितम् ॥४२७॥
अये !-क्षेत्रं मदीयं शैलश्च, मामिकेयं महागुहा । अतोऽस्यां यः स्थितो घ्राणः, स मे पाल्यो न संशयः ॥४२८॥
केवलं यदियं वक्ति, दारिका शाठ्यमारिका[3] । तन्मया नास्य कर्तव्यं, लालन सुखकाम्यया ॥४२९॥

---

(१) 'अगरबत्ती' ति भाषायाम् । (२) मन्दध्वनि । (३) कपटचतुरा ।

किं तु ?–यावत् क्षेत्रं न मुञ्चामि, तावदस्यापि पालनम् । कार्यं विशुद्धमार्गेण, लोकयात्रानुरोधतः ॥४३०॥
एवं निश्चित्य चित्तेन, बुधस्तं पालयन्नपि । घ्राणं न युज्यते दोषैर्लभते सुखमुत्तमम् ॥४३१॥
मन्दस्तु तां पुरस्कृत्य, शठचित्तां भुजङ्गताम् । घ्राणलालनलाम्पट्याल्लभते दुःखमागरम् ॥४३२॥
कथं—सुगन्धिद्रव्यसम्भारकरणोद्यतमानसः । तन्तम्यते वृथा मूढस्तन्निमित्त दिवानिशम् ॥४३३॥
दुर्गन्धपरिहारं च, कुर्वाणः खिद्यते मुधा । शमसौख्यं न जानीते, हस्यते च विवेकिभिः ॥४३४॥
तथापि मोहदोषेण, सुखसन्दर्भनिर्भरम् । आत्मानं मन्यते मन्दः, प्रसक्तो घ्राणलालने ॥४३५॥

[*विचारेण घ्राणवृत्तोदिति*]

इतश्च यौवनारूढो, विचारो राजदारकः । कथंचिल्लीलया गेहाद्देशकालिकयोगतः ॥४३६॥
बहिरङ्गान्तरङ्गेषु, स देशेषु पुनः पुनः । पर्यट्य क्वचिदायातः, स्वगेहे राजदारकः ॥४३७॥
अथ तत्र समायाते, प्रहृष्टौ धिषणाबुधौ । संजातो बृहदानन्दः, संतुष्टं राजमन्दिरम् ॥४३८॥
ततश्च-वृत्ते महाविमर्देन, समागममहोत्सवे । सा ज्ञाता मैत्रिका तेन, घ्राणेन बुधमन्दयोः ॥४३९॥
ततो रहसि संस्थाप्य, तमात्मपितरं बुधम् । स विचारः प्रणम्येत्थं, प्रोवाच कृतकुड्मलः ॥४४०॥
तात यो युवयोर्जातो, घ्राणनामा वयस्यकः । सोऽयं न सुन्दरो दुष्टस्तत्राकर्णय कारणम् ॥४४१॥
अस्ति तावदहं तात ! देशदर्शनकाम्यया । अपृष्ट्वा तातमम्बां च निर्गतो भवनात्तदा ॥४४२॥
ततोऽनेकपुरग्रामखेटाकरमनोहरा ! विलोकिता मया तात । भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा वसुन्धरा ॥४४३॥
अन्यदा भवचक्रेऽहं, संप्राप्तो नगरे पुरे । राजमार्गे मया दृष्टा, तत्रैका वरसुन्दरी ॥४४४॥
सा मां वीक्ष्य विशालाक्षी, परितोषमुपागता । रसान्तरं भजन्तीव, कीदृशी प्रविलोकिता ? ॥४४५॥
सिक्तेवामृतसेकेन, कल्पपादपमञ्जरी । दृष्टा नीरदनादेन, नृत्यन्तीव मयूरिका ॥४४६॥
प्रगे सहचरस्येव मिलिता चक्रवाकिका । अम्भोदबन्धनेनेव, विमुक्ता चन्द्रलेखिका ॥४४७॥
राज्ये कृताभिषेकेव, क्षिप्तेव सुखसागरे । मया सा लक्षिता साध्वी, प्रीतिविस्फारितेक्षणा ॥४४८॥ त्रिभिर्विशेषकम्
ततस्तां वीक्ष्य संपन्नो, ममापि प्रमदस्तदा । चित्तं ह्यार्द्रीभवेद्दृष्टे, सज्जने स्नेहनिर्भरे ॥४४९॥
ततः कृतप्रणामोऽहं, प्रोक्तो दत्ताशिषा तया । ब्रूहि वत्स ! कुतस्त्योऽसि ? त्वं मे हृदयनन्दन ॥४५०॥

[*मार्गानुसारितासगम*]

मयोक्तमम्ब ! जातोऽहं, धिषणाया धरातले । पुत्रोऽहं बुधराजस्य, देशकालिकयोगतः ॥४५१॥
एतच्चाकर्ण्य सा नारी, विलसन्नयनोदका । स्नेहेन मां परिष्वज्य, चुम्बित्वा मस्तके मुहुः ॥४५२॥
ततः प्राह महाभाग ! चारु चारु कृतं त्वया । त्वमादावत्र मे वत्स ! विदितश्चित्तलोचनैः ॥४५३॥
जातिस्मरे जनस्यैते, लोचने हृदयं च भोः । यतोऽमूनि विजानन्ति, दृष्टमात्रं प्रियाप्रियम् ॥४५४॥
वत्स ! त्वं नैव जानीषे, मां प्रायेण विशेषतः । लघिष्ठोऽसि मया वत्स ! विमुक्तो बालकस्तदा ॥४५५॥
अहं हि मातुस्ते वत्स ! धिषणाया वयस्यिका । वल्लभा बुधराजस्य, नाम्ना मार्गानुसारिता ॥४५६॥
शरीरं जीवितं प्राणाः, सर्वस्वं मम साऽनघा । तव माता महाभाग ! पिता ते जीविताधिकः ॥४५७॥
तयोरेव समादेशादहं लोकविलोकनम् । कर्तुं विनिर्गता वत्स ! जातमात्रे पुरा त्वयि ॥४५८॥
अतो मे भागिनेयस्त्वं, पुत्रस्त्वं जीवितं तथा । सर्वस्वं परमात्मा च, सर्वं भवसि सुन्दर ! ॥४५९॥

सुन्दरं च कृतं वत्स ! देशदर्शनकाम्यया । यदेवं निर्गतो गेहाज्जिगीषुस्त्वं न संशयः ॥४६०॥

तथाहि- यो न निर्गत्य निःशेषां, विलोकयति मेदिनीम् ।

अनेकाद्भुतवृत्तान्तां, स नरः कूपदर्दुरः ॥४६१॥

यतः-क्व विलासाः क्व पाण्डित्यं, क्व बुद्धिः क्व विदग्धता ।

क्व देशभाषाविज्ञानं, क्व चैषाऽऽचारचारुता ? ॥४६२॥

यावद्धूर्तशताकीर्णा, नानावृत्तान्तसङ्कुला । नानेकशः परिभ्रान्ता, पुरुषेण वसुन्धरा ॥४६३॥

युग्मम् ।

तथेदं सुन्दरतरं, वत्सेन विहितं हितम् । भवचक्रे यदायातस्त्वमत्र नगरे परे ॥४६४॥
इदं हि नगरं वत्स ! भूरिवृत्तान्तमन्दिरम् । अनेकाद्भुतभूयिष्ठं, विदग्धजनसङ्कुलम् ॥४६५॥
विलोकयति यः सम्यगेतद्धि नगरं जनः । तेन सर्वमिदं दृष्टं, भुवनं सचराचरम् ॥४६६॥
अथवा किमनेन बहुना ?—
धन्याऽस्मि, कृतकृत्याऽस्मि, यस्या मे दृष्टिगोचरम् । स्वत एवागतोऽसि त्वं, वत्स ! मद्रत्नपुञ्जकः ॥४६७॥
मयोक्तमम्ब ! यद्येवं, ततो मे चारु वेधसा । इदं संपादितं हन्त, मीलितोऽहं यदम्बया ॥४६८॥
अधुना दर्शयत्वम्बा, प्रसादेन विशेषतः । ममेदं वत निःशेषं, भवचक्रं महापुरम् ॥४६९॥
ततः सा बाढमित्युक्त्वा, तात ! मार्गानुसारिता । समस्तं भवचक्रं मे, सवृत्तान्तमदर्शयत् ॥४७०॥

[सात्त्विकमानसनगरादिदर्शनम्]

अथैकत्र मया दृष्टं, पुरं तत्र महागिरिः । तच्छिखरे रमणीयं च, निविष्टमपरं पुरम् ॥४७१॥
ततो मयोक्तं–
निवेदयाम्ब ? किंनाम पुरमेतदवान्तरम् । किंनामायं गिरिः किं च, शिखरे दृश्यते पुरम् ? ॥४७२॥
मार्गानुसारिता प्राह, वत्स ! नो लक्षितं त्वया ? सुप्रसिद्धमिदं लोके, पुरं सात्त्विकमानसं ॥४७३॥
एषोऽपि सुप्रसिद्धोऽत्र, विवेकवरपर्वतः । प्ररूढमप्रमत्तत्वमिदं च शिखरं जने ॥४७४॥
इदं तु भुवनख्यातं, वत्स ! जैनं महापुरम् । तत्र विज्ञातसारस्य, कथं प्रष्टव्यतां गतम् ? ॥४७५॥
यावत्सा कथयत्येवं, मम मार्गानुसारिता । तावज्जातोऽपरस्तत्र, वृत्तान्तस्तं निबोध मे ॥४७६॥
गाढं प्रहारनिर्भिन्नो, नीयमानः सुविह्वलः । पुरुषैर्वेष्टितो दृष्टो, मयैको राजदारकः ॥४७७॥
ततो मयोक्तं—
क एष दारको मातः ! किं वा गाढप्रहारितः । कुत्र वा नीयते लग्नाः, के वाऽमी परिचारकाः ? ॥४७८॥

[संयमपराभव]

मार्गानुसारिता प्राह, विद्यतेऽत्र महागिरौ ! राजा चारित्रधर्माख्यो यतिधर्मस्तु तत्सुतः ॥४७९॥
तस्यायं संयमो नाम, पुरुषः ख्यातपौरुषः । एकाकी च क्वचिद्दृष्टो, महामोहादिशत्रुभिः ॥४८०॥
ततो बहुत्वाच्छत्रूणां, प्रहारैर्जर्जरीकृतः । अयं निर्वाहितो वत्स ! रणभूमेः पदातिभिः ॥४८१॥
अमी पदातयो वत्स ! नेष्यन्तीमं स्वमन्दिरे । अस्य चात्र पुरे जैने, सर्वे तिष्ठन्ति बान्धवाः ॥४८२॥
मयोक्तं—

सामभेदोपदानानि, दण्डश्चेति चतुष्टयम्। नीतीनां सर्वकार्येषु, पर्यालोच्यं विजानता ॥५३६॥
तथा—

¹आन्वीक्षिकी ²त्रयी वार्ता, दण्डनीतिस्तथा परा।
विद्याश्चतस्रो भूपानां, किलैता सन्ति गोचरे ॥५३७॥

तदेतद्देवपादानां, भवतश्च विशेषतः। प्रतीतमेव निःशेषं, वर्ण्यतां किं ? महत्तम ! ॥५३८॥
केवलं ज्ञातशास्त्रोऽपि, स्वावस्थां यो न बुध्यते। तस्याकिञ्चित्करं ज्ञानमन्धस्येव सुदर्पणः ॥५३९॥
प्रवर्तेताविवेकेन, यो ह्यसाध्येऽपि वस्तुनि। लोके स जायते हास्यः, समूलश्च विनश्यति ॥५४०॥
ततश्च—इदं मूलविनष्टं हि, तात ! सर्वं प्रयोजनम्। अतोऽद्य तावकोत्साहः, कुत्र नामोपयुज्यताम् ? ॥५४१॥

[सद्बोधेन स्वाभिप्रायप्रकाशन]

यतः—भवचक्रमिदं सर्वं, वयं ते च महाऽरयः। स कर्मपरिणामाख्यो, यश्च राजा महाबलः ॥५४२॥
आयत्तं सर्वमेवेदं, तस्यैकस्य महात्मनः। तात ! संसारिजीवस्य, यस्यायत्ता महाटवी ॥५४३॥ युग्मम्।
स चाद्यापि न जानीते, नामापि खलु मादृशाम्। महामोहादिसैन्यं तु, मन्यते गाढवल्लभम् ॥५४४॥
इतश्च—यत्र संसारिजीवस्य, पक्षपातो बलेऽधिकः। तस्यैव विजयो नूनं, स हि सर्वस्य नायकः ॥५४५॥
ततो यावन्न जानीते, सोऽस्माकं सैन्यमुत्तमम्। यावच्च पक्षपातोऽस्य, नाद्याप्यस्मासु जायते ॥५४६॥
तावन्न युक्तः संरम्भो, न यानं न च विग्रहः। युक्तं साम तदा स्थानमुपेक्षा गजमीलिका। ५४७॥ युग्मम्।
संकुचन्ति हि विद्वांसः, कार्यं संचिन्त्य किंचन। केसरी गजनिर्घाते, यथोत्पातविधित्सया ॥५४८॥
न पौरुषं गलत्यत्र, नश्यतोऽपि विजानतः। सिंहो ह्यपसरत्येव, बृहदास्फोटदित्सया ॥५४९॥
सम्यग्दर्शनेनोक्तं—
आर्य ! संसारिजीवोऽसौ, न जाने ज्ञास्यते न वा। अस्मानेतेऽरयो नित्यमधुनैवं विबाधकाः ॥५५०॥
तदद्य संयमस्तावदित्थमेभिः कदर्थितः। श्वः सर्वानपि हन्तारस्ततः स्थातुं न युज्यते ॥५५१॥
सद्बोधेनोक्तं—

[संसारिजीवजागृतिक्रम]

आर्य ! मोत्तालतां कार्षीः, कालसाध्ये प्रयोजने। ध्रुवं संसारिजीवोऽसौ, ज्ञास्यते नः कदाचन ॥५५२॥
यतः—स कर्मपरिणामाख्यो, नरेन्द्रोऽत्र बलद्वये। समानपक्षपातेन, सदा प्रायेण वर्तते ॥५५३॥
इतश्च—तस्य संसारिजीवोऽपि, निःशेषं कुरुते वचः। अतोऽस्मानेष तस्योच्चैः, कदाचिज्ज्ञापयिष्यति ॥५५४॥
ततश्च—ज्ञाताः संसारिजीवेन, सप्रसादेन पूजिताः। वयमार्य ! भविष्यामः, शत्रुनिर्दलनक्षमाः ॥५५५॥

केवलमसावपि कर्मपरिणामः क्वचिदवसरे पर्यालोच्य महत्तमभगिन्या सह लोकस्थित्या पृष्ट्वा चापरं निजभार्यां कालपरिणतिं कथयित्वाऽऽत्मीयमहत्तमाय स्वभावाय कृत्वा विदितं नियतियदृच्छादीनां निजपरिजनानामनुकूलयित्वा संसारिजीवस्यैव महादेवी भवितव्यतामपेक्ष्य 'सप्रसादोऽयमि' ति विज्ञप्ति-

---

(१) तर्कशास्त्रम्। (२) ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, भगवद्गीता चेति त्रयीशब्देन प्रोच्यन्ते।

कावसरं ततः संसारिजीवस्य समस्तमस्मद्वृत्तान्तं सर्वेषामभिरुचिते सति विज्ञापयिष्यति, ततः प्रतिबन्धकाभावाल्लगिष्यति सा विज्ञप्तिका, भविष्यति संसारिजीवोऽस्मासु सप्रसादः, ततश्च-

निर्मूलान्नाशयिष्यामः, शत्रूनेतान्महत्तम ! । तेन कालविलम्बोऽत्र, रुचितो मे प्रयोजने ॥५५६॥

सम्यग्दर्शनेनोक्तं-यद्येवं प्रेष्यतां तावद्दूतस्तेषां दुरात्मनाम् । न लङ्घयन्ति मर्यादां, येन ते दूतभर्त्सिताः ॥५५७॥

सद्बोधेनोक्तं-न कार्यं तत्र दूतेन, प्रहितेन महत्तम ! । तिष्ठामस्तावदत्रैव, वक्रवन्निभृतेन्द्रियाः ॥५५८॥

सम्यग्दर्शनेनोक्तं-

न भाव्यमतिभीतेन, भवता पुरुषोत्तम ! सुरुष्टा अपि ते पापाः, किं करिष्यन्ति मादृशाम् ? ॥५५९॥

अन्यच्च-यदि नो रोचते तात ! दूतस्ते दण्डपूर्वकः । ततः सन्धिविधानार्थं, सामपूर्वः प्रहीयताम् ॥५६०॥

सद्बोधेनोक्तं-आर्य ! मा मैवं वोचः, यतः-

कोपाध्माते कृतं साम, कलहस्य विवर्धकम् । जाज्वलीति हि तोयेन, तप्तं सर्पिर्न संशयः ॥५६१॥

अथवा-फलेन दृश्यतामेतत्पूर्यतां ते कुतूहलम् । येन संपद्यते तात ! प्रत्ययो मम जल्पिते ॥५६२॥

दूतः प्रहीयतां तेषां, यदि देवाय रोचते । ततो विज्ञाय तद्भावमुचितं हि करिष्यते ॥५६३॥

[*सत्याभिधानदूतप्रेषणम्*]

अथ चारित्रधर्मेण, सद्वाक्यमनुमोदितम् । ततस्तैः प्रहितो दूतः, **सत्याख्यः** शत्रुसंहतेः ॥५६४॥

अथ दूतानुमार्गेण, साऽपि मार्गानुसारिता । गता तात ! मया सार्धं, महामोहबले तदा ॥५६५॥

प्रमत्ततानदीतीरे, **चित्तविक्षेप**मण्डपे । दृष्टश्च विहितास्थानो, **महामोह**महानृपः ॥५६६॥

अथ दूतः स सत्याख्यस्तत्रास्थानेऽरिपूरिते । प्रविष्टः प्रतिपत्त्या च, निविष्टः शुभविष्टरे ॥५६७॥

ततः पृष्टतनूदन्तो, वाक्यमेवमुदारधीः स प्राह साहसाढ्योऽपि, कोपाग्नेः शान्तिकाम्यया ॥५६८॥

चित्तवृत्तिमहाटव्या यः प्रभुः परमेश्वरः । लोके संसारिजीवोऽसौ, तावद्वो मूलनायकः ॥५६९॥

बहिरङ्गान्तरङ्गाणां, संसारोदरचारिणाम् । राज्ञां ग्रामपुराणां च, स स्वामी नात्र संशयः ॥५७०॥

एवं च स्थिते-यूयं वयं च ये चान्ये, केचिदान्तरभूभुजः । ते कर्मपरिणामाद्याः सर्वे तस्यैव किङ्कराः ॥५७१॥

ततश्चैकमिदं राज्यं, सर्वेषामेक एव च । स्वामी संसारिजीवोऽतः, को विरोधः परस्परम् ? ॥५७२॥

यतः-शक्ताः स्वस्वामिनो भक्ताः, संहताश्च भवन्ति भोः । भृत्या बन्धूपमा नैव, स्वपक्षक्षयकारकाः ॥५७३॥

तदस्तु सततानन्दमतःप्रभृति सुन्दरम् । युष्माभिः सह राजेन्द्र ! प्रेम नः प्रीतिवर्धनम् ॥५७४॥

[*महामोहसभाक्षोभ*]

इदं सत्योदितं सत्यं, वाक्यमाकर्ण्य सा सभा । महामोही महाक्षोभमथ प्राप्ता मदोद्धुरा ॥५७५॥

ततश्च-दष्टोष्ठा रक्तसर्वाङ्गा, भूमिताडनतत्पराः । क्रोधान्धबुद्धयः सर्वे, समकालं प्रभाषिताः ॥५७६॥

अरे रे दुष्ट ! केनेदं, दुरात्मंस्ते निवेदितम् । यथा संसारिजीवो नः, स्वामी सम्बन्धिनो वयम् ॥५७७॥

पातालेऽपि प्रविष्टानां, नास्ति मोक्षः कथंचन । युष्माकमालजालेन, किमनेन ? नराधमाः ! ॥५७८॥

संसारिजीवो नः स्वामी, यूयं सम्बन्धिनः किल । अहो सम्बन्धघटना, अहो वाक्यमहो गुणाः ॥५७९॥

तत्तूर्णं गच्छ गच्छेति, देवतास्मरणोद्यताः । यूयं भवत शान्त्यर्थमेते वो वयमागताः ॥५८०॥

अम्बिके!-दृष्ट्वेमं यत्करिष्यन्ति, शत्रुभिः परिपीडितम्। चारित्रधर्मराजाद्या, बृहन्मे तत्र कौतुकम् ॥४८३॥
अतो महाप्रसादेन, नीत्वा मां गिरिमस्तके। अधुना दर्शयत्वम्बा, स्वामिनोऽस्य विचेष्टितम् ॥४८४॥

मार्गानुसारितयोक्तं-वत्सैवं क्रियते,

ततस्तदनुमार्गेण, विवेकगिरिमस्तके। आरूढा सा मया सार्धं, तत्र मार्गानुसारिता ॥४८५॥
अथ तत्र पुरे जैने, राजमण्डलमध्यगः। दृष्टश्चित्तसमाधाने, मण्डपे स महानृपः ॥४८६॥
नामतो गुणतः सर्वे, वर्णिताश्च पृथक् पृथक्। ममाग्रे ते महीपालास्तया विज्ञाततत्त्वया ॥४८७॥
इतश्च तैर्नरैस्तूर्णं समानीतः स संयमः। दर्शितश्च नरेन्द्रस्य, वृत्तान्तश्च निवेदितः ॥४८८॥

[चारित्रधर्मराजसभाया सम्भ्रमः]

ततस्तं तादृशं ज्ञात्वा, शत्रुजन्यं पराभवम्। तत्रास्थाने समस्तास्ते, सुभटाः क्षोभमागताः ॥४८९॥
ततश्च—भीमध्वानैः कराघातप्रकम्पितमहीतलैः। तैर्जातं तत्सदः क्षोभविभ्रान्तोदधिसन्निभम् ॥४९०॥
केचिन्मुञ्चन्ति हुङ्कारं, कुपितान्तकसन्निभाः। भुजमास्फालयन्त्यन्ये, पुलकोद्भेदसुन्दराः ॥४९१॥
रोषरक्ताननाः केचिज्जाता भृकुटिभीषणाः। अन्ये तूत्तानितोरस्काः, खड्गे विन्यस्तदृष्टयः ॥४९२॥
क्रोधान्धबुद्धयः केचित्संपन्ना रक्तलोचनाः। अन्ये स्फुटाट्टहासेन, गर्जिताखिलभूधराः ॥४९३॥
अन्येऽन्तस्तापसंरम्भाद्विगलत्स्वेदबिन्दवः। केचिद्रक्ताङ्गभीमाभाः, साक्षादिव कृशानवः ॥४९४॥
अतस्तं तादृशं वीक्ष्य, क्षुभितं राजमण्डलम्। चारित्रधर्मराजेन्द्रं, सद्बोधः प्रत्यभाषत ॥४९५॥
देव! नैष सतां युक्तो, धीराणां कातरोचितः। अकालनीरदारावसन्निभः क्षोभविभ्रमः ॥४९६॥
तस्मादेते निवार्यन्तामलमुत्तालमानसाः। राजानः क्रियतामेषामभिप्रायपरीक्षणम् ॥४९७॥
ततो निवारणाकूतलीलया प्रविलोकिताः। चारित्रधर्मराजेन, क्षणं मौनेन ते स्थिताः ॥४९८॥

उक्ताश्च ते तेन नराधिपेन—

यथा भो भो महीपाला! ब्रूत यद्वो विवक्षितम्। एवं व्यवस्थिते कार्ये, किमत्र क्रियतामिति? ॥४९९॥
एतच्चाकर्ण्य-सत्यशौचतपस्त्यागब्रह्माद्यास्ते नराधिपाः। प्रवृद्धरसोत्साहा, योद्धुकामाः प्रभाषिताः ॥५००॥
इत्थं महापराधे तैः, संयमस्य कदर्थने। प्रसह्य विहिते देव! किमद्यापि विलम्ब्यते? ॥५०१॥
येऽपराधक्षमाऽपथ्यसेवया वृद्धिमागताः। तेषामुच्छेदनं देव! केवलं परमौषधम् ॥५०२॥
अन्यच्चेह कुतस्तावत्सुरगन्धोऽपि मादृशाम्?। न यावत्ते हताः पापा, महामोहादिशत्रवः ॥५०३॥
यावच्च देवपादानां, नेच्छा तत्र प्रवर्तते। नैव संपद्यते तावद्, घातस्तेषां दुरात्मनाम् ॥५०४॥ युग्मम्।
यतः—एकैकोऽपि भटो नाथ! तावकीनो महाहवे। सर्वान्निर्दलयत्येव, कुरङ्गानिव केसरी ॥५०५॥
क्षणेन स्नावयन्तीमे, क्षुभिताम्भोधिविभ्रमाः। रिपुसैन्यं न चेदेषां, स्यात्तवाज्ञा विधारिका ॥५०६॥
एवं च ते महीपालाः, शौण्डीरा रणशालिनः। सर्वेऽपि स्वामिनोऽध्यक्षमेकवाक्यतया स्थिताः ॥५०७॥
रणकण्डूपरीताङ्गांस्तानेवं वीक्ष्य भूभुजः। दुर्दान्तमत्तमातङ्गनिर्दारिहरिसन्निभान् ॥५०८॥
स राजा मन्त्रिणा सार्धं, सद्बोधेन सभान्तरे। प्रविष्टो गुह्यमन्त्रार्थमाहूय च महत्तमम् ॥५०९॥
अथ तत्रापि सा तात! साध्वी मार्गानुसारिता। अन्तर्धानं विधायोच्चैः, प्रविष्टा सहिता मया ॥५१०॥

[सम्यग्दर्शनोक्ति]

ततस्तत्रोचितं राज्ञा, पृष्टौ मन्त्रिमहत्तमौ । स सम्यग्दर्शनस्तावद्राजानं प्रत्यभाषत ॥५११॥
देव ! यत्सुभटैः प्रोक्तं, सत्याद्यैः सत्यविक्रमैः । तदेव प्राप्तकालं ते, कर्तुं को ह्यत्र संशयः ? ॥५१२॥
यतः—
वध्यानां दुष्टचित्तानामपकारं सुदुःसहम् । शत्रूणामीदृशं प्राप्य, मानी कः स्थातुमिच्छति? ॥५१३॥
वरं मृतो वरं दग्धो, मा संभूतो वर नरः । वरं गर्भे विलीनोऽसौ, योऽरिभिः परिभूयते ॥५१४॥
स धूलिः स तृण लोके, स भस्म स न किंचन । योऽरिभिर्मृद्यमानोऽपि, स्वस्थचित्तोऽवतिष्ठते ॥५१५॥
यस्यैकोऽपि भवेद्राज्ञः, शत्रुः सोऽपि जिगीषति । तत्ते न युज्यते स्थातुमनन्ता यस्य शत्रवः ॥५१६॥

[सद्बोधोक्ति]

अतो निर्भिद्य निःशेषं, शत्रुवर्गं नराधिप ! । निष्कण्टकां मही कृत्वा, ततो भव निराकुलः ॥५१७॥
तदेवमुद्धतं वाक्यमभिधाय महत्तमः । मौनेनावस्थितः सद्यः, कृत्वा कार्यविनिर्णयम् ॥५१८॥
अथाभिधातुं यत्कृत्यं, लीलामन्थरया दृशा । चारित्रधर्मराजेन, सद्बोधः प्रविलोकितः ॥५१९॥
ततो निर्णीय गर्भार्थं, कार्यतत्त्वस्य कोविदः । सद्बोधः सचिवः सारं, वाक्यमित्थमभाषत ॥५२०॥
साधु साधूदितं देव ! विदुषा तेन ते पुरः । संप्रत्यसाम्प्रतं वक्तुं, मादृशामत्र वस्तुनि ॥५२१॥
तथापि ते महाराज ! यन्ममोपरि गौरवम् । तदेव लम्भितोत्साहं, वाचालयति मादृशम् ॥५२२॥
ततः **सम्यग्दर्शन** प्रत्याह—
अहो तेजःप्रधानत्वमहो वाचि प्रगल्भता । अहो ते स्वामिभक्तत्वं, चारु चारु महत्तम ! ॥५२३॥
सत्य मानवता धीर ! दुःसहोऽरिपराभवः । सत्यं पराभिभूतस्य, लोके निःसारता परा ॥५२४॥
सत्य दुष्टाः शठा वध्या, महामोहादिशत्रवः । सत्यं तद्घातुकाः सर्वे, देवपादानुजीविनः ॥५२५॥
किं च—तिष्ठन्तु पुरुषास्तावद्देवशासनवर्तिनः । नार्योऽपि देवसैन्यस्य, तेषां निर्घातने क्षमा ॥५२६॥
किंतु—
प्रस्तावरहित कार्यं, नारभेत विचक्षणः । नीतिपौरुषयोर्यस्मात्प्रस्तावः कार्यसाधकः ॥५२७॥
अथवा देवपादानां, भवतश्च पुरो मया । नीतिशास्त्रं यदुच्येत, हन्त तत्पिष्टपेषणम् ॥५२८॥

[नीतिशास्त्रप्रकाशन]

तथाहि-षड् गुणाः पञ्च चाङ्गानि, शक्तित्रितयमुत्तमम् । सोदयाः सिद्धयस्तिस्रस्तथा नीतिचतुष्टयम् ॥५२९॥
चतस्रो राजविद्याश्च, यच्चान्यदपि तादृशम् । प्रतीतं युवयोः सर्वं, तद्धि किं तस्य वर्ण्यते ? ॥५३०॥ यतः -
स्थानं यान तथा सन्धिर्विग्रहश्च परैः सह । संश्रयो द्वैधभावश्च, षड् गुणाः परिकीर्तिताः ॥५३१॥
तथा-**उपायः कर्मसंरम्भे, विभागो देशकालयोः । पुरुषद्रव्यसम्पच्च, प्रतिकारस्तथापदाम् ॥५३२॥**
पञ्चमी कार्यसिद्धिश्च, पर्यालोच्यमिदं किल । अङ्गानां पञ्चकं राज्ञा, मन्त्रमार्गं विजानता ॥५३३॥
तथा—**उत्साहशक्तिः प्रथमा, प्रभुशक्तिर्द्वितीयिका ।**
तृतीया मन्त्रशक्तिश्च, शक्तित्रयमिद परम् ॥५३४॥
शक्तित्रितयसंपाद्यास्त्रय एवोदयास्तथा । हिरण्यमित्रभूमीनां, लाभा सिद्धित्रयं विदुः ॥५३५॥ तथा—

सामभेदोपदानानि, दण्डश्चेति चतुष्टयम्। नीतीनां सर्वकार्येषु, पर्यालोच्यं विजानता ॥५३६॥
तथा—

¹आन्वीक्षिकी ²त्रयी वार्ता, दण्डनीतिस्तथा परा।
विद्याश्चतस्रो भूपानां, किलैता सन्ति गोचरे ॥५३७॥

तदेतद्देवपादानां, भवतश्च विशेषतः । प्रतीतमेव निःशेषं, वर्ण्यतां किं ? महत्तम ! ॥५३८॥
केवलं ज्ञातशास्त्रोऽपि, स्वावस्थां यो न बुध्यते। तस्याकिञ्चित्करं ज्ञानमन्धस्येव सुदर्पणः ॥५३९॥
प्रवर्तेताविवेकेन, यो ह्यसाध्येऽपि वस्तुनि । लोके स जायते हास्यः, समूलश्च विनश्यति ॥५४०॥
ततश्च–इदं मूलविनष्टं हि, तात ! सर्वं प्रयोजनम् । अतोऽद्य तावकोत्साहः, कुत्र नामोपयुज्यताम् ? ॥५४१॥

[सद्बोधेन स्वाभिप्रायप्रकाशन]

यतः–भवचक्रमिदं सर्वं, वयं ते च महाऽरयः । स कर्मपरिणामाख्यो, यश्च राजा महाबलः ॥५४२॥
आयत्तं सर्वमेवेदं, तस्यैकस्य महात्मनः । तात ! संसारिजीवस्य, यस्यायत्ता महाटवी ॥५४३॥ युग्मम् ।
स चाद्यापि न जानीते, नामापि खलु मादृशाम् । महामोहादिसैन्यं तु, मन्यते गाढवल्लभम् ॥५४४॥
इतश्च–यत्र संसारिजीवस्य, पक्षपातो बलेऽधिकः । तस्यैव विजयो नूनं, स हि सर्वस्य नायकः ॥५४५॥
ततो यावन्न जानीते, सोऽस्माकं सैन्यमुत्तमम् । यावच्च पक्षपातोऽस्य, नाद्याप्यस्मासु जायते ॥५४६॥
तावन्न युक्तः संरम्भो, न यानं न च विग्रहः। युक्तं साम तदा स्थानमुपेक्षा गजमीलिका । ५४७॥ युग्मम्।
संकुचन्ति हि विद्वांसः, कार्यं संचिन्त्य किंचन। केसरी गजनिर्घाते, यथोत्पातविधित्सया ॥५४८॥
न पौरुषं गलत्यत्र, नश्यतोऽपि विजानतः । सिंहो ह्यपसरत्येव, बृहदास्फोटदित्सया ॥५४९॥
सम्यग्दर्शनेनोक्तं–
आर्य ! संसारिजीवोऽसौ, न जाने ज्ञास्यते न वा । अस्मानेतेऽरयो नित्यमधुनैवं विबाधकाः ॥५५०॥
तदद्य संयमस्तावदित्थमेभिः कदर्थितः । श्वः सर्वानपि हन्तारस्ततः स्थातुं न युज्यते ॥५५१॥
सद्बोधेनोक्तं–

[संसारिजीवजागृतिक्रम]

आर्य ! मोचालतां कार्षीः, कालसाध्ये प्रयोजने । ध्रुवं संसारिजीवोऽसौ, ज्ञास्यते नः कदाचन ॥५५२॥
यतः–स कर्मपरिणामाख्यो, नरेन्द्रोऽत्र बलद्वये । समानपक्षपातेन, सदा प्रायेण वर्तते ॥५५३॥
इतश्च–तस्य संसारिजीवोऽपि, निःशेषं कुरुते वचः । अतोऽस्मानेष तस्योच्चैः, कदाचिज्ज्ञापयिष्यति ॥५५४॥
ततश्च—ज्ञाताः संसारिजीवेन, सप्रसादेन पूजिताः । वयमार्य ! भविष्यामः, शत्रुनिर्दलनक्षमाः ॥५५५॥

केवलमसावपि कर्मपरिणामः क्वचिदवसरे पर्यालोच्य महत्तमभगिन्या सह लोकस्थित्या पृष्ट्वा चावसरं निजभार्यां कालपरिणतिं कथयित्वाऽऽत्मीयमहत्तमाय स्वभावाय कृत्वा विदितं नियतियदृच्छादीनां निजपरिजनानामनुकूलयित्वा संसारिजीवस्यैव महादेवी भवितव्यतामपेक्ष्य 'सप्रसादोऽयमि' ति निज्ञप्ति-

(१) तर्कशास्त्रम्। (२) ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, भगवद्गीता चेति त्रयीशब्देन प्रोच्यन्ते ।

कावसरं ततः संसारिजीवस्य समस्तमस्मद्वृत्तान्तं सर्वेषामभिरुचिते सति विज्ञापयिष्यति, ततः प्रतिबन्धकाभावाल्लगिष्यति सा विज्ञप्तिका, भविष्यति संसारिजीवोऽस्मासु सप्रसादः, ततश्च–

निर्मूलान्नाशयिष्यामः, शत्रूनेतान्महत्तम ! । तेन कालविलम्बोऽत्र, रुचितो मे प्रयोजने ॥५५६॥

सम्यग्दर्शनेनोक्तं-यद्येवं प्रेष्यतां तावद्दूतस्तेषां दुरात्मनाम् । न लङ्घयन्ति मर्यादां, येन ते दूतभर्त्सिताः ॥५५७॥

सद्बोधेनोक्तं–न कार्यं तत्र दूतेन, प्रहितेन महत्तम ! । तिष्ठामस्तावदत्रैव, बकवन्निभृतेन्द्रियाः ॥५५८॥

सम्यग्दर्शनेनोक्तं–

न भाव्यमतिभीतेन, भवता पुरुषोत्तम ! सुरुष्टा अपि ते पापाः, किं करिष्यन्ति मादृशाम् ? ॥५५९॥

अन्यच्च–यदि नो रोचते तात ! दूतस्ते दण्डपूर्वकः । ततः सन्धिविधानार्थं, सामपूर्वः प्रहीयताम् ॥५६०॥

सद्बोधेनोक्तं–आर्य ! मा मैवं वोचः, यतः–

कोपाध्माते कृत साम, कलहस्य विवर्धकम् । जाज्वलीति हि तोयेन, तप्तं सर्पिर्न संशयः ॥५६१॥

अथवा–फलेन दृश्यतामेतत्पूर्यतां ते कुतूहलम् । येन संपद्यते तात ! प्रत्ययो मम जल्पिते ॥५६२॥

दूतः प्रहीयतां तेषां, यदि देवाय रोचते । ततो विज्ञाय तद्भावमुचितं हि करिष्यते ॥५६३॥

[सत्याभिधानदूतप्रेषणम्]

अथ चारित्रधर्मेण, तद्वाक्यमनुमोदितम् । ततस्तैः प्रहितो दूतः, **सत्याख्यः** शत्रुसंहतेः ॥५६४॥

अथ दूतानुमार्गेण, साऽपि मार्गानुसारिता । गता तात ! मया सार्धं, महामोहबले तदा ॥५६५॥

प्रमत्ततानदीतीरे, **चित्तविक्षेप**मण्डपे । दृष्टश्च विहितास्थानो, **महामोह**महानृपः ॥५६६॥

अथ दूतः स सत्याख्यस्तत्रास्थानेऽरिपूरिते । प्रविष्टः प्रतिपत्त्या च, निविष्टः शुभविष्टरे ॥५६७॥

ततः पृष्टतनूदन्तो, वाक्यमेवमुदारधीः स प्राह साहसाढ्योऽपि, कोपाग्नेः शान्तिकाम्यया ॥५६८॥

चित्तवृत्तिमहाटव्या यः प्रभुः परमेश्वरः । लोके संसारिजीवोऽसौ, तावद्भो मूलनायकः ॥५६९॥

बहिरङ्गान्तरङ्गाणां, संसारोदरचारिणाम् । राज्ञां ग्रामपुराणां च, स स्वामी नात्र संशयः ॥५७०॥

एवं च स्थिते–यूयं वयं च ये चान्ये, केचिदान्तरभूभुजः । ते कर्मपरिणामाद्याः सर्वे तस्यैव किङ्कराः ॥५७१॥

ततश्चैकमिदं राज्यं, सर्वेषामेक एव च । स्वामी संसारिजीवोऽतः, को विरोधः परस्परम् ? ॥५७२॥

यतः–शक्ताः स्वस्वामिनो भक्ताः, संहताश्च भवन्ति भोः । भृत्या बन्धूपमा नैव, स्वपक्षक्षयकारकाः ॥५७३॥

तदस्तु सततानन्दमतःप्रभृति सुन्दरम् । युष्माभिः सह राजेन्द्र ! प्रेम नः प्रीतिवर्धनम् ॥५७४॥

[महामोहसभाक्षोभ.]

इदं सत्योदितं सत्यं, वाक्यमाकर्ण्य सा सभा । महामोही महाक्षोभमथ प्राप्ता मदोद्धुरा ॥५७५॥

ततश्च–दष्टोष्ठा रक्तसर्वाङ्गा, भूमिताडनतत्पराः । क्रोधान्धबुद्धयः सर्वे, समकालं प्रभाषिताः ॥५७६॥

अरे रे दुष्ट ! केनेदं, दुरात्मंस्ते निवेदितम् । यथा संसारिजीवो नः, स्वामी सम्बन्धिनो वयम् ॥५७७॥

पातालेऽपि प्रविष्टानां, नास्ति मोक्षः कथंचन । युष्माकमालजालेन, किमनेन ? नराधमाः ! ॥५७८॥

संसारिजीवो नः स्वामी, यूयं सम्बन्धिनः किल । अहो सम्बन्धघटना, अहो वाक्यमहो गुणाः ॥५७९॥

तत्तूर्णं गच्छ गच्छेति, देवतास्मरणोद्यताः । यूयं भवत शान्त्यर्थमेते वो वयमागताः ॥५८०॥

एवं च–सहस्ततालमुत्तालाः, प्रविहस्य परस्परम् तथाऽन्ये निष्ठुरैर्वाक्यैः, कृत्वा दूतकदर्थनम् ॥५८१॥
चलितास्तत्क्षणादेव, क्रोधान्धास्ते महीभुजः । संनद्धबद्धकवचा, महामोहपुरस्सराः ॥५८२॥ युग्मम् ।

[चारित्र मोहयोर्युद्ध]

सत्येनापि समागत्य, सर्वं तच्चेष्टितं प्रभोः । चारित्रधर्मराजस्य, विस्तरेण निवेदितम् ॥५८३॥
अथाभ्यर्णगतं मत्वा, महामोहमहाचमूम् । चारित्रधर्मराजीयं संनद्धमखिलं बलम् ॥५८४॥
ततः परिसरे रम्ये, लग्नमायोधनं तयोः । चित्तवृत्तिमहाटव्यां, सैन्ययोः कृतविस्मयम् ॥५८५॥

तच कीदृशं–विलसितभटकोटिसद्धानहेतिप्रभाजालविस्तारसञ्चारनिर्नाशिताशेषतामिस्रमेकत्र चारित्रधर्मानुसञ्चारिराजेन्द्रवृन्दैरतोऽन्यत्र दुष्टाभिसन्ध्यायनेकप्रचण्डोग्रभूपेन्द्रशृङ्गाङ्गसच्छायकायप्रभोल्लासवद्रान्धकारप्रतानप्रनष्टाखिलज्ञानसद्योतसन्तानजातम् । ततो भीषणे तादृशे कातराणां नराणां महाभीतिसम्पादके वादिताने कचिन्नोकवादित्रनिर्घातसंत्रासिताशेषसंसारसञ्चारिजीवौघसंग्रामसम्मर्दनालोकिसत्सिद्धविद्याधरे भो! रणे ते महामोहराजेन्द्रसत्का भटाः । पाटयन्तः परानीकमुद्रेल्लिता [इतस्ततः]॥५८६॥ ततश्च–

बहुदारुणशस्त्रशतैः प्रहतं, दलिताखिलवारणवाजिरथम् ।
श्रुतिभीषणवैरिनिनादभयात्तदशेषमकम्पत धर्मबलम् ॥ ५८७ ॥

[मोहराजविजय ।]

ततश्चारित्रधर्मोऽसौ, सबलो बलशालिना । महामोहनरेन्द्रेण, जितस्तात ! महाहवे ॥५८८॥
नंष्ट्वा प्रविष्टः स्वस्थाने, ततस्ते रिपवस्तकम् । लसत्कलकलारावा, रोधयित्वा व्यवस्थिताः ॥५८९॥
ततः परिणतं राज्यं, महामोहनराधिपे । चारित्रधर्मराजस्तु, निरुद्धोऽभ्यन्तरे स्थितः ॥५९०॥
मार्गानुसारिता प्राह, दृष्टं तात ! कुतूहलम् । सुष्ठु दृष्टं मयाप्युक्तमम्बिकायाः प्रमादतः ॥५९१॥
केवलं कलहस्यास्य, मूलमम्ब ! परिस्फुटम् । अहं विज्ञातुमिच्छामि, तन्निवेदय साम्प्रतम् ॥५९२॥
मार्गानुसारिता प्राह, रागकेसरिणोऽग्रतः । योऽयं दृष्टस्त्वया वत्स ! मन्त्री निर्व्याजनैपुणः ॥५९३॥
अनेन मन्त्रिणा पूर्वं, जगत्साधनकाम्यया । मानुषाणि प्रयुक्तानि, पश्चात्मीयानि कुत्रचित् ॥५९४॥
अभिभूतानि तानीह, सन्तोषेण पुरा किल । चारित्रधर्मराजस्य, तन्त्रपालेन लीलया ॥५९५॥
तन्निमित्तः समस्तोऽयं, जातोऽमीषां परस्परम् । कलहो वत्स ! साटोपमन्तरङ्गमहीभुजाम् ॥५९६॥

मयाऽभिहितं–अम्बिके ! किन्नामानि तानि मानुषाणि कथं वा पञ्चैतानि जगत्साधयन्ति ?
मार्गानुसारितयोक्तं–वत्स विचार ! स्पर्शरसनाघ्राणदृष्टिश्रोत्राणि तान्यभिधीयन्ते, तानि च–

स्पर्शे रसे च गन्धे च, रूपे शब्दे च देहिनाम् । आक्षेपं मनसः कृत्वा, साधयन्ति जगत्त्रयम् ॥५९७॥
किंच–एकैकं प्रभवत्येषां, वशीकर्तुं जगत्त्रयम् । यत्पुनर्वत्स ! पञ्चापि, तत्र किं चित्रमुच्यताम् ॥५९८॥
ततो मयोक्तं संपूर्णं, देशदर्शनकौतुकम् । अधुना तातपादानां, पार्श्वे यास्यामि सत्वरम् ॥५९९॥
तयोक्तं गम्यतां वत्स ! निरूप्य जनचेष्टितम् । अहमप्यागमिष्यामि, तत्रैव तव सन्निधौ ॥६००॥

[विचारस्य प्रत्यागमन]

अथाहमागतस्तूर्णं, निश्चित्यैवं प्रयोजनम् । ततस्तात ! वयस्योऽय, घ्राणनामा न सुन्दरः ॥६०१॥
वञ्चको मुग्धबुद्धीनां, पर्यटत्येष देहिनाम् । मानुषाणां तृतीयोऽयं, रागकेसरिमन्त्रिणाम् ॥६०२॥
यावन्निवेदयत्येवं, बुधाय निजदारकः । मार्गानुसारिता तावदायाता भो नरेश्वर ! ॥६०३॥

समर्थितं तया सर्वं, विचारकथितं वचः । त्यजामि घ्राणमित्येवं, बुधस्यापि हृदि स्थितम् ॥६०४॥
इतश्च-भुजङ्गतासमायुक्तो, घ्राणलालनलालसः । मन्दः सुगन्धिगन्धानां, सदाऽन्वेषणतत्परः ॥६०५॥
तत्रैव नगरे भूप ! लीलावत्याः कथंचन । स देवराजभार्याया, भगिन्या भवने गतः ॥६०६॥
ततश्च-सपत्नीपुत्रघातार्थं, तस्मिन्नेव क्षणे तया । आत्तो डोम्बीकराद्गन्धसंयोगो मारणात्मकः ॥६०७॥
ततश्च-तां गन्धपुटिकां द्वारे, मुक्त्वा लीलावती गृहे । प्रविष्टा स च संप्राप्तो, मन्दः सा तेन वीक्षिता ॥६०८॥
ततो भुजङ्गताऽऽदेशाच्छोटयित्वा निरूपिताः । दत्ता घ्राणाय ते गन्धास्ततस्तेन दुरात्मना ॥६०९॥
ततश्चाघूर्णिते घ्राणे, तैर्गन्धैस्तस्य मूर्च्छया । स्नेहमोहितचित्तत्वात्स मन्दः प्रलयं गतः ॥६१०॥
ततो विनष्टमालोक्य, घ्राणलालनलम्पटम् । तं मन्दं घ्राणसम्पर्काद्विरक्तो नितरां बुधः ॥६११॥

[बुधसूरिवृत्तान्तोपसंहार]

ततश्च सा बुधेनेदं, पृष्टा मार्गानुसारिता । भद्रे ! कथं ममानेन, संसर्गो न भविष्यति ? ॥६१२॥
मार्गानुसारिता प्राह, देव ! हित्वा भुजङ्गताम् । तिष्ठ त्वं साधुमध्यस्थः, सदाचारपरायणः ॥६१३॥
ततोऽयं विद्यमानोऽपि, दोषसंश्लेषकारणम् । न ते संपत्स्यते देव ! ततस्त्यक्तो भविष्यति ॥६१४॥
बुधेनापि कृतं सर्वं, विज्ञाय हितमात्मने । मार्गानुसारितावाक्यं, तत्तदा प्राप्य सद्गुरुम् ॥६१५॥
ततो गृहीतदीक्षोऽसौ, साध्वाचारपरायणः । विज्ञातागमसद्भावो, गुरूपासनतत्परः ॥६१६॥
आचार्यैः पात्रतां मत्वा, गच्छनिक्षेपकाम्यया । उत्पन्नलब्धिमाहात्म्यः, सूरिस्थाने निवेशितः ॥६१७॥
स एष भवतां भूप ! सत्प्रबोधविधित्सया । विहाय गच्छमेकाकी, बुधसूरिः समागतः ॥६१८॥
योऽयं निवेदयत्येवं, शृण्वन्ति च भवादृशाः । सोऽहमेव धरानाथ ! बुधनामेति गृह्यताम् ॥६१९॥
प्रबोधकारणं भूप ! तदिदं संविधानकम् । मम संपन्नमेतद्धि, तुल्यं युष्मादृशामपि ॥६२०॥
यतः-विचरन्ति सदा तानि, मानुषाणि जगत्त्रये । तत्पृष्ठतोऽनुधावन्ति, महामोहादिशत्रवः ॥६२१॥
ततश्च-यो यस्तैः प्राप्यते प्राणी, स सर्वो गाढदारुणैः । निर्भिद्य खण्डशः कृत्वा, क्षणेनैव विलुप्यते ॥६२२॥
इदमेव परं भूप ! निर्भयस्थानमुत्तमम् । अमीभिर्लुप्यमानस्य, जैनेन्द्रं वरशासनम् ॥६२३॥
एवं च ज्ञाततत्त्वानां, प्रवेष्टुमिह युज्यते । न युक्तं क्षणमप्येकं, धरानाथ ! विलम्बितुम् ॥६२४॥
त्यज्यन्तां विषया भूप ! कालकूटविषोपमाः । आस्वाद्यतामिद दिव्यं, प्रशमामृतमुत्तमम् ॥६२५॥
ततो धवलराजेन, विहस्य विमलः क्षणम् । तथा सर्वेऽपि ते लोकाः, साकूतं प्रविलोकिताः ॥६२६॥
उक्तं च-भो भो लोका ! यदादिष्टं, भदन्तेन महात्मना । इदमाकर्णितं चित्ते, लग्नं च भवतां वचः ? ॥६२७॥
ततस्ते बुधसद्भानोः, प्रतापेन प्रबोधिताः । कमलाकरसङ्काशाः, प्रोत्फुल्लमुखपङ्कजाः ॥६२८॥
भक्त्या ललाटपट्टेषु, विन्यस्तकरकुड्मलाः । सर्वेऽपि लोकास्तत्रेद, समकालं प्रभाषिताः ॥६२९॥
वाढमाकर्णितं देव ! वचोऽस्माभिर्महात्मनः । विज्ञातस्तस्य सद्भावो, महाभागप्रसादतः ॥६३०॥
विधूयाज्ञानतामिस्रं, मनोऽनेन प्रकाशितम् । जीविताश्चामृतेनेव, मिथ्यात्वविषघूर्णिताः ॥६३१॥
तल्लग्नमिदमस्माकं, चित्ते गाढं मुनेर्वचः । संपाद्यतां तदादिष्टं, मा विलम्बो विधीयताम् ॥६३२॥

[धवलराजादिप्रतिबोध दीक्षाग्रहणं च]

एतच्चाकर्ण्य राजेन्द्रः, परं हर्षमुपागतः । ततो राज्याभिषेकार्थे, विमलं प्रत्यवोचत ॥६३३॥
गृह्णामि पुत्र ! प्रव्रज्यां, राज्यं त्वमनुशीलय । पुण्यैर्मे भगवानेष, संपन्नो गुरुरुत्तमः ॥६३४॥
विमलः प्राह किं तात ! नाहं ते चित्तवल्लभः । येन दुःखाकरे राज्ये, मां स्थापयितुमिच्छसि ? ॥६३५॥
इत्थं क्षिपसि मां तात ! संसारे दुःखपूरिते । स्वयं गच्छसि निर्वाणमहो ते तात ! चारुता ॥६३६॥
ततो गाढतरं तुष्टस्तच्छ्रुत्वा वैमलं वचः । साधु साधूदितं वत्स ! न मुञ्चामीत्यभाषत ॥६३७॥
ततः कमलनामानं, राज्ये संस्थाप्य पुत्रकम् । विधाय जिनपूजां च, दिनान्यष्ट मनोहराम् ॥६३८॥
तथा दत्त्वा महादानं, विधाय च महोत्सवम् । विहिताशेषकर्तव्यः, शुभकाले समाहितः ॥६३९॥
विमलेन समं राजा, सपत्नीकः सबान्धवः । सपौरलोकः सहसा, निष्क्रान्तो विधिपूर्वकम् ॥६४०॥ किं बहुना ?—
यैः समाकर्णितं सूरेस्तद्वाक्यममृतोपमम् । तेषां मध्ये जनाः स्तोका, ये गृहेषु व्यवस्थिताः ॥६४१॥
तेऽपि चावाप्तसम्यक्त्वा, व्रतरत्नविभूषिताः । जाता रत्नाकरे प्राप्ते, कः स्याद्दारिद्र्यभाजनम् ? ॥६४२॥

[वामदेवाऽप्रतिबोधकारणम्]

अहं तु भद्रे ! तत्रापि, वामदेवतया स्थितः । दृष्ट्वा तत्तादृशं सूरेः, रूपनिर्माणकौशलम् ॥६४३॥
श्रुत्वा तत्तादृशं वाक्यं, महामोहतमोऽपहम् । तथापि च न बुद्धोऽस्मि, तत्राकर्णय कारणम् ॥६४४॥
याऽसौ बहुलिका पूर्वं, योगिनी भगिनी मम । शरीरेऽनुप्रविष्टाऽऽसीत्सा मे तत्र विजृम्भिता ॥६४५॥
ततोऽगृहीतसङ्केते ! तद्वशेन दुरात्मना । स तादृशो महाभागो, वञ्चकः परिकल्पितः ॥६४६॥
चिन्तितं च मया हन्त, मुनिवेषविडम्बकः । सिद्धेन्द्रजालचातुर्यः, कश्चिदेष समागतः ॥६४७॥
अहो शाठ्यमहो जालमहो वाचालताऽतुला । अहो मूढा नरेन्द्राद्या, येऽमुनाऽपि प्रतारिताः ॥६४८॥
तथाहि- अङ्गे बहुलिका येषां, प्रवर्तेत दुरात्मनाम् । ते हि सर्वं शठप्रायं, मन्यन्ते भुवनत्रयम् ॥६४९॥
तदेवं तं बुधाचार्यं, तदाऽलीकविकल्पनैः । विकल्पयन्नहं भद्रे ! न प्रबुद्धो दुरात्मकः ॥६५०॥
प्रव्रज्यावसरे तेषां, राजादीनां मया पुनः । इदं विचिन्तितं भद्रे ! स्वचित्ते पापकर्मणा ॥६५१॥
अये !--प्रव्रज्यां ग्राहयेदेष, विमलो मां बलादपि । आदितो वञ्चयित्वेमं, ततो नश्यामि सत्वरम् ॥६५२॥
बद्ध्वा मुष्टिद्वयं गाढं, ततोऽहं तारलोचने ! । तथा नष्टो यथा नैव, गन्धमप्येष बुध्यते ॥६५३॥
अथ दीक्षादिने प्राप्ते, विमलेन महात्मना । क्व वामदेव ! इत्येवं, सर्वत्राहं निरूपितः ॥६५४॥
अदृष्ट्वा मां पुनः पृष्टो, बुधसूरिर्महात्मना । क्व गतो वामदेवोऽसौ ? किं वा सचिन्त्य कारणम् ? ॥६५५॥
ज्ञानालोकेन विज्ञाय, विमलाय निवेदितम् । ततो मदीयचरितं, निःशेषं बुधसूरिणा ॥६५६॥
विमलेनोदितं नाथ ! किं न भव्यः स मे सुहृत् । श्रुतेऽपि तावके वाक्ये, येनैवं बत चेष्टते ? ॥६५७॥
सूरिणाऽभिहितं भद्र ! नाभव्यः किं तु कारणम् । यत्तस्य तादृशे शीले, तत्ते सर्वं निवेदये ॥६५८॥
एका बहुलिका नाम, भगिनी तस्य वल्लभा । अस्त्यन्तरङ्गा भ्राता च, द्वितीयः स्तेयनामकः ॥६५९॥
ताभ्यामधिष्ठितेनेदं, वामदेवेन चेष्टितम् । पुरा च विहितं तात ! रत्नस्य हरणादिकम् ॥६६०॥
तस्मात्तस्य न दोषोऽयं, प्रकृत्या सुन्दरो हि सः । स्तेयो बहुलिका चास्य, दोषसंश्लेषकारणम् ॥६६१॥
विमलेनोदितं नाथ ! किं ताभ्यां स वराककः । कच्चिन्मुच्येत पापाभ्यां ? किं वा नेति निवेद्यताम् ॥६६२॥

[स्तेयबहुलिकामोचनोपाय·]

सूरिराह महाभाग ! भूरिकालेऽतिलङ्घिते । स ताभ्यां मोक्ष्यते तत्र, कारणं ते निवेद्यताम् ॥६६३॥
शुभाभिसन्धिनृपतेः, पुरे विशदमानसे । भार्ये स्तो निर्मलाचारे, शुद्धता-पापभीरुते ॥६६४॥
तयोश्च गुणसंपूर्णे, जनताऽऽनन्ददायिके । ऋजुताऽचौरते नाम, विद्येते कन्यके शुभे ॥६६५॥
अत्यन्तसरला साध्वी, सर्वलोकसुखावहा । ऋजुता सा महाभाग ! प्रतीतैव भवादृशाम् ॥६६६॥
अचौरतापि लोकेऽत्र, निःस्पृहा शिष्टवल्लभा । सर्वाङ्गसुन्दरी नूनं, विदितैव भवादृशाम् ॥६६७॥
ते च कन्ये क्वचिद्धन्ये, सुहृत्ते परिणेष्यति । स्तेयोऽयं बहुला चास्य, ततो भो ! न भविष्यतः ॥६६८॥
तयोराभ्यां सहावस्था, प्रकृत्यैव न विद्यते । ततस्तात ! तयोर्लाभे, द्वाभ्यामप्येष मोक्ष्यते ॥६६९॥
ततो न योग्यताऽद्यापि, वामदेवस्य विद्यते । धर्मं प्रतीति निश्चित्य, कुरु तस्यावधीरणम् ॥६७०॥
ततश्चेदं मुनेर्वाक्यं, विमलेन महात्मना । श्रुत्वा तथेति वदता, विहिता मेऽवधीरणा ॥६७१॥

[वामदेवकृत. सरलगृहे धनापहार]

अहं तु प्राप्तः काञ्चनपुरे प्रविष्टो हट्टमार्गे दृष्टः सरलो नाम वाणिजः गतस्तस्यापणे विजृम्भिता बहुलिका कृतमस्य पादपतनं नटेनेव भृतमानन्दोदकस्य नयनयुगलम् । तदवलोक्यार्द्रीभूतः सरलः, ततोऽभिहितमनेन—भद्र ? किमेतत् ! मयोक्तं-तात ! युष्मानवलोक्य मयाऽऽत्मजनकस्य स्मृतम् । सरलेनोक्तं-यद्येवं ततो वत्स ! पुत्र एवासि त्वं, ततो नीतोऽहमनेन स्वभवने समर्पितो बन्धुमत्याः स्वभार्यायाः कारितः स्नानभोजनादिकं पृष्टो नामकुलादिकं निवेदितं मया 'सजातीयोऽयमि'ति तुष्टः सरलः, अभिहितमनेन—अपुत्रयोः प्रिये ! पुत्रो वृद्धयोः परिपालकः । दत्तः संचिन्त्य देवेन, वामदेवोऽयमावयोः ॥६७२॥

तदाकर्ण्य हृष्टा बन्धुमती निक्षिप्तं सरलेन मय्येव गृहं दर्शितमापणनिहितं रत्नादिकमन्तर्धनं, स च तस्यैव मूर्च्छया मया सहितस्तत्रैवापणे स्वपिति स्म । अन्यदा सन्ध्यायामावयोर्गृहे तिष्ठतोः समागतः सरलस्य बन्धुलनाम्नः प्रियमित्रस्य गृहादाह्वायकः, यथा मम पुत्रस्य षष्ठीजागरे भवताऽऽगत्येह वस्तव्यमिति । ततोऽभिहितोऽहं सरलेन—पुत्र ! वामदेव ! गन्तव्यं मया बन्धुलगृहे त्वं पुनरापणे गत्वा वसेति । मयोक्तं-अलं मे तातरहितस्यापणे गमनेनाद्य तावदम्बाया एव पादमूले वत्स्यामि । ततोऽहो स्नेहसारोऽयमिति चिन्तयन्नेवं भवत्विति वदन् गतः सरलः । स्थितोऽहं गृहे रात्रौ विजृम्भितः स्तेयः चिन्तितं मया हरामि तदन्तर्धनं, ततोऽर्धरात्रे गतस्तमापणं, उद्घाटयतश्च समागता दण्डपाशिकाः दृष्टोऽहमेतैः प्रत्यभिज्ञातश्च ततः पश्यामस्तावत्किमेषोऽर्धरात्रे करोत्यापणमुद्घाट्येति संचिन्त्य स्थितास्तूष्णींभावेन प्रच्छन्नाः । तत्खातं मया तदन्तर्धनं निखातं तस्यैवापणस्य पश्चाद्भागे, विभातप्रायायां च रजन्यां कृतो हाहारवः मीलितो नगरलोकः संप्राप्तः सरलः प्रकटीभूता दण्डपाशिकाः प्रवृत्तः कलकलः ।

[दण्डपाशिकैः राजसमीपे नयनम्]

सरलेनोक्तं—वत्स ! वामदेव किमेतत् ? मयोक्तं हा तात ! मुषिता मुषिताः स्म इति, दर्शितश्चोद्घाटित आपणो निधानस्थानं च, सरलेनोक्तं-पुत्र ! त्वया कथमिदं ज्ञातं ? मयोक्तं-अस्ति तावन्निर्गतस्तातः ततो मे तातविरहवेदनया नागता निद्रा स्थितः शय्यायां विपरिवर्तमानः रात्रिशेषे च चिन्तितं मया—अपि ! यदि परमेतस्यां तातस्पर्शपूतायां आपणशय्यायां निद्रासुखं संपद्यते नान्यत्रेति संचिन्त्य समागतो-

ऽहमापणे दृष्टमिदमीदृशं चौरनिलसितं ततः कृतो हाहारव इति । दण्डपाशिकैश्चिन्तितं—निश्चितमेतत्तस्करोऽयं दुरात्मा वामदेवः, अहो अस्यालजालचातुर्यं अहो वाचालता अहो वञ्चकत्वं अहो कृतघ्नता अहो विश्रम्भघातित्वमहो पापिष्ठतेति । ततस्तैरुक्तं -'श्रेष्ठिन्निराकुलो भव लब्ध एवास्तेऽस्माभिश्चौर', ततः साकूतमवलोकितं सर्वैर्मदाभिमुखं, ज्ञातोऽहमेतैरिति संजातं मे भयं, ततः पुनः सलोप्त्रं ग्रहीष्याम इत्यालोच्य गतास्तावद्दाण्डपाशिकाः दत्तो ममावरक्षकः अनेककुविकल्पाकुलस्य मे लङ्घितं तद्दिनं सन्ध्यायां गृहीत्वा तदन्तर्धनं पलायमानोऽहं गृहीतो दण्डपाशिकैः जातः कोलाहलः मिलितं पुनर्नगरं कथितो दण्डपाशिकैः समस्तोऽपि लोकाय मदीयव्यतिकरः संजातो मच्चरितेन विस्मयः नीतोऽहं रिपुसूदनराजसमीपे आज्ञापितस्तेन वध्यतया, समागतः सरलः पतितो नृपचरणयोः, अभिहितमनेन -

ममायं पुत्रको देव ! वामदेवोऽतिवल्लभः । अतो मेऽनुग्रहं कृत्वा, मुच्यतामेष बालकः ॥६७३॥
गृह्यतां मम सर्वस्वं, मैष देव ! निपात्यताम् । अन्यथा जायते देव ! मरणं मे न संशयः ॥६७४॥
ततोऽतिसरलं मत्वा, सरलं तं नराधिपः । अमुञ्चन्मां प्रसादेन, तस्यायच्छच्च तद्धनम् ॥६७५॥
केवलं सरलस्तेन, तदा प्रोक्तो महीभुजा । श्रेष्ठिन्नेष सुपुत्रस्ते, समीपे मम तिष्ठतु ॥६७६॥
यतः--अयं विषाङ्कुराकारस्तस्करो जनतापकः । तदेष मद्गृहाद्बाह्यो, वामदेवो न सुन्दरः ॥६७७॥

[वामदेवस्य दयनीयदशाया भ्रमणम्]

इतश्च--पुरापि दुर्बलीभूतः, साम्प्रतं नष्ट एव सः । पुण्योदयो वयस्यो मे, दृष्ट्वा तद्दुष्टचेष्टितम् ॥६७८॥
ततश्च--श्रेष्ठिना प्रतिपन्ने तन्नरेन्द्रवचनं तदा । धिक्कारविहतो दीनः, स्थितोऽहं राजमन्दिरे ॥६७९॥
राजदण्डभयादुग्राद्भयेन प्रशमं गते । भद्रे ! निवसतस्तत्र, ते मे स्तेयबहूलिके ॥६८०॥
तथापि लोको मां भद्रे ! सर्वकार्येषु शङ्कते । अन्येनापि कृतं चौर्यं, ममोपरि निपात्यते ॥६८१॥
ब्रुवाणस्यापि सद्भूतं, न प्रत्येति च मे जनः । धिक्कारैर्हन्ति मामेवं, दृष्टा ते सत्यवादिता ॥६८२॥
सर्वस्योद्वेगजनकः, कृष्णाहेस्तुल्यतां गतः । तत्रागृहीतसङ्केते ! बहुकालं विडम्बितः ॥६८३॥
अन्यदा श्रीगृहं राज्ञो, विद्यासिद्धेन केनचित् । निःशेषं मुषितं भद्रे ! स च चौरो न लक्षितः ॥६८४॥
ततोऽहं दृष्टदोषत्वादस्यैवंविधसाहसम् । संभाव्यं नापरस्येति, ग्राहितस्तेन भूभुजा ॥६८५॥
अनेकयातनाभिश्च, नानारूपैर्विडम्बनैः । ततोऽहं गाढरुष्टेन, तेन भद्रे ! कदर्थितः ॥६८६॥
न स्थितः सरलस्यापि, वचनेन नराधिपः । उल्लम्बितो विशालाक्षि ! ततोऽहं विरटन्नलम् ॥६८७॥
अत्रान्तरे च सा जीर्णा, गुटिका मम पूर्विका । भवितव्यतया दत्ता, ततोऽन्या गुटिका मम ॥६८८॥
तस्याः प्रभावतो भद्रे ! तीव्रदुःखौघसम्पदि । गतः पापिष्ठवासार्यां, नगर्यामन्त्यपाटके ॥६८९॥
तत्रानुभूय दुःखानि, तीव्रानन्तानि विह्वलः । असंख्यकालं भूयोऽपि, गुटिकादानयोगतः ॥६९०॥
पञ्चाक्षपशुसंस्थाने, समागत्य पुरे ततः । भ्रान्तोऽहं बहुशोऽन्येषु, नगरेषु पुनः पुनः ॥६९१॥
तन्नास्ति नगरं भद्रे ग्रामो वा वरलोचने ! । मुक्त्वाऽसंव्यवहाराख्यं, बहुशो यन्न वीक्षितम् ॥६९२॥
तथापि पशुसंस्थाने, योषिदाकारधारकः । बहुशो बहुलिकादोषाद्विशेषेण विडम्बितः ॥६९३॥
सोढानि नानादुःखानि, स्थाने स्थाने मया तदा । ताभ्यां पापवयस्याभ्यां, प्रेरितेन वरानने ! ॥६९४॥

[प्रज्ञाविशालासंवेगभावना]

एवं वदति संसारिजीवे प्रज्ञाविशालया । इदं विचिन्तितं गाढं, संवेगापन्नचित्तया ॥६९५॥
अहो दुरन्तः स्तेयोऽसौ, माया चात्यन्तदारुणा । ययोरासक्तचित्तोऽयं, वराको भूरि नाटितः ॥६९६॥
तथाहि--वञ्चितस्तादृशोऽनेन, महात्मा विमलः पुरा । तन्माहात्म्येन लोके च, गतोऽयं तृणतुल्यताम् ॥६९७॥
सरलो वत्सलः स्निग्धो, मुषित्वा च प्रतारितः । प्राप्तोऽयं तत्प्रसादेन, तत्र घोरविडम्बनम् ॥६९८॥
तथा--यदयं तादृशेनापि, महाभागेन सूरिणा । बुधेन बोधितो नासीत्, सा माया तत्र कारणम् ॥६९९॥
त्राणस्यापि सद्भूतं, न प्रत्येति स्म यज्जनः । धिक्करोति च तत्रापि, सैव मायाऽपराध्यति ॥७००॥
यदन्यजनितेनापि, दोषेणायं विराधितः । संसारिजीवस्तत्रापि, स्तेयो माया च कारणम् ॥७०१॥
एवं चानन्तदोषाणामाकरस्ते दुरात्मिके । तथापि लोकः पापिष्ठः, स्तेयमाये न मुञ्चति ॥७०२॥
अन्यच्च--तथा संसारिजीवे भोः, कथयत्यात्मचेष्टितम् । स भव्यपुरुषस्तत्र, चिन्तयामास विस्मितः ॥७०३॥

[भव्यपुरुषसविस्मयविमर्शः]

अपूर्वमिदमस्याहो, तस्करस्यातिजल्पितम् । अतिचित्रमसंभाव्यं, लोकमार्गातिदूरगम् ॥७०४॥
अप्रसिद्धं ममात्यन्तं, हृदयाक्षेपकारि च । तदस्य परमार्थो यः, स मया नावधारितः ॥७०५॥
तथाहि पूर्वं तावदनेनोक्तं, यथाऽऽसीत्किल सर्वदा । पुरेसंऽव्यवहाराख्ये, वास्तव्योऽहं कुटुम्बिकः ॥७०६॥
कालं तत्र स्थितोऽनन्तं, भवितव्यतया सह । स्वकर्मपरिणामाख्यराजादेशेन निर्गतः ॥७०७॥
एकाक्षपशुसंस्थाने, तथाऽन्येषु च भूरिषु । तथाविधेषु स्थानेषु, भ्रान्तो दुःखैः प्रपूरितः ॥७०८॥
अन्यच्चेदमनेनोक्तमनन्तं कालमेकशः । सर्वेषु तेषु स्थानेषु, नाटितः किल भार्यया ॥७०९॥
तथाहि--**नन्दिवर्धन**रूपेण, **रिपुदारण**लीलया । **वामदेव**विधानेन, किलाहं भ्रमितस्तया ॥७१०॥
अतीतोऽनन्तकालश्च, सर्वेषामन्तराऽन्तरा । कृतान्यनन्तरूपाणि, तथाऽन्यानि स्वभार्यया ॥७११॥
गुटिकादानयोगेन, किलेदं विहितं तया । तदस्य चरितं सर्वं, विरुद्धमिव भासते ॥७१२॥
तथाहि- पुरुषश्चेत्कथं तस्य, स्थितिः कालमनन्तकम् । किं वाऽजरामरो हन्त, भविष्यत्येष तस्करः ॥७१३॥
तावत्कालस्थितिर्हन्त, का चेयं भवितव्यता ? । कथं वा निजभार्याऽपि, प्रतिकूलत्वमागता ! ॥७१४॥
का चेयं गुटिका नाम, महावीर्या यया कृतः । एकोऽप्यनन्तरूपोऽयं, भवितव्यतया तया ? ॥७१५॥
अन्यच्च- नगराण्यन्तरङ्गाणि, मित्राणि स्वजनास्तथा । येऽमुना गदितास्तेऽपि, न मया परिनिश्चिताः ॥७१६॥
तदिदं स्वप्नसङ्काशमिन्द्रजालाधिकं गुणैः । अस्य संसारिजीवस्य, चरितं प्रतिभाति मे ॥७१७॥
इयं च मुखरागेण, बुध्यमानेव लक्ष्यते । साध्वी प्रज्ञाविशालेदं, निःशेषं चरितं हृदि ॥७१८॥
अन्यच्च--इदं मे लेशतः सर्वं, निर्दिष्टमनया पुरा । अस्य संसारिजीवस्य, वृत्तं प्रज्ञाविशालया ॥७१९॥
केवलं विस्मृतप्राय, मम तद्वर्ततेऽधुना । अकाण्डे पृच्छतश्चेत्थं, संजायेत ममाज्ञता ॥७२०॥
तत्तावत्कथयत्वेष, तस्करो यद्विवक्षितम् । अहं तु प्रश्नयिष्यामि, पश्चादेनां रहःस्थिताम् ॥७२१॥
इद निश्चित्य हृदये, स भव्यपुरुषस्तदा । वचः संसारिजीवस्य, तूष्णीमाकर्णयन् स्थितः ॥७२२॥
मुखं संसारिजीवस्य, पश्यन्ती विस्मितेक्षणा । स्थिताऽगृहीतसङ्केता, सम्यगज्ञातभावना ॥७२३॥
सदागमस्तु भगवान्निःशेषं तस्य चेष्टितम् । वेत्ति संसारिजीवस्य, ततो मौनेन संस्थितः ॥७२४॥

[संसारिजीवस्य आनन्दनगरे प्रयाणम्]

संसारिजीवेनोक्तं--

अथाहमन्यदा भद्रे ! तुष्टया निजभार्यया । संजातकृपया प्रोक्तः, केनचिच्छुभकर्मणा ॥७२५॥

त्वयाऽऽर्यपुत्र ! गन्तव्यमधुना लोकविश्रुते । आनन्दनगरे तत्र, वस्तव्यं चारुलीलया ॥७२६॥

मयोक्तं–यद्देवि ! रोचते तुभ्यं, कर्तव्यं तन्मया ध्रुवम् । ततः पुण्योदयो भूयः, स तया मे निदर्शितः॥७२७॥

तथाऽन्यः **सागरो** नाम, सहायो मे निरूपितः । प्रस्तावोऽस्येति विज्ञाय, भवितव्यतया तया ॥७२८॥

उक्तं च–मूढतानन्दनो नाम, **रागकेसरिणोऽङ्गजः** । मयाऽयं विहितोऽद्यैव, सहायस्ते मनोहरः ॥७२९॥

ततोऽहं सहितस्ताभ्यां, सहायाभ्यां प्रवर्तितः । आनन्दनगरे गन्तुं, गुटिकादानयोगतः ॥७३०॥ इति ॥

ये घ्राणमायानृतचौर्यरक्ता, भवन्ति पापिष्ठतया मनुष्याः ।
इहैव जन्मन्यतुलानि तेषां, भवन्ति दुखानि विडम्बनाश्च ॥७३१॥
तथा परत्रापि च तेषु रक्ताः, पतन्ति संसारमहासमुद्रे ।
अनन्तदुखौघचितेऽतिरौद्रे तेषां ततश्चोत्तरणं कुतस्त्यम् ? ॥७३२॥
जैनेन्द्रादेशतो वः कथितमिदमहो लेशतः किञ्चिदत्र,
प्रस्तावे भावसारं कृतविमलधियो गाढमभ्यस्थचित्ताः !
एतद्विज्ञाय भो भो मनुजगतिगता ज्ञाततत्त्वा मनुष्याः !
स्तेयं मायां च हित्वा विरहयत ततो घ्राणलाम्पट्यमुच्चैः ॥७३३॥

॥ इति श्रीसिद्धर्षिमुनिविहितायामुपमितिभवप्रपञ्चकथायां
मायास्तेयघ्राणेन्द्रियविपाकवर्णनः
पञ्चमः प्रस्तावः ॥



॥ षष्ठः प्रस्तावः ॥



[आनन्दपुर-केसरिभूप-हरिशेखरादि]

अथास्ति सततानन्दमन्दिरं दोपदूरगम् । आनन्दनामकं लोके बहिरङ्गं महापुरम् ॥ १ ॥
विलासोल्लासलावण्यललिता लोचनैर्नराः । सोन्मेपैर्यत्र भाव्यन्ते, देवेभ्योऽभिन्नमूर्तयः ॥ २ ॥
आकृष्टदृष्टयो नृणां, नार्यो निष्पन्दलोचनाः । यत्र संपादयन्त्युच्चैरमराकारधारिताम् ॥ ३ ॥
चित्रांशुरत्नसञ्चारतारं यत्र विभाव्यते । आखण्डलधनुर्दण्डखण्डमण्डितमम्बरम् ॥ ४ ॥
परेभकुम्भनिर्भेदवर्धितोत्साहसाहसः । तत्राक्रान्तमहीपीठः, **केसरी** नाम भूपतिः ॥ ५ ॥
अनेकसुन्दरीवृन्दमध्ये लब्धपताकिका । देवी कमलपत्राक्षी, तस्यास्ति **जयसुन्दरी** ॥ ६ ॥
अथास्ति नगरे तत्र, वल्लभस्तस्य भूपतेः । निःशेषनगराधारो, वाणिजो **हरिशेखरः** ॥ ७ ॥
येन मेघायितं दानादर्थिसस्येषु सर्वदा । सुहृत्कमलखण्डेषु, सततं भास्करायितम् ॥ ८ ॥
तस्यास्ति हृदयस्येष्टा, लावण्यामृतकुण्डिका । साध्वी **बन्धुमती** नाम, भार्याऽऽर्यकुलसम्भवा ॥ ९ ॥
या रूपमिव रूपस्य, प्रत्यादेश इव श्रियः । आवास इव शीलस्य, भर्तृभक्तेस्तु मन्दिरम् ॥ १० ॥

[धनशेखरजन्म]

अथागृहीतसङ्केते ! भवितव्यतया तया । तदाऽहं गुटिकादानात्तस्याः कुक्षौ प्रवेशितः ॥ ११ ॥
ततः संपूर्णकालेन, मित्राभ्यां परिवारितः । नरकादिव निष्क्रान्तो, योनियन्त्रनिपीडितः ॥ १२ ॥
ततो बन्धुमती तुष्टा, मुदितो हरिशेखरः । संजातं पुत्रजन्मेति, कारितश्च महोत्सवः ॥ १३ ॥
आनन्दपूर्वकं ताभ्यां, द्वादशाहेऽतिलङ्घिते । प्रतिष्ठितं च मे नाम, यथाऽयं **धनशेखरः** ॥ १४ ॥
जातावपि मया सार्धं, तौ पुण्योदयसागरौ । अन्तरङ्गवयस्यौ मे, जनकाभ्यां न लक्षितौ ॥ १५ ॥
ततोऽहं सहितस्ताभ्यां, वर्धमानः सुखैः किल । संप्राप्तो यौवनं भद्रे ! मीनकेतनमन्दिरम् ॥ १६ ॥
अथ कञ्चित्समासाद्य, कलाचार्यं तदा मया । एकां धर्मकलां मुक्त्वा, गृहीताः सकलाः कलाः ॥ १७ ॥
संपादिताः स्ववीर्येण, चित्तकल्लोलकाश्च मे । तदाऽनेन वयस्येन, सागरेण क्षणे क्षणे ॥ १८ ॥

[सागरमहिमा]

अथ कीदृशाः पुनस्ते सागरवीर्योल्लासिताश्चित्तकल्लोलाः संपादिताः ?—

धनमत्र जगत्सारं, धनमेव सुखाकरः । धनमेव जनश्लाध्यं, धनमेव गुणाधिकम् ॥ १९ ॥
धनमेव जगद्वन्द्यं, धनं तत्त्वमुत्तमम् । धनं हि परमात्मेति, धने सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥
धनेन रहितो लोके, पुरुषः परमार्थतः । तृणं भस्माशुचिर्धूलिर्यद्वा नास्त्येव किञ्चन ॥ २१ ॥
धनादिन्द्रो धनाद्देवा, धनादेते महीभुजः । अन्येभ्योऽभ्यधिका भान्ति, नान्यत्किञ्चन कारणम् ॥ २२ ॥
एको दाता परोऽर्थीति, स्वाम्येकः सेवकोऽपरः । पुरुषत्वे समानेऽपि, धनस्येदं विजृम्भितम् ॥ २३ ॥
तदत्र परमार्थोऽयं, सर्वयत्नेन तद्धनम् । स्वीकर्तव्यं नरेणोच्चैरन्यथा जन्म निष्फलम् ॥ २४ ॥

एवं च स्थिते—

कुलक्रमागतं भूरि, यद्यप्यस्ति गृहे धनम् । ममाऽऽत्मीयं तथाऽप्यन्यदर्जयामि ततोऽधिकम् ॥ २५ ॥
कुतः सुखासिका तावज्जायेत मम मानसे । विलसद्दीप्तयो यावन्न दृष्टा रत्नराशयः ? ॥ २६ ॥
गत्वा देशान्तरं कृत्वा, सर्वकर्माणि सर्वथा । मयाऽऽत्मभवनं कार्यं, रत्नराशिप्रपूरितम् ॥ २७ ॥
ततोऽनेकविकल्पैस्तैराकुलीकृतमानसः । तदाऽगृहीतसङ्केते ! ताताभ्यर्णमहं गतः ॥ २८ ॥

[धनार्जनाय विदेशाटनेच्छा]

उक्तं च मया—
तात ! मामनुजानीहि, धनोपार्जनकाम्यया । गच्छाम्यहं विदेशेषु, करोमि, पुरुषक्रियाम् ॥ २९ ॥
हरिशेखरेणोक्तं—विद्यते विपुलं वत्स ! कुलक्रमसमागतम् । धनं ते दानसम्भोगविलासकरणक्षमम् ॥ ३० ॥
तत्तदेव धनं वत्स ! नियुञ्जानो यथेच्छया । गृहे तिष्ठ न शक्तोऽस्मि, स्थातुं हि रहितस्त्वया ॥ ३१ ॥
मयोक्तं--या पूर्वपुरुषैस्तात ! भूरिलक्ष्मीरुपार्जिता । तां भुञ्जानस्य सत्पुंसः, कथं न त्रपते मनः ? ॥ ३२ ॥
मातेव स्तनपानेन, सा बालैः परिभुज्यते । अवाप्तपौरुषाणां तु, तद्भोगो लज्जनीयकः ॥ ३३ ॥
भुज्यमाना च सा तात ? कियत्कालं भविष्यति ? । बिन्दुभिः क्षयमायाति, समुद्रोऽप्यनुपार्जनः ॥ ३४ ॥
तन्मे धनार्जनोत्साहं, न तातो भङ्क्तुमर्हति । अत एव विसोढव्या, तातेन विरहव्यथा ॥ ३५ ॥
किं बहुना ?-यावद्भुजबलेनोच्चैर्नोपात्ता रत्नराशयः । गत्वा देशान्तरं तात ! तावन्मे न सुखासिका ॥ ३६ ॥
तत्सर्वथाऽपि गन्तव्ये, मदीयमनसि स्थिते । कथं विघातस्तातेन, गमनस्य विधीयताम् ? ॥ ३७ ॥
ततो विज्ञाय निर्बन्धं, तादृशं हरिशेखरः । मामुवाच तथा भद्रे ! स्नेहार्द्रीभूतमानसः ॥ ३८ ॥
यद्येष निश्चयो वत्स ! स्थितस्ते मनसि स्थिरः । तद्विधेहि निजाऽऽकूतं, पूर्यतां ते मनोरथः ॥ ३९ ॥

[पित्रानुशासनम्]

केवलं वत्स ! सुखलालितस्त्वमसि सरलः प्रकृत्या दवीयो देशान्तरं विषमा मार्गाः कुटिलहृदया लोकाः वञ्चनप्रवणाः कामिन्यः भूयांसो दुर्जनाः विरलविरलाः सज्जनाः प्रयोगचतुरा धूर्ताः मायाविनो वाणिजकाः दुष्परिपालं भाण्डजातं विकारकारि नवयौवनं दुरधिगमाः कार्यगतयः अनर्थरुचिः कृतान्तः अनपराधक्रुद्राश्चौरचरटादयः, तत्सर्वथा भवता क्वचित्पण्डितेन क्वचिन्मूर्खेण क्वचिद्दक्षिणेन क्वचिन्निष्ठुरेण क्वचिद्दयालुना क्वचिन्निष्कृपेण क्वचित्सुभटेन क्वचित्कातरेण क्वचित्त्यागिना क्वचित्कृपणेन क्वचिद्वकवृत्तिना क्वचिद्विदग्धेन सर्वथा परैरलब्धमध्यागाधदुग्धनीरधिधीरगम्भीरधिषणेन भवितव्यं, मयोक्तं--तात ! महाप्रसादः, सम्यगनुशिष्टोऽस्मि तातेन, पश्यतु च तातो मे बुद्धिपौरुषमाहात्म्यं, तथाहि-

सत्त्वमात्रधनो गत्वा, रूपकेण विवर्जितः । आगच्छेयं कृतार्थोऽहं, यदि तात ! पुनर्गृहम् ॥ ४० ॥
ततः—धनशेखरनामाहं, तव सूनुर्न संशयः । अन्यथा मृत एवास्मि, दातव्यो मे जलाञ्जलिः ॥ ४१ ॥
यतः—सार्थभाण्डसहायादिसामग्री धनसाधनीम् । प्राप्यार्जयति योषापि, धनं किमु युवा नरः ? ॥ ४२ ॥
मम त्वेष विशेषः स्यात्सामग्रीरहितोऽपि यत् । पूरयामि गृहं तात ! स्वोपात्तै रत्नराशिभिः ॥ ४३ ॥
एवं ब्रुवाणस्तातस्य, वन्दित्वा चरणद्वयम् । नत्वा चाम्बां सुतस्नेहजाताश्रुकृतदुर्दिनाम् ॥ ४४ ॥
कृतार्धस्फालको गेहान्निर्गतः कृतनिश्चयः । सार्धमन्तरमित्राभ्यां, ततोऽहं रुदतोरतयोः ॥ ४५ ॥

ततः पौरुषमवलम्ब्य स्थापिता रुदती हरिशेखरेण बन्धुमती, अभिहितमनेन—प्रियतमे ! मा रुदिहि, हर्षस्थानमेतत् , तथाहि—

या साहसविनिर्मुक्तमलसं दैवतत्परम् । निर्वीर्यं जनयेत्पुत्रं, सा हि रोदितुमर्हति ॥४६॥
त्वया तु जनितो धीरः, सुतोऽयं कुलभूषणः । निर्व्याजसाहसस्तस्मान्नास्ति रोदनकारणम् ॥४७॥
अयं नूनं गुणोऽस्माकं, व्यवसायपरायणः । यदेष पुत्रको जातस्ततो मुञ्च विषादिताम् ॥४८॥ इति ।

इतश्च निर्गतोऽहं नगराद्गन्तुं प्रवृत्तो दक्षिणसमुद्रवेलाकूलाभिमुखं प्राप्तश्च क्रमेणोदधितटाभ्यर्णवर्तिनि जयपुरे निषण्णो बहिष्कानने, तत्र तु चिन्तितुं प्रवृत्तः, कथं ?—

[धनार्जनोपायचिन्ता]

विलसल्लोलकल्लोलमालं किं मकराकरम् । लङ्घयित्वा व्रजाम्युच्चै रत्नद्वीपे धनाकरे ? ॥४९॥
किं वा रणे विनिर्भिद्य, हठादीश्वरमण्डलम् । तल्लक्ष्मीं स्वीकरोम्यस्या, न दुष्टो हि स्वयंग्रहः ॥५०॥
किं वा पाटितदोर्दण्डखण्डै रुधिरपिच्छलैः । चण्डिकां तर्पयित्वोच्चैस्तुष्टां तां धनमर्थये ॥५१॥
किं वा रात्रिदिवं शेषव्यापाररहितः स्वयम् । खनामि रोहणं यावत्पातालतलमुच्चकैः ॥५२॥
अहो गिरिदरीं गत्वा, संप्राप्य रसकूपिकाम् । धातुवादबलेनैव, दधे स्वर्णं यथेच्छया ॥५३॥
एवं विविधकल्लोलैर्धनोपार्जनकाम्यया । मित्रसागरवीर्येण, हतोऽहं बहुशस्तदा ॥५४॥
अत्रान्तरे सचिन्तस्य, दृष्टिस्तरलतारिका । पुरःस्थिते गता भद्रे ! मम किंशुकपादपे ॥५५॥
यावद्विनिर्गतस्तस्य, शाखाया वीक्षितो मया । प्रारोहो भूमिसंप्राप्तः, कृशीयान् कृतविस्मयः ॥५६॥

तं च किंशुकपादपप्रारोहमवलोक्य स्मृतो मयाऽभिनवशिक्षितः खन्यवादः, चिन्तितं च—नूनमस्त्यत्र किंचिद्धनजातं, यतोऽभिहितं खन्यवादे—

नास्त्येव क्षीरवृक्षस्य, प्रारोहो धनवर्जितः । स्तोकं वा भूरि वा तत्र, ध्रुवं बिल्वपलाशयोः ॥५७॥
प्रारोहे भूरि तत् स्थूले, तनुके स्तोकमुच्यते । रात्रौ ज्वलति तद्भूरि, सोष्मणि स्वल्पमीरितम् ॥५८॥
विद्धे तत्र भवेद्रक्तं, यदि रत्नानि लक्षयेत् । अथ क्षीरं ततो रूप्यं, पीतं चेत् कनकं भवेत् ॥५९॥
प्रारोह स्यादुपर्युच्चैर्यन्मात्रेऽधोऽपि तावति । प्रदेशे निहितं नूनं, विद्यते तन्निधानकम् ॥६०॥
उपरिष्टात्तनुश्चेत्स्यादधस्तात् पृथुलो यदि । प्रारोहोऽसौ निधिं प्राप्तो, विपरीतस्तु सोऽन्यथा ॥६१॥

ततो निरूपितोऽसौ मया पलाशपादपप्रारोहो यावत्तनुकः, तत्र चिन्तितं मया—स्तोकमत्र द्रविणं, ततो नखशुक्त्या विद्धोऽसौ मया यावन्निर्गतं पीतवर्णं क्षीरं, ततः स्थितं मम मानसे—यथा कनकेनात्र भवितव्यं,ततः प्रेरितोऽहं सागरेण तस्योत्खननार्थं, ततो 'नमो धरणेन्द्राय नमो धनदाय नमः क्षेत्रपालाये' ति पठता खातः प्रदेशो मया, दृष्टं दीनारभृतं ताम्रभाजनं, हृष्टः सागरः, परिगणितं प्रयत्नेन यावत्सहस्रमात्रं, तच्च मे तेन पुण्योदयेन निजवीर्येण संपादितं, मम तु तदा महामोहवशात्संजातः सागरे पक्षपातो ममेदमनेन जनितमिति भावनया ।

[जयपुरे बकुलश्रेष्ठिकन्योद्वाह]

ततः संपन्नं मे तावद्भाण्डमूल्यमिति तुष्टोऽहं चेतसा प्रविष्टो जयपुरेऽवतीर्णो हट्टमार्गे दृष्टो बकुलश्रेष्ठिना चोदितोऽसौ मत्पुण्योदयेन समागतो मम समीपं कृतं सम्भाषणं संजाता प्रीतिः प्रसारिताः स्नेह-

तन्तवः नीतोऽहं स्वभवने समादिष्टा भार्या-भोगिनि ! कुरुष्वातिथेयमस्मै । ततः कारितोऽहं मज्जनं परिधापितो विमलदुकूलयुगलं निवेशितो वरविष्टरे भोजितो मनोहारि भोजनं सह श्रेष्ठिना ग्राहितः सुरभि ताम्बूलं पृष्टः सप्रणयं कुलाभिधानादिकं यथाऽवस्थितमेव निवेदितं सर्वं मया, ततः कुलेन शीलेन यौवनेन रूपेण सर्वथाऽयमुचितो मद्दुहितुर्भर्तेति संचिन्त्य समुपस्थापिता मेऽपकर्णितमकरकेतनवधूरूपविभवा कमलिनी नाम कन्यका । शुभमुहूर्ते ग्राहितोऽहं पाणिमस्याः ततोऽभिहितोऽहं बकुलश्रेष्ठिना—वत्स ! स्वभवनमिदं ते ततोऽत्र निरुद्विग्नो वत्सया सह ललमानस्तिष्ठेति, मयोक्तं—

तात !-यावन्निजभुजाभ्यां भो, नार्जिता रत्नराशयः । तावत्सर्वामहं मन्ये, भोगलीलां विडम्बनाम् ॥६२॥

ततस्तात ! न दातव्यो, ममादेशोऽयमीदृशः । प्रस्थापय सुसार्थेन, रत्नद्वीपं व्रजाम्यहम् ॥६३॥

श्रेष्ठिनोक्तं—

यद्येवं ततः—अलं ते वत्स ! दुर्लङ्घ्यसागरोत्तरणेच्छया । मदीयधनमादाय, कुर्वत्रैव धनार्जनम् ॥६४॥

मयोक्तं—तात ! यद्येष ते निर्बन्धो यदुत न गन्तव्यमन्यत्र मया ततः—

भाण्डमूल्यं ममास्त्येव, न गृह्णामि च तावकम् । पृथग्गृहे स्थितस्तेन, पणेऽहं पृथगापणे ॥६५॥

[वाणिज्येन भूरिधनार्जनम्]

बकुलेनोक्तं—एवं कुरु, ततः प्रारब्धोऽहं वाणिज्यं विधातुं, तेन च सागरेण प्रियमित्रेण प्रतिक्षणं प्रेर्यमाणस्य मे विवर्धन्ते मनोरथकल्लोलाः विगलति धर्मबुद्धिः अपसरति दयालुता नश्यति सरलता प्रभवति धने तत्त्वबुद्धिः विघटते दाक्षिण्यं प्रलीयते सन्तोषोऽपीति । ततः संगृह्णामि धान्यानि भाण्डशालयामि कार्पासतैलादिकं स्वीकरोमि लाक्षां व्यवहरामि गुलिकया पीडयामि जन्तुसंसक्ततिलान् दाहयाम्यङ्गारान् छेदयामि वनं जल्पाम्यलीकं मुष्णामि मुग्धजनं वञ्चयामि विश्रब्धक्रायकं करोम्यूनाधिकं मानोन्मानेन विनिमयं सर्वथा—

न पिबामि तृषार्त्तोऽपि, न भुञ्जे च बुभुक्षितः । रात्रावपि न सुप्तोऽहं धनोपार्जनलोलुपः ॥६६॥

नैव भृङ्गायितं तस्याः, कमलिन्याः क्वचिन्मया । वदनाम्बुरुहे दिव्ये, धनाघूर्णितचेतसा ॥६७॥

ततश्च—तावता क्लेशजातेन, कालेन कमलेक्षणे ! । तद्दीनारसहस्रं मे, सार्धं वर्धयतः स्थितम् ॥६८॥

ततः प्रवृत्ता मे वाञ्छा, सहस्रद्वयमीलने । तत्रापि जाते जातोऽहं, दीनारायुतलालसः ॥६९॥

कथंचित्तच्च संपन्नं, ततो लक्षे मतिर्गता । नानोपायैर्मया भद्रे ! कृतं तस्यापि मीलनम् ॥७०॥

ततोऽपि लक्षदशके, सागरप्रेरितस्य मे । बुद्धिर्धावति कालेन, भूयसा तच्च मीलितम् ॥७१॥

ततः स सागरो भूयः, कोटीमीलनकाम्यया । उत्साहयति मां भद्रे ! नियुञ्जानः क्षणे क्षणे ॥७२॥

सा च पूर्वोक्तवाणिज्यैर्न कथंचित्प्रपूर्यते । ततः कृता बहूपायास्तस्याः पूरणकाम्यया ॥७३॥

तद्यथा—प्रवर्तिता देशान्तरेषु वृहद्गन्त्रीसार्थाः प्रस्थापिता महोष्ट्रमण्डलिकाः प्रेषितान्यनेकबोहित्थानि प्रवाहितानि रासभमण्डलानि निरूपिता भामहवाणिजकाः गृहीता राजकुलहस्तादेशाः कारितानि षण्ढपोषणानि विहिता धनोपार्जनगणिकाः समाश्रिता हेयवृत्तवृत्तिका विधापितो रससन्धानविक्रयः क्रापिता वरकरिदशनाः वापिता विविधकुपिसङ्घाताः प्रकीर्णानि महेक्षुकरणानि—

सर्वथा-नास्ति प्रायेण तल्लोके, धनोपार्जनसाधनम् । यत्तदा न कृतं भद्रे ! सागरस्येच्छया मया ॥७४॥
नास्ति मे पातकाशङ्का, न तदा क्लेशभीरुता । न सुखेच्छा न वा तोषस्तस्याज्ञावशवर्तिनः ॥७५॥
अथानेकमहापापैर्मया कालेन भूयसा । पुण्योदयस्य माहात्म्यात्सा कोटिः परिपूरिता ॥७६॥
ततः स सागरो भूयः, प्रवृत्तोत्साहसाहसः । अवाप्तप्रसरो नित्यं, प्रेरयत्येव मामलम् ॥७७॥
कथं ? यथेदं मत्प्रसादेन, संपन्नं विपुलं धनम् । तथोत्साहेन ते रत्नकोटयोऽपि न दुर्लभाः ॥७८॥

[रत्नप्राप्तये सागरलङ्घनेच्छा]

ततः संपादिता तेन, बुद्धिः सागरलङ्घने । मम रत्नौघलाभाय, दैवैरप्यनिवर्तिका ॥७९॥

ततः कथितो बकुलश्रेष्ठिने मया निजोऽभिप्रायः, तेनाभिहितं-वत्स !

यथा यथाऽयं पुरुषः, पूर्यते भूरिभिर्धनैः । तथा तथाऽस्य गुरवो, विवर्धन्ते मनोरथाः ॥८०॥
नैव ते विनिवर्तन्ते, रत्नकोटिशतैरपि । को हि वैश्वानरं दीप्तमिन्धनैस्तर्पयिष्यति ? ॥८१॥
तत्सन्तोषः परं श्रेयान्नार्जितं विपुलं धनम् । इदमेव नियुञ्जानस्तिष्ठात्रैव निराकुलः ॥८२॥

मयोक्तं--तात ! मा मैवं वद, यतः--

यावन्नरो निरारम्भस्तावल्लक्ष्मीः पराङ्मुखा । सारम्भे तु नरे लक्ष्मीः, स्निग्धलोलविलोचना ॥८३॥
आश्लिष्टमपि मुञ्चेत्सा, नरं साहसवर्जितम् । कुलटेव विटभ्रान्त्या, गृहीतं दुर्भगं नरम् ॥८४॥
निर्माप्य कार्यं योऽन्यत्र, दत्तधीस्तं निरीक्षते । कमला कुलबालेव, व्याक्षिप्तं लज्जया प्रियम् ॥८५॥
विषमस्थोऽपि यो धीरो, धनोत्साहं न मुञ्चति । वक्षःस्थले पतत्युच्चैस्तस्य लक्ष्मीः स्वयंवरा॥८६॥
यो बध्नाति धिया धीरो, विक्रमेण नयेन च । पद्मा प्रतीक्षते तं भो, यथा प्रोषितभर्तृका ॥८७॥
यस्तु स्तोकां समासाद्य, लक्ष्मीं तुष्यति मानवः । तं तुच्छप्रकृतिं मत्वा, सा लक्ष्मीर्नाभिवर्धते ॥८८॥
इत्येवं स्वगुणैः पद्मां, यो नरो नैव रञ्जयेत् । सिद्धोऽपि न भवेत्तस्य, प्रेमाबन्धश्चिरं तया ॥८९॥
तस्मान्न तोषः कर्तव्यो,विदुषा धनसङ्ग्रहे । अतस्तातोऽनुजानातु, रत्नद्वीपे गमं मम ॥९०॥

श्रेष्ठिनोक्तं-वत्स !

पाताले मेरुशिखरे, रत्नद्वीपे गृहेऽपि च । पूर्वोपात्तं भवेत् पुंसः, सोद्यमस्येतरस्य च ॥९१॥
तथापि यदि निर्बन्धस्तवायमतुलस्ततः । अनुज्ञातो मया वत्स ! गम्यतां यत्र रोचते ॥९२॥

[रत्नद्वीप प्रति प्रयाण]

मयोक्तं-तात ! महाप्रसादः । ततो गृह्यन्ते भाण्डानि उपचर्यन्ते निर्यामकाः गण्यते गमनदिनं विचार्यते लग्नशुद्धिः निरूप्यन्ते निमित्तानि क्रियन्तेऽवश्रुतयः संस्मर्यन्तेऽभीष्टदेवताः पूज्यते समुद्रदेवः सज्जीक्रियन्ते सितपटाः ऊर्ध्वीक्रियन्ते कूपकस्तम्भाः बध्यन्ते काष्ठसञ्चयाः भ्रियन्ते जलभाजनानि आरोप्यते भाण्डोपस्करः विधीयते रणसामग्री मील्यन्ते तद्द्वीपगामिनः सांयात्रिका इति ।

संपूर्णसर्वसामग्र्या, सममन्यैर्महाधनैः । स्थितोऽहं गमने सज्जो, हित्वा भार्यां पितुर्गृहे ॥९३॥
अथ प्राप्ते शुभे काले, कृतनिःशेषमङ्गलः । यानपात्रे समारूढो, मित्राभ्यां परिवारितः ॥९४॥

चलत्सु च यानपात्रेषु प्रहतानि तूराणि प्रवादिताः शङ्खाः प्रगीतानि मङ्गलानि पठन्ति पटुबटवः आशिषं ददतो निवर्तन्ते गुरुजनाः दैन्यमवलम्बन्ते मुक्तप्रियतमाः हृष्टविषण्णो मित्रलोकः मनोरथप्रवणाः सज्जना इति, एवं च—

पूरयित्वाऽर्थिसङ्घातं, कृत्वा कालमहोत्सवम् । अनुकूले समद्वाते, सर्वेऽपि चलिता वयम् ॥९५॥

ततः पूरिताः सितपटाः उत्क्षिप्ता नङ्गराः चलिताश्चावल्यकाः दत्तावधानाः कर्णधाराः पतितानि वर्तन्यां यानपात्राणि प्रवृत्तो मनोऽभिमतः पवनः । ततश्च—प्रबलपवनवेगकल्लोलमत्स्यौघपुच्छच्छटाघातमजातखाट्कारनिरस्तयादःसमूहेन संवन्धफेनेन निर्नष्टक्रमेण मार्गेण गन्तुं प्रवृत्तानि तानि प्रभूतानि बोहित्थरूपाणि, विस्तीर्णदीर्घे च तीर्णे समुद्रेऽत्र भूरिप्रकारेण वृत्तान्तजातेन तद्रत्नपूर्णं महाद्वीपमुच्चैः प्रयातानि तानि प्रमोदेन तूर्णमिति । ततः समुत्तीर्णा वाणिजकाः गृहीतं दर्शनीयं दृष्टो नृपति वर्हितोऽनेन प्रसादः वर्तित शुल्कं परिकलितं भाण्डं दत्ता हस्तसंज्ञाः विक्रीतं स्वरुच्या गृहीतं प्रतिभाण्डं वितीर्णं दानं प्रतिनिवृत्ताः स्वकूलाभिमुखं शेषवाणिजकाः धृतोऽहं सागरेण, उक्तं चानेन-वयस्य !-

निम्बपत्रादिभिर्यत्र, लभ्यन्ते रत्नसञ्चयाः । विमुच्य तदिदं द्वीपं, किं झटित्येव गम्यते ? ॥९६॥

[वृद्धनारीगदितवार्त्ता]

ततः स्थितोऽहं विधायापणं प्रारब्धं रत्नग्रहणवाणिज्यम् । अन्यदा समागतैका वृद्धनारी, तयाऽभिहितं वत्स ! अस्ति भवता सह किंचिद्वक्तव्यं, मयोक्तं-वदतु भवती, तयोक्तं-अस्त्यानन्दपुरे **केसरी** नाम राजा, तस्य द्वे भार्ये-**जयसुन्दरी कमलसुन्दरी** च, स च राज्यसुखलोलतया जाताञ्जातान्निजसुतान्मारयति, अतः सा कमलसुन्दरी संजातगर्भाऽपत्यस्नेहमोहिता मां सहचरीं गृहीत्वा रात्रौ पलायिता पतिता महाटव्यां, अनुभूतो भूरिक्लेशः संजातो रात्रिशेषः । अत्रान्तरे तस्या मे स्वामिन्या विजृम्भितं नितम्बबिम्बं स्फुरितं सवेदनं नाभिमण्डलं प्रवृत्तानि दारुणानि उदरशूलानि स्तम्भितमूरुयुगलं विदलन्ति चाङ्गानि समुद्वेल्लितं हृदयेन मुकुलिते लोचने प्रवृत्ता जृम्भिका । ततोऽभिहितमनया—सखि ! वसुमति न शक्नोम्यहं गन्तुं महती मे शरीरबाधा वर्तते । मया चिन्तितं— हा हन्त किमेतत् ? ततो लक्षितं मया अये ! प्रत्यासन्नोऽस्याः प्रसवसमयः, ततो धीरा भवेति वदन्त्या एव मम कुर्वत्यास्तत्कालोचितं कर्म वेदनाविह्वला द्राट्कृत्य पतिता स्वामिनी भूतले, तस्मिश्चेतश्चेतश्च वेल्लमाना करुणानि कूजितुं प्रवृत्ता, निर्गच्छति च योनिद्वारेण दारके विमुक्ता प्राणैः, निर्गतो दारकः । ततोऽहं मन्दभाग्या त तादृशं वृत्तान्तमुपलभ्य वज्राहतेव भीतेव विलक्षेव नष्टसर्वस्वेव मूर्च्छितेव मृतेव ग्रहगृहीतेव सर्वथा शून्यहृदया न जाने किं करोमि स्म, केवलं विलपितुं प्रवृत्ता । कथं ?

हा देवि ! देहि मे वाचं, किं न जल्पसि सुप्रिये ? । जातस्ते तनयो दिव्यः, पश्येमं चारुलोचने ! ॥९७॥
यस्यार्थे सुन्दरं राज्यं, भर्तारमतिवत्सलम् । हित्वा क्वचित् प्रवृत्ताऽसि पश्येमं तं सुपुत्रकम् ॥९८॥
हा हा हताऽस्मि दैवेन, गाढवैशसकारिणा । येन संपादितो वत्सः, स्वामिनी च निपातिता ॥९९॥
हा हा वत्स ! न युक्तं ते, यत्ते रक्षणतत्परा । माताऽतिवत्सला साध्वी, आयमानेन घातिता ॥१००॥
किलैषा पुत्रसौख्यानि, प्राप्स्यते त्यक्तभर्तृका । यावदीदृक् सुखं मातुस्त्वया वत्स ! विनिर्मितम् ॥१०१॥

[सार्थेन सह रत्नद्वीपागमनम्]

एवं प्रलपन्त्या एव मे विभाता रजनी समुद्गतो दिनकरः। समागतस्तेन पथा सार्थः दृष्टाऽहं प्रलपन्ती सार्थवाहेन संस्थापिताऽनेन पृष्टो वृत्तान्तः कथितो मया विस्मितोऽसौ पृष्टश्च मया क्व यातव्यं भवता ? तेनोक्तं--वेलाकूलं प्राप्य वोहित्थेन रत्नद्वीपं यास्यामि। मया चिन्तितं-श्रुतो मयाऽस्ति रत्नद्वीपे कमलसुन्दर्याः सहोदरो नीलकण्ठो राजा, तदेनं दारकं भागिनेयमनेनैव सुसार्थेन गत्वा तस्मै मातुलाय समर्पयामि। ततः समागताऽहं तेन धरणेन सार्थवाहेन सार्धमिमं द्वीपं, दारकस्नेहेन च प्रस्नुतं मे स्तनयुगलं वर्धितोऽसौ मदीयस्तन्येन दर्शितो नीलकण्ठाय कथिता कमलसुन्दरीवार्ता जातो नीलकण्ठस्य विषादगर्भो हर्षः, प्रतिष्ठितं दारकस्य हरिरिति नाम, अपि च–

वर्धमानः क्रमेणासौ, जीवितादपि वल्लभः। भागिनेयोऽस्य संपन्नो, नीलकण्ठस्य भूपतेः ॥ १०२ ॥

ततो ग्राहितः कलाकलाप संप्राप्तो यौवनं संजातः सुरकुमाराकारधारक इति। कथितश्चास्य मया पूर्वको वृत्तान्तः श्रुतश्च तेन भवान् यदानन्दपुरादागत इति। ततो वत्स ! स हरिकुमारो भवन्तं सदेशजं मत्वा द्रष्टुमभिलषति ततस्तत्समीपं गन्तुमर्हति वत्सः। मयोक्तं यदाज्ञापयत्यम्बा, ततः सह तया वसुमत्या गतोऽहं हरिकुमारसमीपं, दृष्टो मित्रवृन्दमध्यगतो हरिकुमारः, विहितो मया पादप्रणामः, निवेदितोऽहमस्मै वसुमत्या, ततः–

[हरिकुमारमेलापकः]

मद्दर्शनात्स तुष्टात्मा, प्रीतिविस्फारितेक्षणः। गाढमाश्लिष्य मां स्वीये, स्थापयत्यर्धविष्टरे ॥१०३॥
उक्तं चानेन--भद्र !
अम्बया कथितस्तातवयस्यो हरिशेखरः। मया तस्य च सूनुस्त्वं, विज्ञातो जनवार्तया ॥१०४॥
ततो भ्राताऽसि मे भद्र ! शरीरं जीवितं तथा। संपन्नं सुन्दरं चेदं, यदत्रागमनं तव ॥१०५॥
मयोक्तं--देव ! श्रुतो मया सर्वो, वृत्तान्तः कथितोऽम्बया। अत्यादरं भृत्यजने, न देवः कर्तुमर्हति ॥१०६॥
यथाऽनुजीवी तातो मे, तत्र केसरिभूपतेः। तथाऽहमपि देवस्य, किङ्करो नात्र संशयः ॥१०७॥
ततो गाढतरं तुष्टः, श्रुत्वा तन्मामकं वचः। स हरिः कारयत्युच्चैर्मित्रागममहोत्सवम् ॥१०८॥

[वसन्तेकानने चित्रदर्शन]

ततो हरिकुमारेण, सार्धं मित्रत्वमीयुषः। ललमानस्य मे तत्र, लीलया यान्ति वासराः ॥१०९॥
अन्यदा मन्मथोद्दीपो, वनराजिविभूषणः। प्रमोदहेतुर्जन्तूनां, वसन्तः समुपागतः ॥११०॥
ततो हरिकुमारोऽसौ, गृहीत्वा मित्रमण्डलम्। वंभ्रमीति मया युक्तो, दिदृक्षुः काननश्रियम् ॥१११॥
अथ चूतवनं प्राप्य, प्रकूजत्कलकोकिलम्। सहितो मित्रवृन्देन, निविष्टस्तत्र लीलया ॥११२॥
यावज्जराविशीर्णाङ्गी, रौद्राकारविधारिणी। आशीर्वादं च कुर्वाणा, व्रतिनी काचिदागता ॥११३॥
अथ प्रणामसम्भाषैः, कुमारेणाभिनन्दिता। सा दर्शयति सानन्दं, चित्रविन्यस्तकन्यकाम् ॥११४॥
तां चार्पयित्वा सा प्रौढा, गाढदर्शितविक्रिया। कुमारभावं पश्यन्ती, संस्थिता स्तिमितेक्षणा ॥११५॥
ततः कुमारमाक्षिप्तं, सविकारं विलोक्य सा। व्रजामीत्यभिधायोच्चैः, शीघ्रमेव विनिर्गता ॥११६॥
कुमारोऽपि च तां पश्यन्नशरीरशरेरितः। विकारकातरः सर्वैर्वयस्यैरुपलक्षितः ॥११७॥

यतः--क्षणं हुङ्कारकरणं, क्षणं मूर्ध्नः प्रकम्पनम् । क्षणं च स्फोटिकादानं, क्षणमव्यस्तभाषणम् ॥११८॥
क्षणं दीर्घोष्णनिःश्वासं, क्षणं च करधूननम् । गुह्यमुद्दृश्चित्रगतां, तां वीक्ष्य कुरुते हरिः ॥११९॥ युग्मम् ।
क्षणं स्मेरमुखोऽत्यन्तं, विस्फारयति लोचने । क्षणं निष्पन्दमन्दाक्षः, स्निग्धचक्षुर्निरीक्षते ॥१२०॥

[कुमारेण मनोविकारसंवरणं]

ततोऽभिहितं स्मितबन्धुरं **मन्मथेन** । कुमार -किमिदमात्मगतविविधशृङ्गारमप्रकटितकरणाङ्गहारं नरीनृत्यते ? ततः कृतमाकारसंवरणं हरिणा, अभिहितमनेन--अहो रञ्जितोऽहमनेन चित्रकर्मकौशलेन, तथाहि--अत्र सुविशुद्धा रेखा संगतानि भूषणानि उचितक्रमा वर्णविच्छित्तिः परिस्फुटो भावातिशय इति । दुष्करं च चित्रे भावाराधनं तदेव चाभिमतमतिविदग्धानां तस्य चात्र प्रकर्षः परिस्फुटो दृश्यते यस्मादु- पारूढयौवना समदना चेयमालिखिता कन्यका तदस्याः सम्बन्धिनममुं भावविशेषमनिवेदितमपि लक्ष- यन्ति बालका अपि किमुत विद्वांसः ? तथाहि--

लावण्यमुद्गिरन्तीव, प्रोद्भिन्नस्तनचूचुका । एषा प्रोद्दामतारुण्यमात्मानं कथयत्यलम् ॥१२१॥
उन्नामितैकभ्रूभङ्गैर्लीलामन्थरितेक्षणा । मन्दं निवेदयत्येषा, वचनैरिव कन्यका ॥१२२॥
कपोलस्फुरितैर्दिव्यैः, स्मेरवक्त्राब्जबन्धुरा । विभाव्यतेऽतिलोलाक्षी, वहन्ती मकरध्वजम् ॥१२३॥

तदनेन केनचिच्चित्रकरेणाऽऽलिखताऽमूं कन्यकां जनितो मे चेतश्चमत्कारः स्थितमिदं मनसि मे यथा नास्तीदृशमन्यस्य जगति कौशलमिति । **मन्मथः** प्राह--**पद्मकेसर** ! किं सत्यमिदं ? पद्मकेसरे- णोक्तं--सखे ! सत्यं, केवलं विचित्ररूपाः प्राणिनां चित्तवृत्तयः, ततो मे चित्रकरादपि चित्ते कुशल- तरेयमेव कन्यका प्रतिभासते । ललितेनोक्तं--सखे ! किमनया विहितं क्वचिच्चित्रमवलोकितं भवता ? पद्मकेसरः प्राह--बाढमवलोकितं, विलासेनोक्तं--सखे ! वर्णय तत्कीदृशं ? पद्मकेसरः प्राह--यदनया कन्य- कया दुर्गममन्यनारीणां दुर्लङ्घमम्बरचरीणामहार्यं किन्नरीणां असाध्यममरसुन्दरीणां अविषयो गन्धर्वादि- पुरन्ध्रीणां मदनातुराणामपि सत्त्वैकसारमपहरिततरजस्तमोविकारं कुमारमानसं चित्रविन्यस्तस्वरूपयाऽपि दृढ- मवगाहितं, इदमनया कन्यकया चित्रं विहितं, तच्च मयैव न केवलमवलोकितं, किं तर्हि ? स्फुटतरं भव- द्भिरपि । **विभ्रमः** प्राह--नन्वाश्चर्यमिदं कथं चित्रं ? पद्मकेसरेणोक्तं--ननु मूर्खचूडामणे ! आश्चर्यमेव चित्रशब्देनोच्यते । **कपोलः** प्राह--कथमिदमवगतं भवता यथा कुमारमानसमनयाऽवगाहितमिति ? पद्म- केसरेणोक्तं- ननु बठरशेखर ! किमिदमेतावन्मात्रमपि न लक्षयसि ? तथाहि--

नो हुङ्कारादयस्तावद्भवन्त्येवं परिस्फुटाः । न च कल्लोलका यावन्न क्षुब्धं मानसं सरः ॥१२४॥

[प्रश्नोत्तरविनोद]

यदि च मद्वचने न प्रत्ययो भवतस्ततः कुमारमेव पृच्छ येन परिस्फुटीभवत्येषोऽर्थः । हरिकुमा- रेणोक्तं--सखे ! पद्मकेसर अलमनेनासंबद्धप्रलापेन, पठ तावत्किंचिच्चारुप्रश्नोत्तरं, ततः सहासमभिहित- मनेन- यदाज्ञापयति कुमारः, पठितं च--

पश्यन् विस्फारिताक्षोऽपि, वाचमाकर्णयन्नपि । कस्य को याति नो तृप्तिं, किं च संसारकारणम् ? ॥१२५॥

हरिकुमारेण तु तया चित्रोपलब्धकन्यकयाऽपहृतचित्तेन दत्तः शून्यो हुङ्कारः, पद्मकेसरेण चिन्तितं--नेदं प्रायः सम्यगवधारितं कुमारेण, ततः पुनः स्फुटतरं पठामि । पठितमनेन, पुनर्दत्तो हरि-

कुमारेण शून्य एव हुङ्कारः, ततो लक्षितं पद्मकेसरेण यथा शून्यीकृतहृदयोऽयमनया चित्रकन्यकया। ततो हसितमनेन, निरूपितानि समस्तैः स्मितगर्भं परस्परं वदनानि, तदालोक्य प्रत्यागतं हरिकुमारस्य चित्तं, अमीभिरप्याकलितोऽहमिति संजातोऽस्याभिमानः संहृतः कुविकल्पः विहितोऽवष्टम्भः संपन्नो दत्तावधानः प्रवर्तितो विमर्शः। ततोऽभिहितमनेन -मा हस सखे ! पुनः पठ, पठितः पद्मकेसरेण पश्यन्नित्यादि पुनः प्रश्नः। ततोऽनन्तरमेव हरिकुमारेणोपलब्धमुत्तरं, उक्तमनेन, हुं 'ममत्व'मिति। विस्मितः पद्मकेसरः, पुनरन्यत्पठितमनेन--

कस्या विभ्यद्भीरुर्न भवति सङ्ग्रामलम्पटमनस्कः। वाताकम्पितवृक्षा निदाघकाले च कीदृक्षाः ? ॥१२६॥

हरिकुमारेणोक्तं-पुनः पठ, पठितं पद्मकेसरेण, विचिन्त्योक्तं हरिणा इदमत्रोत्तरं 'दलनायाः'। ततोऽर्हद्दर्शनवासितमतिनाऽभिहितं विलासेन-कुमार ! मयाऽपि चिन्तितं किंचित्प्रश्नोत्तरं, हरिकुमारेणोक्तं-पठ। पठितं विलासेन-

कीदृग्राजकुलं विषीदति विभो ! नश्यन्ति के पावके, बोध्यं काननमच्युताश्च बहवः काले भविष्यत्यलम्। कीदृक्षाश्च जिनेश्वरा वद विभो ! कस्यै तथा रोचते, गन्धः कीदृशि मानवे जिनवरे भक्तिर्न संपद्यते ॥१२७॥

हरिकुमारः प्राह-बृहदिदं व्यस्तं समस्तं च, अतो भूयः स्पष्टतरं पठतु भवान्, पठितं विलासेन, विमृश्योक्तं हरिणा—इदमत्रोत्तरं-'अकुशलभावनाभावितमानसे', हसितं विभ्रमेण, कुमारेणोक्तं—भद्र ! किमेतत्, विभ्रमेणोक्तं--कुमार चारु विहितं भवता यदस्य विलासस्यापनीतः प्रश्नोत्तरगर्वः, न लब्धमिदमस्माभिरासीत्, ततोऽयं गर्वितोऽभूदिति। विलासेनोक्तं -वत्स ! न केवलं मम किं तर्हि निर्दलयति सर्वेषामप्यद्य गर्वं कुमारः, पठत्वन्योऽपि येन यत्किंचिच्चिन्तितमिति। मन्मथेनोक्तं कुमार ! मया स्पष्टान्धकद्वयं[1] चिन्तितं, कुमारेणोक्तं-झटिति पठत्वार्यः, पठितं मन्मथेन--

दास्यमि प्रकटं तेन, गृह्णामि न करात्तव। भिक्षामित्युदिता काचिद्भिक्षुणा लज्जिता किल ॥१२८॥

तथा--करोतिकठिनो राजन्नरीभकटघट्टनम्। विधत्ते करवालस्ते, निर्मूलां शत्रुसंहतिम् ॥१२९॥

ततो विहस्योक्तं हरिकुमारेण-प्रथमं तावदेवं भज्यते[2]-दासी असि=गणिका भवसि, तेन कारणेन तव हस्ताद्भिक्षां न गृह्णामि, शेषं स्फुटमेव। द्वितीयस्य पुनरेष भङ्गः-करो=हस्तोऽतिकठिनो=गाढनिष्ठुरस्तव हे राजन् अरीभकटघट्टनं=शत्रुकरिकुम्भास्फालनं विधत्ते=कुरुते, तथा करवालस्ते निर्मूलां शत्रुसंहतिं विधत्त इति सम्बन्धः। मन्मथेनोक्तं--अहो कुमारस्य प्रज्ञातिशयः। इतश्च तस्मिन्नेव क्षणे मयापि चिन्तितं गूढचतुर्थकमेकं निवेदितं हरिकुमाराय, ततस्तदुक्तेन पठितं मया, यदुत-'विभूतिः सर्वसामान्या, परं शौर्यं त्रपा मदे। भूत्यै यस्य स्वतः प्रज्ञा',-विचिन्त्य हरिकुमारेण लब्धं हृदये, तुष्टश्चेतसा, अभिहितमनेन-साधु सखे धनशेखर ! साधु, चारु विरचितं गूढचतुर्थं भवता। ततः समस्तैरभ्यधायि-कुमार ! कीदृशोऽस्य तुरीयः पादः ? कुमारेणोक्तम्—'पात्रभूतः स भूपतिः' ॥१३०॥ इति।

एतदाकर्ण्य विस्मिता वयस्याः, कपोलः प्राह-मदीयमपि गूढचतुर्थमाकर्णयतु कुमारः, वद वदेत्युक्ते हरिणा पठितं कपोलेन-'न भाषणः परावर्णे, यः समो रोषवर्जितः। भूतानां गोपकोऽत्रस्तः', तदनन्तरमेवोक्तं हरिकुमारेण-'स नरो गोत्रभूषणः' ॥१३१॥

---

(१)-कूटप्रश्नद्वयम्। (२)-अन्वयमानीयते।

कपोलः प्राह--मादृशामिदं कुर्वतां केवलं कालविलम्बोऽभून्न पुनः कुमारस्य, अहो सर्वत्राप्रतिहतशक्तिः कुमारस्य बुद्धिप्रकर्षः, शेषैरभिहितं—एवमिदं नात्र सन्देहः -

एवं दत्तावधानस्य, हरेः प्रश्नोत्तरादिषु । सा चित्रकन्यका भद्रे ! विस्मृताऽऽसीत्तदा क्षणम् ॥१३२॥

[कन्यकास्मरणेन स्मरवेदना]

अथ पारापतं दृष्ट्वा, गृहिण्याश्चाटुकारिणम् । सा कन्यका पुनश्चित्ते, तस्य शीघ्रं समागता ॥१३३॥

ततः प्रदीप इव खरतरपवनोत्कलिकया हृद इव पतन्त्या महाशिलया दरिद्र इव निजकुटुम्बभरणचिन्तया मानधन इव परपरिभूत्या अविरतसम्यग्दृष्टिरिव संसारभीरुतया क्षणादेव चेतसि विवर्तमानया तया गाढमाघूर्णितोऽसौ हरिकुमार., ततश्च—

बहिर्व्याक्षेपनिर्मुक्तः, सोऽस्माभिस्तत्परायणः । योगीव ध्यानमारूढः, क्षणादेव निरीक्षितः ॥१३४॥

ततो मयोक्तं- कुमार ! किमेतत् ? कुमारः प्राह--सखे धनशेखर ! नागताऽस्मिन्मे शिरोवेदनया रात्रौ निद्रा तथाऽपि च मे मनाक्कणकणायते मस्तकं, तदेते गच्छन्तु मन्मथादयोऽत्रैव वा यथेष्टं विहरन्तु त्वमेकोऽत्र मे पार्श्ववर्ती भव येनात्र प्रविश्य चन्दनलतागृहके तावन्निद्रामासादयामि । मयोक्तं यदादिशति कुमारः । ततो गता मन्मथादयः स्थितोऽहं प्रविष्टो लताभवने कुमारः, विरचितं मया शिशिरपल्लवशयनीयं समारूढो ऽसौ, तत्र च मत्स्यक इव तप्तसैकते दन्दह्यमानो न लभते रतिं, ततो विहितं मया कोमलमासनं--उपविष्टो हरिकुमारः, तत्रापि शूलिकाशिरःप्रोततस्कर इव न प्राप्नोति सुखासिकां, ततो मदीयस्कन्धावलग्नः करोतीतश्चेतश्च चङ्क्रमणं यावता तथापि न मुच्यतेऽन्तस्तापेन सर्वथा--

न सुप्तो नोपविष्टोऽसौ, नोर्ध्वो न भ्रमणोद्यतः । सुखमाप्नोति दुःखार्त्तो, नरकेष्विव नारकः ॥१३५॥

एवं दन्दह्यमानस्य, हरेर्मदनवह्निना । लङ्घिता महती वेला, शीतलेऽपि लतागृहे ॥१३६॥

कुतूहलवशात्तच्च, प्रच्छन्नैर्मन्मथादिभिः । स्थितैर्निरीक्षितं सर्वं, कुमारस्य विचेष्टितम् ॥१३७॥

अत्रान्तरे-पूत्कुर्वन्निव नामेदं, 'कामस्तापाय देहिनाम्' । मध्याह्नसमये दीर्घः, शङ्खनादः समुत्थितः ॥१३८॥

ततः सर्वेऽपि संभूय, वयस्या मन्मथादयः । निनीषवो हरिं गेहे, लतागृहमुपागताः ॥१३९॥

ततस्तैः समस्तैरभिहितं--

गम्यतां भवने देव ! मध्याह्नो वर्ततेऽधुना । क्रियतां देवपूजादि, कर्तव्यं दिवसोचितम् ॥१४०॥

हरिकुमारेणोक्तं यात यात गृहे यूय, विमुच्य धनशेखरम् । अहमप्यागमिष्यामि, यावच्छाम्यति वेदना ॥१४१॥

गाढं मे शिरसः शूलमन्तस्तापोऽभिवर्धते । अतोऽहं स्थातुमिच्छामि, शीतलेऽत्र लतागृहे ॥१४२॥

तच्च प्रतीतं सर्वेषां, तस्यान्तस्तापकारणं । तथापि कैतवान्मित्रैरित्थं जल्पः प्रवर्तितः ॥१४३॥

[वैद्यकशास्त्रसारोक्ति]

भो भोः कपोल ! निपुणोऽसि त्वमायुर्वेदे तन्निरूपय किंनिमित्तकः खल्वयमीदृशः कुमारस्य शरीरविकारः ? को वाऽस्य प्रशमनोपायो भविष्यति ? कपोलेनोक्तं -एवं भो तावद् वैद्यकशास्त्रे पठ्यते, यदुत--वायुः पित्तं कफश्चोक्तः, शारीरो दोषसङ्ग्रहः । मानसः पुनरुद्दिष्टो, रजश्च तम एव च ॥१४४॥

ततः--प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो, दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः । मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥१४५॥

अन्यच्च--रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः । विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ॥१४६॥
सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च, द्रवमम्लं रसं पटुः । विपरीतगुणैः पित्तं, द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥१४७॥
गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरश्लक्ष्णपिच्छलाः । श्लेष्मणः प्रकृतिं यान्ति, विपरीतगुणैर्गुणाः ॥१४८॥
स्वादुरम्लोऽथ लवणः, कटुकस्तिक्त एव च । कषाय इति षट्कोऽयं, रसानां सङ्ग्रहो मतः ॥१४९॥
तत्र--कफं स्वाद्वम्ललवणाः, कषायकटुतिक्तकाः । जनयन्त्यनिलं पित्तं, कट्वम्ललवणा रसाः ॥१५०॥
स्वाद्वम्ललवणा वायुं, कषायस्वादुतिक्तकाः । जयन्ति पित्तं श्लेष्माणं, कषायकटुतिक्तकाः ॥१५१॥
आमे मद्दशगन्धः स्याद्विदग्धे धूमगन्धिता । विष्टब्धे गात्रभङ्गश्च, रसशेषेऽन्नद्वेषिता ॥१५२॥
आमेषु वमनं कुर्याद्विदग्धे चाम्लकं पिबेत् । विष्टब्धे स्वेदनं कुर्याद्रसशेषे तथा स्वपेत् ॥१५३॥
अन्यच्च--अजीर्णप्रभवा रोगास्तच्चाजीर्णं चतुर्विधम् । आमं विदग्धं विष्टब्धं, रसशेषं तथा परम् ॥१५४॥

[कुमाररोगनिदानम्]

एवं च स्थिते यथाऽयं कुमारस्यान्तस्तापस्तथाऽजीर्णविकारो लक्ष्यते, विदग्धावस्थां गतेन हि तेन क्षोभितमस्य वायुना सहितं पित्तं, ततो जनितोऽयमन्तस्तापः, विहितं शूलं, यत एवं पठ्यते--
भुक्ते जीर्यति जीर्णेऽन्ने, जीर्णेऽभुक्ते च जीर्यति । जीर्णे जीर्यति भुक्तेऽन्ने, दोषैर्ना नाभिभूयते ॥१५५॥

विभ्रमेणोक्तं--सखे कपोल ! न सम्यग् लक्षितं भवता, वैद्येन ह्यातुरं निरूपयता रोगनिदानमेवमुपलब्धव्यं--आदित एवातुरस्य समुपलक्षणीया प्रकृतिः पर्यालोच्यं शरीरसारं विचार्यं संहननं विज्ञातव्य प्रमाणं लक्षयितव्यं सात्म्यं वेदितव्यं सत्त्वं मन्तव्याऽऽहारशक्तिः बोद्धव्यं व्यायामसौष्ठवं परिकलनीयं वयःप्रमाणमिति, अन्यच्च-
संचयं च प्रकोपं च, प्रसरं स्थानसंश्रयम् । व्यक्तिभेदांश्च यो वेत्ति, दोषाणां स भिषग्वरः ॥१५६॥
संचयेऽपहृता दोषा, लभन्ते नोत्तरां गतिम् । ते तूत्तरासु गतिषु, भवन्ति बलवत्तराः ॥१५७॥

त्वया पुनरत्र किंचिन्नालोचितं, केवलमुद्घाटमुखतया विहितः कुमारशरीरविकारनिर्देशः। कपोलः प्राह--ननु प्रतीता एव कुमारस्य सम्बन्धिनो मे प्रकृत्यादयः, संचयादयोऽपि दोषाणां ज्ञायन्त एव, तथाहि-ग्रीष्माहोरात्रवयसामन्तेऽजीर्णस्य चानिलः । कफस्तदादौ तन्मध्ये, पित्तं कुप्येच्छरद्यपि ॥१५८॥
ग्रीष्माद्येषु समीरस्य, पित्तस्य प्रावृडादिषु । चयप्रकोपप्रशमाः कफस्य शिशिरादिषु ॥१५९॥
हेमन्तशिशिरौ तुल्यौ, शिशिरेऽल्पं विशेषणम् । रूक्षमादानजं शीत, मेघमारुतवर्षजम् ॥१६०॥

अथवा परिस्फुरति मम हृदये सर्वमिदं, किमत्र बहुनाऽऽलोचितेन ? अजीर्णविकार एवायं कुमारस्य । ततोऽहो विमूढताऽस्य कपोलस्येति चिन्तयता हसितं हरिकुमारेण । वयस्यैरुक्तं--कुमार ! किमेतत्, कुमारेणोक्तं भो भावितोऽहमस्य कपोलस्य मूर्खतया, ततः समुद्भूतं मे धारयतोऽपि हसनम् । पद्मकेसरेणोक्तं -कुमार ! महाप्रसादः, सिद्धं नः समीहितं, तथाहि--
कुमारस्य विनोदार्थं, मनस्तापनिवृत्तये । इदमस्माभिरारब्धमालजालप्रभाषणम् ॥१६१॥

यतः--चित्तोद्वेगनिरासार्थं, सुहृदां तोषवृद्धये ।
तज्ज्ञाः प्रहसनं दिव्यं, कुर्वन्त्येव विचक्षणाः ॥१६२॥

[परिव्राजिकाऽन्वेषणम्]

भैषजं पुनरस्य निर्मूलोच्छेदकं भवतो विकारस्य यदि परं सैव परिव्राजिका विज्ञास्यति संपादयिष्यति वा नापरः, तद्विधीयतां कुमार ! तस्याः पर्येषणमलं कालविलम्बेन । कुमारेणोक्तं--पद्म-केसर ! यत्त्वं जानासि तदेव क्रियतां, पद्मकेसरः प्राह- यद्येवं तर्हि कस्तदन्वेषणार्थं प्रहीयतामिति ? ततः शेषमित्रेष्वविश्वासात्कुमारेणोक्तं--धनशेखरः प्रस्थाप्यतामिति । मयोक्तं-महाप्रसादः, ततो निर्गतोऽहं गन्तुं प्रवृत्तो नगराभिमुख दृष्टाऽन्तराले सा परिव्राजिका विहितः प्रणामः, पृष्टा च--भगवति ! कोऽयं चित्र-पट्टिकावृत्तान्तः का सा कन्यका किमर्थं चोच्चलिताऽसि ? तयोक्तं--आकर्णय, अस्ति तावत्सत्यूषस्येव प्रविष्टाऽहं कणभिक्षार्थं, इतश्चास्यैव नीलकण्ठनरपतेरस्ति शिखरिणी नाम महादेवी, प्राप्ताऽहं तस्या भवने यावद्दृष्टा मया सचिन्ता महादेवी समुद्विग्नः परिकरो विषण्णः कन्यकाजनः पर्याकुलाः कञ्चुकिनः आशीर्वादमुखरः स्थविरिकालोक इति । ततो मया चिन्तितं--हा किमेतत् ! उपसर्पिता शिखरिणी विहि-तमाशीर्दानं कृतस्तया मे शिरःप्रणामः दापितमासनं उपविष्टाऽहं, अभिहितमनया--भगवति ! बन्धुले प्रतीतैव तावदियं भगवत्या मम जीवितादपि वल्लभतरा मयूरमञ्जरी वत्सा । इयं चाद्य सूर्योदयादारभ्य केनचित्कारणेन समभ्यासिता चिन्तया गृहीता रणरणकेन स्वीकृता बृहदरत्या प्रतिपन्ना विकारजालेन अङ्गीकृता शून्यतया अवष्टब्धा महाज्वरेण परित्यक्तमनया राजकन्योचितं करणीयं न करोति देवगुरु-प्रणामं न परिवर्तयति रात्रिवस्त्राणि न गृह्णाति भूषणानि न विदधत्यङ्गरागं न सन्मानयति ताम्बूलं न प्रतिजागर्ति स्वयमारोपितं बालारामकं न सन्मानयति वयस्याजनं न संभालयति शुकसारिकागणं न ललते लीलाकन्दुकेन आलिखति विद्याधरमिथुनानि प्रलोकयति सारसयुगलानि धावति पुनः पुनर्द्वाराभिमुखं निन्दति मुहुर्मुहुरस्फुटाक्षरैरात्मानं रुप्यति निष्कारणमेव सखीजनाय न ददाति पृष्टाऽपि प्रतिवचनं, किं बहुना ?--उन्मत्तेव शून्येव, भूताविष्टेव सर्वदा । मयूरमञ्जरी वत्सा, क्षणादन्येव संस्थिता ॥१६३॥

[होराकर्षणादिना प्रश्नसमाधानान्वेषणं]

तत्कथय भगवति ! निपुणाऽसि त्वं निमित्तशास्त्रे, किं पुनरेषा चिन्तयति ? अन्यच्च--लप्स्यते तदभीष्टं वस्तु न वा कियता वा कालेनेति ? मयोक्तं एषा निरूपयामि । ततः कृष्टमारब्धा मया होरा, न्यस्तं सिद्धिरिति पदं आलिखितं सरस्वतीवदनं विन्यस्ता ध्वजादयोऽष्टायाः, विरचितं नारीहृदयवर्ति[नी] कौटिलविभ्रमं गोमूत्रिकात्रयं, व्युत्सृष्टा विगणय्य विगणय्याष्टकाः, पातितमनुक्रमं तच्छेषानुसारेणाङ्कत्रयं, ततोऽभिहित मया--महादेवि ! समाकर्णय -

ध्वजो धूमस्तथा सिंहः, श्वा बलीवर्द इत्यपि । खरो गजेन्द्रो ध्वांक्षश्च, अष्टायाः परिकीर्तिताः ॥१६४॥

एतेषां चाष्टानामप्यायानामष्टविध बलं भवति, तद्यथा--

कालवासरवेलानां, मुहूर्तककुभोस्तथा । नक्षत्रग्रहयोश्चैव, निसर्गबलमष्टमम् ॥१६५॥ तत्रामी महादेवी !--
ध्वजः खरस्तथा ध्वांक्षः, प्रस्तुतेऽत्र प्रयोजने । समापन्नास्त्रयो ह्यायास्तेषां बुध्यस्व यत्फलम् ॥१६६॥
प्रथमाज्ज्ञायते चिन्ता, द्वितीयात्तु शुभाशुभम् । तृतीयात्कालनिर्देशं, कुर्यादायादिति श्रुतिः ॥१६७॥
तत्र--शुनि ध्वजे वृषे चैव, जीवचिन्ता प्रकीर्तिता । सिंहवायसयोर्मूलं, धातुं धूमेभरासभे ॥१६८॥

अतो ध्वजस्य प्रथमं पातादियं मयूरमञ्जरी वत्सा जीवं चिन्तयति--कालवेलादिभिश्च लक्षयामि तमपि जीवं पुरुषं तमपि राजपुत्रं तमपि हरिनामकमेषा चिन्तयति, तस्य चावश्यं भावी लाभो, यतो धूमस्योपरि निपतितोऽत्र रासभः, तत्र चैवं पठ्यते--

स्थानं लाभं च कुरुते, रासभो ध्वजधूमयोः । सिंहस्योपरि नाशं भोः, शेषेषु तु स मध्यमः ॥१६९॥

तस्य तु कालनोऽद्यैव लाभो भविष्यति, यतोऽत्र तृतीयो निपतितो ध्वांक्षः, तत्र चेदमुक्तं--

ध्वजकुञ्जरयोर्वर्षं, मासो वृषभसिंहयोः । पक्षः श्वखरयोर्ज्ञेयो धूमवायसयोर्दिनम् ॥१७०॥

[भगवत्या कुमाराभिप्रायनिरूपणम्]

ततः संजातप्रत्यया चिन्तानिर्वाटनेन हृष्टा प्रत्यासन्नेष्टजामातृलाभेन निपतिता मच्चरणयोः शिखरिणी, प्राह च-भगवति ! महाप्रसादः सत्यमिदं यदादिष्टं भगवत्या, कथितं हि मे वत्साया मयूरमञ्जर्याः प्रियसख्या लीलावत्या यथा दृष्टोऽनया सूर्योदयसमये मित्रवृन्दपरिकरितो लीलासुन्दरमुद्यानं प्रति प्रवृत्तो हरिकुमारः, चिरं च विलोकितो लोललोचनया वत्सया न च कथंचिद्दृष्टिगोचरमागता तस्य वत्सा मयूरमञ्जरी, ततस्तदभिलाषेण दुर्भगताशङ्कया चात्मनस्तत एव क्षणादारभ्येयमीदृशीमवस्थां प्राप्तेति । तदिदं ज्ञानालोकेन यथाऽवलोकितं भगवत्या तथा भगवत्येव करोतु तेन सह वत्सायाः समागममिति । मयोक्तं--यद्येवं ततो निरूपयामि तस्य कुमारस्य कीदृशोऽभिप्राय इति । महादेवी प्राह -यत्त्वं जानीषे, किमत्र वयं ब्रूम इति । ततो निर्वर्ण्य लिखिता मया तथा चित्रपट्टिकायां मयूरमञ्जरी गता लीलासुन्दरोद्याने दृष्टो हरिकुमारः समर्पिता चित्रपट्टिका निरूपितोऽस्य भावः लक्षितोऽयं साभिलाषः ततः सिद्धं नः समीहितं पृच्छामि यदतः परं कर्तव्यं महादेवीमिति चिन्तयन्ती शीघ्रं ततोऽपक्रान्ताऽहं निवेदितं महादेव्यै यथा मुष्टिमध्ये मम वर्तते हरिकुमारः तत्कथय किमधुना क्रियतामिति ? तदाकर्ण्य हृष्टा शिखरिणी दुहितरं प्रत्याह--वत्से ! मयूरमञ्जरि ! समाकर्णितं त्वयेदं भगवतीवचनं यल्लब्धस्ते हृदयवल्लभ इति, मयूरमञ्जरी प्राह--आः मातः किमित्येवमालजालेन मां विप्रतारयसि ? ततो नास्याः संप्रत्यय इति किं कालक्षेपेणेति कथितो महाराजाय शिखरिण्या समस्तोऽपि व्यतिकरः । ततोऽभिरुचितो नीलकण्ठाय मयूरमञ्जर्या वरो हरिकुमारः, ततस्तदानयनार्थमहमेव प्रहिता ताभ्यामिति, तदेष भद्र ! चित्रपट्टिकावृत्तान्तः । एषा सा कन्यका, एतदर्थं चाहमुच्चलिताऽस्मि ॥

[समागमार्थं भगवतीप्रयासः]

मयोक्तं--भगवति ! किं पुनरिदं करे तव दृश्यते ? बन्धुलयोक्तं भद्र ! मयूरमञ्जरीस्वहस्तलिखितं चित्रमिदं, मयोक्तं--किमर्थमिदं गृहीतं भगवत्या ? बन्धुलयोक्तं मा भूत्कुमारस्य मदीयवचनादसंप्रत्ययः, अतस्तस्याः स्वभावसूचकमेतत् । मयोक्तं- चारु विहितं भगवत्या, दत्ता कुमारस्य प्राणाः, ततो मया सहिता गता सा हरिकुमारसमीपं निवेदितं राजशासनं बन्धुलया कथितो मयापि तन्निवेदितः समस्तोऽपि वृत्तान्तः न च श्रद्धत्ते हरिकुमारः । ततः समर्पितो बन्धुलयाऽसौ द्विपुटसंवर्तितश्चित्रपटः, प्रविघाट्य निरूपितो हरिकुमारेण यावद्दृष्टमालिखितमेकपुटे सुविभक्तोज्ज्वलेन वर्णक्रमेण अलक्ष्यमाणैस्तूलिकापदकैरनुरूपया सूक्ष्मरेखया प्रकटदर्शनेन निम्नोन्नतविभागेन समुचितेन भूषणकलापेन सुविभक्ततयाऽवयवरचनयाऽतिविलक्षणया

विन्दुवर्तिन्या अभिनवस्नेहरसोत्सुकतया परस्परं हर्षोत्फुल्लबद्धदृष्टिकं समारूढप्रेमातिबन्धुरं कतयाऽलङ्घितचित्तनिवेशं विद्याधरमिथुनकमिति, दृष्टं च तस्याधस्ताल्लिखितमिदं द्विपदीखण्डं , तद्यथा--

प्रियतमरतिविनोदसंभाषणरभसविलासलालिताः । सततमहो भवन्ति ननु धन्यतमा जगतीह योषितः ॥१७१॥
अभिमतवदनकमलरसपायनलालितलोललोचनाः । सुचरितफलमनर्घ्यमनुभवति शमियमम्बरचरी यथा ॥१७२॥

ततो निरीक्षितं राजतनयेन द्वितीयं चित्रपटपुटं यावत्तत्र दृष्टा दवप्लोषितेव वनलतिका हिमहतेव नलिनिका दिनकरकरनिकरमुषितप्रभेव चन्द्रलेखिका उत्खोटितम्लानेव चूतमञ्जरिका विनष्टसर्वस्वेव कृपणिका सर्वथा गतच्छाया शोकातिरेकपरिदुर्बलाङ्गी कण्ठगतप्राणा लिखिता राजहंसिका । दृष्टं चाधस्ताल्लिखितमिदं तस्या द्विपदीखण्डं, तद्यथा—

इयमिह निजकहृदयवल्लभतरदृष्टवियुक्तहंसिका । तदनुस्मरणखेदविधुरा बत शुष्यति राजहंसिका ॥१७३॥
रचितमनन्तमपरभवकोटिषु दुःसहतरफलं यया । पापमसौ नितान्तमसुखानुगता भवतीदृशी जन ! ॥१७४॥

ततः स्थितं हरिकुमारस्य हृदये यथा--अहो राजदुहितुः कौशलं अहो रसिकत्वं अहो सारग्राहिता अहो सद्भावार्पणं अहो मयि दृढानुरागः । तथाहि--विद्याधरमिथुनानुलेखनेन दर्शितोऽनया स्वाभिलापातिरेकः राजहंसिकाविन्यासेन प्रकटितमभिलषितवस्त्वप्राप्तिकृतमात्मनि दैन्यं तावदनेनैव परिस्फुटं द्विपदीखण्डद्वयेन पुनर्नितरां परिस्फुटीकृतोऽयमेव भावार्थः, ततो दर्शितो मन्मथादीनां चित्रपटः, तैरभिहितं—कुमार ! गत्वा संधार्यतामियं वराकी राजहंसिका अलं म्रियमाणयोपेक्षितया । कुमारेणोक्तं—एवं भवतु, ततो गताः सर्वेऽपि राजसदने, दत्ता सबहुमानं नीलकण्ठराजेन हरिकुमाराय मयूरमञ्जरी । ततः शुभदिने प्रवृत्तो विवाहमहोत्सवः, स च कीदृशः—

मधुमत्तविघूर्णितभूरिजनो, बहुलोकयथेप्सितदत्तधनः ।
द्युसदामपि विस्मयतोषकरो, जननर्तनखादनपानपरः ॥ १७५ ॥

[*हरिकुमार-मयूरमञ्जरीविवाह*]

ततः पूजिता देवगुरवः सन्मानिताः सामन्ताः पूरितः प्रणयिवर्गः संवर्गितो राजलोकः तोषिताः प्रकृतयः कृतमुचितकरणीयं वृत्तो विवाहानन्द इति ।

अथ तां नीलकण्ठस्य, जीवितादपि वल्लभाम् । मयूरमञ्जरीं प्राप्य, भार्यां सर्वाङ्गसुन्दराम् ॥१७६॥
स हरिर्मित्रवृन्देन, परिवारितविग्रहः । ललमानः परां ख्यातिं, रत्नद्वीपे तदा गतः ॥१७७॥
अस्नोर्नीलकण्ठस्य, परिवारः सबान्धवः । तत्रानुरक्तः संपन्नो, हरौ भूरिगुणोत्करे ॥१७८॥
अन्तःपुरं पुरं लोकाः, सदेशं राजमण्डलम् । नाम्ना हरिकुमारस्य, जायते तोषनिर्भरम् ॥१७९॥
इतश्च—ममागृहीतसङ्केते ! स हरिः स्नेहनिर्भरः । वियोगं क्षणमप्येकं, नेच्छत्येव तदात्मना ॥१८०॥
मम पुण्योदयेनासौ, जनितस्तेन मीलकः । सद्भावस्नेहसारेण, वयस्येन महात्मना ॥१८१॥

तथाहि—तेन सह तिष्ठतो मे निरुपमं विषयसुखं, देवदुर्लभा विलासा, विशिष्टजनस्पृहणीया गोष्ठी, वर्धते प्रज्ञातिशयः समुल्लसति लोके यशःपटहः संपद्यते गौरवं,—

तथापि प्रेर्यमाणस्य, सागरेण क्षणे क्षणे । मम जातास्तदा भद्रे ! विकल्पा मनसीदृशाः ॥१८२॥

[धनशेखररत्नोपार्जनविकल्पा]

यदुतार्थोपार्जनक्षतिहेतुरेष मम हरिकुमारसम्बन्धः, न सुन्दरो मे ग्रहगोचरः अनर्थः पर्युप-स्थितोऽयं कृतोऽहमात्मनो निर्मूल्यः कर्मकरोऽनेन हरिणा न विढपितास्ते मयेहापि प्राप्तेनाभीष्टा रत्नस-ञ्चयाः, तदिदमापतितं यद्गीयते लोके, यदुत—

रासभः किल संप्राप्तः, स्वर्गे सर्वसुखाकरे। यावत्तत्रापि संप्राप्तो, रजको दामहस्तकः ॥१८३॥

तथाहि--निर्विघ्नः किल लास्यामि, रत्नसङ्घातमुच्चकैः। यावदत्रापि संजातो, विघ्नोऽयं मित्ररूपकः ॥१८४॥

न चैषोऽधुना सर्वथा परिहर्तुं शक्यो यतो राजपुत्रोऽयं प्रचण्डश्च रुष्टः सर्वस्वमपहरति, तस्मात्-

क्वचिदत्यन्तदूरेण, क्वचिदासन्नवर्तिना। क्वचित्सामान्यरूपेण, वर्तितव्यं मया तदा ॥१८५॥

रत्नोपार्जनतन्निष्ठः, स्वार्थक्षतिविवर्जकः। हरेरपि क्वचिद्गत्वा, करिष्ये चित्तरञ्जनम् ॥१८६॥

ततः कृतं मया यथाचिन्तितं मीलितो रत्नराशिः तत्र च मूर्च्छितः करोमि विवेकिलोकहास्या नानारूपा विडम्बनाः—

तथाहि तानि रत्नानि, मूर्च्छाविह्वलचेतनः। क्वचिद्विस्फारिताक्षोऽहं संपश्यामि पुनः पुनः ॥१८७॥

क्वचित्स्पृशामि हस्तेन, मुहुरुच्छालयामि च। क्वचिद्वक्षःस्थले दत्त्वा, हृष्टतुष्टो भवामि च ॥१८८॥

निखनामि क्वचिद्गर्ते, कुर्वे चिह्नशतानि च। दृष्टः केनचिदित्येवमुत्खनामि पुनः क्षणात् ॥१८९॥

निखाय पुनरन्यत्र, लाञ्छितप्रतिलाञ्छितम्। कृत्वा निरीक्षमाणस्तं, निधिं तिष्ठामि सर्वतः ॥१९०॥

अविश्वासान्न मे रात्रौ, निद्रा नापि दिवा सुखम्। धने मूर्च्छितचित्तस्य, भद्रे! सागरदोषतः ॥१९१॥

ततोऽन्तराऽन्तरा गत्वा, क्वचित्पश्यामि तं हरिम्। तिष्ठामि सततं गेहे, रत्नोपार्जनलोलुपः ॥१९२॥

चिन्तयामि च रत्नानि, द्वीपे यान्यत्र कानिचित्। यद्यहं तानि सर्वाणि, गृहीत्वा यामि पत्तनम् ॥१९३॥

एवं च तिष्ठतस्तत्र, रत्नद्वीपे तदा मम। भद्रे! योऽन्योऽपि संपन्नो, वृत्तान्तस्तं निशामय ॥१९४॥

या कर्मपरिणामस्य, महादेवी पुरोदिता। सा कालपरिणत्याख्या, प्रसिद्धा भुवनत्रये ॥१९५॥

[यौवन-मैथुनयो कुसङ्ग]

तस्या अनुचरौ लोके, ख्यातौ यौवनमैथुनौ। अत्यन्तरसिकौ भद्रे! क्वचिदेवं प्रजल्पितौ ॥१९६॥

यौवनेनोक्तं—मित्र! संसारिजीवोऽसौ, संप्राप्तो वशवर्तिताम्। धनशेखररूपेण, वर्तमानो ममाधुना ॥१९७॥

अतोऽस्ति तत्समीपे भो, भवतोऽपि न संशयः। प्रस्तावो गन्तुमित्येवं, संस्थिते गम्यतामिति ॥१९८॥

मैथुनेनोक्तं—यद्येवं दर्शयैनं मे, कुत्रचिद्धनशेखरम्। सम्बन्धं च ममानेन, मित्र! योजय साम्प्रतम् ॥१९९॥

यौवनेनोक्तं-गतोऽहं पूर्वमेवास्य, समीपं सेवितो मया। ततो बाढं नयामि त्वां, सम्बन्धं लगयामि च ॥२००॥

एवं तौ कृतसम्भाषावन्तरङ्गवयस्यकौ। अथ तत्र समाभ्यर्णे, प्राप्तौ यौवनमैथुनौ ॥२०१॥

यौवनेनोक्तं-अयं मया समानीतो, वयस्योऽत्यन्तवत्सलः। अतो मामिव सर्वत्र, पश्येम धनशेखर! ॥२०२॥

अत्यन्तसुखहेतुस्ते, वयस्योऽय मया युतः। यद्वा नियुक्तवत्सा गौर्नैव श्लाघनमर्हति ॥२०३॥

स चानन्तमहादुःखगर्तसम्पातकारणम्। तथापि च मया भद्रे! मोहदोषान्न लक्षितः ॥२०४॥

न स्थितः सागरं कृत्वा, वयस्यं मे विधिस्तदा। मैथुनं चाकरोदेष, तदिदं लोकजल्पितम् ॥२०५॥

यथा-महाभारसमाक्रान्तमूर्तेरारादिकारिणः। यत्पृष्ठे भाति नोष्ट्रस्य गलके नत्रिबध्यते ॥२०६॥
ततो यौवनवाक्येन, मोहविह्वलचेतसा । प्रतिपन्नौ मया भद्रे ! तौ हि प्रीतान्तरात्मना ॥२०७॥
इतश्च--ममान्तरङ्गप्रासादो, विद्यते स्वान्तनामकः। अथ तस्य कृतः स्वामी, स तदा मैथुनो मया ॥२०८॥
तथा-तस्यैव प्रतिबद्धोऽस्ति, द्वितीयो गात्रनामकः। प्रासाद' स्थापितस्तत्र, स मया यौवनस्तदा ॥२०९॥
अथ तौ निजवीर्येण, ततः प्रासादयोस्तयोः । ललमानौ मया सार्धं, किं किं कर्तु' समुद्यतौ ? ॥२१०॥

[यौवन मैथुनजनितदुश्चेष्टा]

यौवनेन कृता भद्रे ! बलान्मेऽतिमनोहराः । लीलाविलासविब्बोकहास्यशौर्यादयो गुणाः ॥२११॥
मैथुनेन पुनर्भद्रे ! कृतोऽहं योषितां शतैः । सुभुक्तैरप्यतृप्तात्मा, दावानल इवेन्धनैः ॥२१२॥
प्रधानगणिकासङ्गं, कुर्वाणं मैथुनेच्छया । मामसौ वारयत्युच्चैः, सागरो धनलम्पटः ॥२१३॥
इतो हि मैथुनस्याज्ञा, इतः सागरवारणम् । स व्याघ्रदुस्तटीन्यायः, सञ्जातो मे सुदुस्तरः ॥२१४॥
तथाऽतिवल्लभो भद्रे ! सागरो मे विशेषतः । केवलं मैथुनस्याज्ञा, नाहं लङ्घयितु' क्षमः ॥२१५॥
उभयस्यापि कर्तव्य, मयेति वचनं किल । एवं संचिन्त्य विहितं, मयेदं कर्म दारुणम् ॥२१६॥
किं च तत्कर्म ?--
या काश्चिद्बालविधवा, रण्डाः प्रोषितभर्तृकाः। व्रतिन्योऽन्याश्च मूल्येन, विनैव वशगाः स्त्रियः ॥२१७॥
तासु सागरभीतोऽहं, मैथुनाज्ञाविपालकः । कार्याकार्यमनालोच्य, प्रवृत्तो मूढचेतनः ॥२१८॥
ततोऽहं त्यक्तमर्यादो, गाढ निर्लज्जतां गतः । अन्त्यजास्वप्यतृप्तात्मा, प्रवृत्तो मैथुनेच्छया ॥२१९॥
ततश्च--बहुशस्ताडितो भद्रे ! बद्धो गाढं विगोपितः। प्रापितो लाघवं लोके, योषित्सम्बन्धिभिर्नरैः॥२२०॥
केवलं हरिदाक्षिण्यात्पुण्योदयबलेन च । न मारितस्तदा स्त्रीणां, स्वजनैर्नापि दण्डितः ॥२२१॥
धिक्कारविहतो लोके, निन्द्यः सर्वविवेकिनाम् । तदा मैथुनदोषेण संजातोऽहं सुलोचने ! ॥२२२॥
तथापि मूढचित्तस्य, तदा भद्रे ! स मैथुनः । सुखसागरहेतुर्मे, निर्व्याजं प्रतिभासते ॥२२३॥
चिन्तयामि च यस्यायं, मैथुनो न वयस्यकः । किं तेन जीवितेनेह ? जीवन्नेव मृतो ह्यसौ ॥२२४॥
ततोऽह तत्र निर्मिथ्यस्नेहनिर्भरमानसः । तस्य दोषान्न पश्यामि, पश्यामि गुणसंहतिम् ॥२२५॥
एवं विपर्यस्तधिय', स मे वल्लभतां गतः । ततोऽपि वल्लभतरः, सागरो मे विशेषतः ॥२२६॥
चिन्तितं च तदा मया—
प्रभावः सागरस्यायं, यदेते देवदुर्लभाः । अकिञ्चनेन संप्राप्ता, मया माणिक्यराशयः ॥२२७॥
तदेवं मित्रयुग्मेन, तेन दुःखैः प्रपीडितः । तथापि सुस्थितंमन्यो, मोहादस्मि स्थितोऽनघे ! ॥२२८॥

[हरिकुमारे राजविद्वेष]

अथ तं नीलकण्ठस्य, राज्यमन्तःपुरं पुरम् । अनुरक्तं हरौ सर्वं, स्नेहनिर्भरमानसम् ॥२२९॥
ततः कोशेन दण्डेन, हरिर्वृद्धिमुपागतः । जनानुरागप्रभवाः, सुप्रसिद्धा हि सम्पदः ॥२३०॥
अथासौ राजलोकेन, वेष्टितो वरकुञ्जरम् । आरूढो मित्रवृन्देन, वृतो लोकविलोकितः ॥२३१॥
उद्दण्डपुण्डरीकेण, ध्रियमाणेन शक्रवत् । मयूरमञ्जरीयुक्तो, विचचार पुरेऽखिले ॥२३२॥ युग्मम् ।
ततश्च--जनानुरागमतुलं, हरौ वीक्ष्य दुराशया । संजातं नीलकण्ठस्य, चित्तं कालुष्यदूषितम् ॥२३३॥

[हरिकुमारघातेच्छा]

चिन्तितं च ततस्तेन, वृद्धोऽहं पुत्रवर्जितः । अनुरक्त हरौ सर्वं, मम तन्त्रं सबान्धवम् ॥२३४॥
एवं च व्यवस्थिते--बलादुत्तोल्य मामेष, वर्धमानो महाबलः । हरिर्हरिष्यते सर्वं, मम राज्यं न संशयः ॥२३५॥
तस्मान्नोपेक्षणीयोऽयं, गीतं नीतिविशारदैः । अर्धराज्यहरं भृत्यं, यो न हन्यात् स हन्यते ॥२३६॥
अतः सुबुद्धिना सार्धं, पर्यालोच्य सुमन्त्रिणा । हरिं निपातयामीति, चित्ते तेनावधारितम् ॥२३७॥
अथाहूय रहस्ये तं, सुबुद्धिं वरमन्त्रिणम् । स नीलकण्ठराजेन्द्रः, स्वाभिप्रायं न्यवेदयत् ॥२३८॥
स च तादृशवाक्येन, वज्राहत इवान्तरा । तथापि नीलकण्ठस्य, कृतवाननुवर्तनम् ॥२३६॥
उक्तं च तेन सुबुद्धिमन्त्रिणा, यदुत—
एवं विधीयतां देव ! यत्ते मनसि रोचते । अयुक्ते न प्रवर्तन्ते, बुद्धयो हि महात्मनाम् ॥२४०॥
ततश्च--स सुबुद्धिर्नरेन्द्रश्च, कर्तव्यं हरिमारणम् । एवं संस्थाप्य सिद्धान्तं, स्वं स्वं गेहमुपागतौ ॥२४१॥

[सुबुद्धिना हितचिन्तनम्]

अथावदातसद्बुद्धेः, सुबुद्धेर्मनसीदृशाः । तदा विकल्पाः सञ्जातास्तच्छ्रुत्वा राजजल्पितम् ॥२४२॥
धिग् धिग् भोगसुखासङ्गं, धिगज्ञानविजृम्भितम् । धिगहो राज्यलाम्पट्यं, कुविकल्पशतालयम् ॥२४३॥
यदेष पूर्वं देवस्य, जीवितादपि वल्लभः । जामाता भागिनेयश्च, हरिः सर्वगुणाकरः ॥२४४॥
अधुना वर्तते द्वेष्यो, वध्यः शत्रोः समर्गलः । तदत्र भोगतृष्णान्ध्यं, विमुच्यान्यन्न कारणम् ॥२४५॥ तथाहि-
कथं विनीतः शुद्धात्मा, निर्लोभः पापभीरुकः । स हरिः स्वप्नकालेऽपि, हरेद्देवस्य शासनम् ? ॥२४६॥
तदयं राज्यमोहेन, मूढो राजा न संशयः । तथापि रक्षणीयोऽसौ, रत्नभूतो मया हरिः ॥२४७॥
ततो दमनको नाम, स्वचेटस्तेन मन्त्रिणा । प्रच्छन्नं प्रहितस्तूर्णं, हरेर्वृत्तान्तसूचकः ॥२४८॥
संदिष्टं च यथा शीघ्रं, कुमार ! कुलभूषण । त्वया ममानुरोधेन, देशः संत्यज्यतामयम् ॥२४६॥
ततो दमनकाच्छ्रुत्वा, सुबुद्ध्यभ्यर्थनां हरिः । समुद्रलङ्घने चित्तमभीतोऽपि चकार सः ॥२५०॥
अथैकान्ते ममानेन, वृत्तान्तो निखिलस्तदा । कथितो हरिणा भद्रे ! गाढं विश्रब्धचेतसा ॥२५१॥
उक्तं च हरिणा-अकार्यकुपितो राजा, ममादिष्टं च मन्त्रिणा । अतः समुद्रमुल्लङ्घ्य, गन्तव्यं भारते मया ॥२५२॥
न चाहं क्षणमप्येकं, शक्नोमि रहितस्त्वया । स्थातुं ततः प्रतिष्ठस्व, गच्छामो धनशेखर ! ॥२५३॥

[हरिकुमारेण प्रस्थान]

मया चिन्तितं—
रत्नोपार्जनविघ्नो हि, सर्वथाऽय हरिर्मम । तथापि का गतिर्नूनं, गन्तव्यममुना सह ॥२५४॥

ततो मयोक्तं—कुमार ! यत्ते रोचते किमत्र वयं ब्रूमः ? हरिराह—यद्येवं ततो वयस्य ! निरूपय किंचिन्निष्ठुरं यानपात्रं, यतोऽस्ति मे भाण्डागारे महत्तमो रत्नराशिस्तं गृहीत्वा गच्छाम इति । मयोक्तं- यदादिशति कुमारः, ततो निरूपिते द्वे यानपात्रे, भृतमेकं हरिरत्नानामपरमात्मरत्नानामिति । ततः संजातः प्रदोषसमयः, गतो वञ्चयित्वा निःशेषं परिजनं वसुमतीमयूरमञ्जरीसहितो जलधितीरं हरिकुमारोऽहं च । निरूपिताः सांयात्रिकपुरुषाः अतिलङ्घिता स्तोकवेला, समुद्गतः कामिनीगण्डपाण्डुरः शशधरः, समागता संक्षोभितजलचरनिनादगर्भा समुद्रवेला समारूढो यानपात्रमात्मीयं सपत्नीको हरिकुमारः । अहं तु स्वकीयं

यानपात्रमारुरुक्षुरुक्तो हरिणा--यथा धनशेखर ! त्वमप्यत्रैव मदीयपोते समारुह, न शक्नोम्यहं भवन्तं विहाय निमेषमप्यासितु, ततः समारूढोऽहमपि तत्समीपे, कृतानि मङ्गलानि उपयुक्तः कर्णधारः आपूरिते यानपात्रे प्रवृत्ते पवनवेगेन । तथा वहतां च गतानि कतिचिद्दिनानि लङ्घितो वंहीयान् समुद्रः । अत्रान्तरे ममागृहीतमङ्केते ! भद्रे पापवयस्यकौ । सागरो मैथुनश्चोच्चैः, प्रेरकौ समुपस्थितौ ।।२५५।।

ततश्च--सागरेण कृता बुद्धिर्ममैषा पापकर्मणा । यथेदं रत्नसंपूर्णं, बोहित्थं कस्य (? केन) मुच्यते ? ।।२५६।।

[सागरमैथुनजनिता द्रोहवृत्ति]

ततो मया चिन्तितं, अहो मे भाग्यातिशयः, तथाहि--

एकं तावन्ममात्मीयं, बोहित्थं रत्नपूरितम् । द्वितीयमिदमायातं, संपूर्णा मे मनोरथाः ।।२५७।।
विहिता मैथुनेनापि, मम बुद्धिर्दुरात्मना । तदेदृशी महापापपूरपूरितचेतसः ।।२५८।।
मयूरमञ्जरी यावन्न भुक्तेयं वरानना । पृथुस्तनी विशालाक्षी, क्षाममध्यातिकोमला ।।२५९।।
बृहन्नितम्बबिम्बेन, मन्दसञ्चारमन्थरा । लावण्यामृतपूर्णाङ्गी, सर्वथा भुवनातिगा ।।२६०।।
तावत्किं जीवितेनेह, निष्फलेन प्रयोजनम् ? । अतोऽहं मानयाम्येनां, सर्वथा चारुलोचनाम् ।।२६१।।
तदिदं रत्नबोहित्थमेषा च हरिणेक्षणा । न मे संपद्यते तावद्यावन्नो घातितो हरिः ।।२६२।।
ततः पातकपूर्णेन, मित्रद्वयवशात्तदा । हरिं व्यापादयामीति, मया चित्तेऽवधारितम् ।।२६३।।
नालोचितं हरेश्चितं, निर्व्याजस्नेहनिर्भरम् । न विज्ञातं महापापं, न दृष्टं कुलदूषणम् ।।२६४।।
लङ्घिता च परा मैत्री, विस्मृता साधुकारिता । उपचाराः परिभ्रष्टा, निर्नष्टं सत्यपौरुषम् ।।२६५।।
अथ बोहित्थपर्यन्ते, रात्रावुत्थाय संस्थितः । हरिः शरीरचिन्तार्थं, पापेन प्रेरितो मया ।।२६६।।
ततो मां वीक्षमाणोऽसौ, किमेतदिति चिन्तया । व्याकुलो विषमस्थत्वाद् द्राट्कृत्य पातितो जले ।।२६७।।
द्राट्कारादुत्थिता लोकाः, कोलाहलपरायणाः । मयूरमञ्जरी त्रस्ता, स्थितोऽहं शून्यमानसः ।।२६८।।

[देवाविर्भाव]

अथ तत्तादृशं वीक्ष्य, नृशंसं कर्म मामकम् । समुद्राधिपतिर्देवो, गतः कोपं ममोपरि ।।२६९।।
तुष्टो हरिकुमारस्य, कुन्देन्दुविशदैर्गुणैः । स कृत्वा भीषणं रूपमायातो घोरमानसः ।।२७०।।
तेन चासौ क्षणादेव, देवेन विहितादरम् । उत्पाट्य जलधेर्नीराद्बोहित्थे स्थापितो हरिः ।।२७१।।
इतश्च--योऽभूत्पुण्योदयो नाम, वयस्योऽत्यन्तवत्सलः । अत्रान्तरे स नष्टो मे, रुष्टवद्दुष्टकर्मणा ।।२७२।।
अथाकाशे लसद्दीप्तिविद्योतितदिगन्तरः । स देवो भीषणं रूपमास्थाय मम सम्मुखम् ।।२७३।।
ततो रे रे महापाप ! दुर्बुद्धे कुलदूषण । निर्लज्ज त्यक्तमर्याद, हीनसत्त्व नराधम ।।२७४।।
विधायापीदृशं कर्म, घोर रौद्रेण चेतसा । तथापि न त्वमद्यापि, शतशर्करतां गतः ।।२७५।।
एवं ब्रुवाणो दष्टौष्ठो, भीमभ्रुकुटिदारुणः । स देवः कम्पमानं मां, गृहीत्वा गगने स्थितः ।।२७६।।

[धनशेखररक्षा]

ततो हरिकुमारस्तं, देवं प्रणतमस्तकः । इत्थं विज्ञापयत्युच्चैर्मयि स्नेहपरायणः ।।२७७।।
यथा--ममोपरि दया देव ! यद्यस्ति तव मानसे । ततः पादनतस्याथ, वयस्यो मुच्यतां मम ।।२७८।।
आकृष्टोऽह त्वया देव ! कृतान्तवदनादिव । अतः प्रियवयस्यं मे, न देवो हन्तुमर्हति ।।२७९।।

रहितस्य ममानेन, निष्फलं बत जीवितम् । धनं सुखं शरीरं च, देव ! तन्मुच्यतामयम् ॥२८०॥
विज्ञातेऽपि महाभागो, मदीये खलचेष्टिते । तथापीदक्षचित्तोऽसौ, निर्विकारा हि साधवः ॥२८१॥
स तु देवो महाकोपादाकर्ण्य हरियाचनाम् । मयि गाढतरं रुष्टस्तं प्रतीदमभाषत ॥२८२॥
मुग्धोऽसि त्वं महाभाग ! गच्छाभिमतपत्तनम् । अहमस्यानुरूपं तु, करोम्येष दुरात्मनः ॥२८३॥
ततश्चोल्ललमानेन, तत्रागाधे महोदधौ । आस्फोटितस्तथा भद्रे ! यथाऽवनितलं गतः ।२८४॥
ततस्तमोऽन्धपाताले, नरकेष्विव नारकः । स्थित्वाऽहं पुनरुद्धतो, भद्रे ! पापेन कर्मणा ॥२८५॥
स तु देवो मृतं मत्वा, मां स्वस्थानमुपागतः । वेलाकूले च संप्राप्तं, हरेः पोतद्वयं क्रमात् ॥२८६॥
इतश्चानन्दनगरे, स केसरिनराधिपः । मृतो हरिकुमारेण, विज्ञातो जनवार्तया ॥२८७॥
ततो हरिकुमारेण, शीघ्रं गत्वा सबान्धवम् । भद्रे ! तत्पैतृकं राज्यं, क्लेशहीनमधिष्ठितम् ॥२८८॥

यतो निवेदितो वसुमत्या समस्तोऽपि बान्धवानां कमलसुन्दरीवृत्तान्तः स्थापितः केशरिराजपुत्रतया हरिकुमारः, ततोऽनुरक्ताः सर्वेऽपि हरिकुमारे लोकाः परिणतं राज्य संजातो भूरिमण्डलाधिपतिर्निजपुण्यप्राग्भारेण समर्पितं च मदीयपितुर्हरिशेखरस्य तन्मामकं रत्नबोहित्थं हरिकुमारेणेति । अतश्चाहं तथा पातालतलादुन्मग्नस्ततः प्रेर्यमाणः शैलकूटविकटैः क्षारजलकल्लोलैरास्फोटयमानो गुरुमत्स्यपुच्छच्छटाघातैर्बध्यमानस्तनुकतन्तुजन्तुसन्तानैर्विलोलमानो धवलशङ्खकुलावलीमण्डले विमुह्यमानो घनविद्रुमवनगहनेषु जनितभयो विविधमकरजलमानुषविषधरनक्रचक्रैरुल्लिख्यमानः कठिनकमठपृष्ठकण्टकैः कथंचित्कण्ठगतप्राणः सप्तरात्रेण संप्राप्तो जलधितीरं, आश्वासितः पवनेन लब्धा चेतना ततो बाधते मां बुभुक्षा अभिभवति पिपासा ततोऽहं फलजलार्थी पर्यटितुं प्रवृत्तो यावत्-

पुण्योदयस्य नष्टत्वाद् भ्रमताऽत्र मया वनम् । प्राप्तं पुष्पफलैः शून्यं, मरुभूमेः समप्रभम् ॥२८९॥
तथापि तत्र वने —
अद्यापि करणीयं मे, यतोऽस्ति बहुपातकम् । ततः कृच्छ्रेण संपन्ना, प्राणवृत्तिः कथचन ॥२९०॥

[धनशेखरावदशा]

अथ ग्रामपुराकीर्णं, वसन्तं देशमागतः । न च शून्याभिमानेन, पितुः पार्श्वमहं गतः ॥२९१॥
किं तु—नष्टपुण्योदयस्ताभ्यां, मित्राभ्यां परिवारितः । भ्रान्तो विविधदेशेषु, भूयो भूयो धनेच्छया ॥२९२॥
तत्र च—यद्याचरामि वाणिज्य, रूपेणार्धं प्रजायते । करोमि कर्षणं तत्र, वृष्टिर्देशेऽपि नश्यति ॥२९३॥
ततः सेवां करोम्युच्चैर्विनयोद्यतमानसः । यावन्मम विना कार्यं, स राजा रोषमागतः ॥२९४॥
तोषार्थं स्वामिनो भीमे, रणे योद्धमुपागतः । तत्रापि तीक्ष्णशस्त्रौघप्रहारैः पीडितः परम् ॥२९५॥
अथान्यदा बलीवर्दवाहनं विहितं मया । यावत्तिलकरोगेण, मृताः सर्वेऽपि ते वृषाः ॥२९६॥
अथ रामभमार्थेन, वाणिज्यं कर्तुमुद्यतः । यावच्चौरैः पतित्वाऽसौ, सर्वः सार्थो विलोडितः ॥२९७॥
ततः कुटुम्बिनो गेहे, जातोऽहं कर्मकारकः । स चोक्तामपि मे वृत्तिं, न ददाति प्रकुप्यति ॥२९८॥
तत भूयः समुद्रेऽहं, वणिजोऽन्यस्य सेवकः । भूत्वा प्रविष्टो बोहित्थं, समारुह्य वरानने ! ॥२९९॥
यावन्ममानुभावेन, तदपि प्रलयं गतम् । यानपात्रं समुत्तीर्णः, फलकेन कथंचन ॥३००॥
अथ रोधनमासाद्य, द्वीपं संतुष्टमानसः । ततः खनितुमारब्धो, यावद्धूलिः परं करे ॥३०१॥

अथान्यत्र पुनर्गत्वा, नरेन्द्रं प्राप्य कंचन । धातुवादः समारब्धो, विधातुं धनकाम्यया ॥३०२॥
पाषाणैर्मूलजालैश्च, मृद्भिः पारदमर्दनैः । क्षपितोऽहं तदा भद्रे! जातः क्षारः परं करे ॥३०३॥
ततो द्यूतं मया चित्रं, शिक्षितं धनकाम्यया । यावत्तत्रापि जित्वाऽहं, बद्धो द्यूतकरैर्नरैः ॥३०४॥
भ्रष्टः कथंचित्तेभ्योऽपि, समासाद्य परं नरम् । गृहीतपुस्तको रात्रौ, प्रविष्टो रसकूपिकाम् ॥३०५॥
यावद्भीषणनादेन, लाङ्गलोल्लासकारिणा । त्रासितो मृगनाथेन, कथंचिन्न मृतस्तदा ॥३०६॥
किं बहुना? यद्यत्कृतं मया कर्म, तदानीं धनकाम्यया । तत्तत्पुण्योदयाभावाद्विपरीतमुपस्थितम् ॥३०७॥
किं वाऽपरं निगद्येत, बुभुक्षाक्षामकुक्षिणा । भिक्षापि च न लब्धाऽहो, मया पुण्योदयं विना ॥३०८॥
ततो विषादमापन्नः, सर्वकर्मपराङ्मुखः । स्थितोऽहं मौनमालम्ब्य, कृत्वा पादप्रसारिकाम् ॥३०९॥

[सागरकृतमुत्साहप्रदान]

ततः स सागरो भद्रे! ममोत्साहविधित्सया । हितोपदेशदायीति, तवाहमिति जल्पितः ॥३१०॥
उक्तं च तेन सागरेण, यथा–

न विषादपरैरर्थः, प्राप्यते धनशेखर! । अविषादः श्रियो मूलं यतो धीराः प्रचक्षते ॥३११॥

ततः सर्वथा विषादं विरहय्य प्रतिकूलेऽपि विधौ पुरुषः पुरुषकारेण धनमुपार्जयन्नेव पौरुषं लभते नान्यथा, किं बहुना?–अलीकमपि गदित्वा परमपि मुषित्वा मित्रद्रोहमपि कृत्वा मातरमपि हत्वा पितरमपि व्यापाद्य सहोदरमपि निपात्य भगिनीमपि विनाश्य बन्धुवर्गमपि मारयित्वा समस्तपातकान्यपि विधाय पुरुषेण सर्वथा धनं स्वीकर्तव्यं, यतः कृतपातकोऽपि पुरुषो धनी धनमाहात्म्यादेव पूज्यते लोकेन परिवार्यते बन्धुवर्गेण श्लाघ्यते बन्दिवृन्देन बहुमन्यते विद्वज्जनेन गण्यते विशुद्धधार्मिकजनादपि समर्गलतरो धार्मिक इति । ततो भो भो धनशेखर! विमुञ्च विषादं अवलम्बस्व धैर्यं कुरु पुनर्धनार्जनोत्साहं पश्य मदीयवीर्यं विधेहि मामकमेनमुपदेशमिति ।–

ततोऽहं तेन चार्वङ्गि! सागरेण दुरात्मना । एवं विधाय दुर्बुद्धिं पातकेषु प्रवर्तितः ॥३१२॥
कृतानि च मया तानि, नानादेशविचारिणा । यानि यान्युपदिष्टानि, तेन पापानि बन्धुना ॥३१३॥
केवलं पापकर्माणि, कुर्वतोऽप्यनिशं मम । न जातो धनगन्धोऽपि, भद्रे! पुण्योदयं विना ॥३१४॥
अन्यच्च–पुण्योदयविनिर्मुक्तो, मिथ्यामानेन सुन्दरि! । न गतः श्वशुरस्यापि, बकुलस्य गृहे तदा ॥३१५॥
किं च–स यौवनवयस्येन, युक्तो मैथुननामकः । मां तस्यामप्यवस्थायां, प्रेरयन्नेव तिष्ठति ॥३१६॥
केवलं तदवस्थं मां, पुण्योदयविवर्जितम् । नारी निर्धनमेकापि, काणाक्ष्णापि न वीक्षते ॥३१७॥
ततो दन्दह्यते चेतो, गाढं मे मैथुनेच्छया । **न च संपद्यतेऽभीष्टं, किंचित्पुण्योदयं विना** ॥३१८॥
एवं विविधदेशेषु, दुःखसङ्घातपीडितः । मैथुनेच्छापरीतोऽहं, बम्भ्रमीमि धनाशया ॥३१९॥

[हरिराजस्य उत्तमसूरिसमागम]

इतश्चानन्दनगरे, तेन भूरिगुणाकरः । दृष्टो हरिनरेन्द्रेण, सूरिरुत्तमनामकः ॥३२०॥
सत्साधुसङ्घमध्यस्थमथोद्याने **मनोरमे** । दृष्ट्वा तमुत्तमाचार्यं, हरिस्तोषमुपागतः ॥३२१॥
ततश्च–सहितो राजवृन्देन, तं मुनिं स नरेश्वरः । वन्दित्वा सपरिवारं, निषण्णः शुद्धभूतले ॥३२२॥
ततो भगवता तेषाममृतास्वादनोपमा । सर्वेषामेव जन्तूनां, विहिता धर्मदेशना ॥३२३॥

ततो भगवतो वाक्यमाकर्ण्य स महीपतिः । अत्यन्तं रञ्जितश्चित्ते, ततश्चेदमचिन्तयत् ॥३२४॥
सूक्ष्मव्यवहितातीतभाविभावेषु भूरिषु । नूनं भगवतो ज्ञानमस्य सर्वेषु विद्यते ॥३२५॥
तदेनं प्रश्नयाम्यद्य, सूरिं किं तत्र कारणम् ? । येनाहं प्रेरितस्तेन वयस्येन जले तदा ॥३२६॥
वल्लभोऽहं पुरा तस्य, स च मे धनशेखरः ! किं पुनः क्षणमात्रेत, तेन तादृग् विचेष्टितम् ? ॥३२७॥
किं वा रुष्टः स देवोऽस्य, कस्मादास्फोटितस्तथा । किं जीवति मृतो वा मे, वयस्यो धनशेखरः ? ॥३२८॥
यावत्स चिन्तयत्येवं, चेतसा हरिपार्थिवः । तावद्विज्ञाय तत्सर्वं, सूरिरित्थमवोचत ॥३२९॥
यच्चिन्तितं त्वया भूप ! किं पुनस्तत्र कारणम् । वत्सलेनापि मित्रेण, यदहं प्रेरितो जले ॥३३०॥
तत्राकर्णय-अन्तरङ्गौ हि विद्येते, तस्य सागरमैथुनौ । वयस्यौ स तयोर्दोषो, नैव तस्य तपस्विनः ॥३३१॥
स हि चारुः स्वरूपेण, भद्रको धनशेखरः । ताभ्यां पापवयस्याभ्यां, केवलं क्रियतेऽन्यथा ॥३३२॥

तथाहि- तस्य वराकस्य धनशेखरस्य -

मयूरमञ्जरीं भुञ्जे, मैथुनेन कृता मतिः । हरामि रत्नबोहित्थं, सागरेण कृतं मनः ॥३३३॥
ततश्च तद्वशात्तेन, प्रेरितस्त्वं तथा जले । अत एव गतः कोपं, समुद्राधिपतिस्तदा ॥३३४॥
तेन त्वं रक्षितो नीतः, स पातालतलं तथा । तथापि न मृतस्तीर्णः, समुद्रं धनशेखरः ॥३३५॥
अधुनाऽनेकदेशेषु, नानारूपा विडम्बनाः । ताभ्यां पापवयस्याभ्यां, स वराको विधाप्यते ॥३३६॥
एवं तेन चतुर्ज्ञानयुक्तेन वरसूरिणा । निवेदिते तथा भद्रे ! मदीये दुष्टचेष्टिते ॥३३७॥
स हरिश्चिन्तयत्येवमहो ज्ञान महामुनेः । अहो निपतितः क्लेशे, वराको धनशेखरः ॥३३८॥
ततो हरिनरेन्द्रेण, करुणागतचेतसा । पृष्टः स उत्तमाचार्यः, प्रणम्येद सुमेधसा ॥३३९॥

[कुमित्रयुगलेन धनशेखरभाविवियोगप्रश्न]

यथा—स ताभ्यां पापमित्राभ्यां, भदन्त ! धनशेखरः । कदा पुनर्वियुज्येत, येन स्यात्सुखभाजनम् ? ॥३४०॥
सूरिरुवाच-अस्ति भो सततानन्द शुभ्रचित्तं महापुरम् । विद्यते भुवनानन्दस्तत्र राजा सदाशयः ॥३४१॥
तस्य चास्ति महादेवी, लोके ख्याता वरेण्यता । तस्या द्वे कन्यके धन्ये, विद्येते चारुलोचने ॥३४२॥
एका ब्रह्मरतिर्नाम, द्वितीया मुक्तताेच्यते । तयोश्च गुणविस्तारं, कोऽत्र वर्णयितु क्षमः ? ॥३४३॥
तथाहि—यं नरं चारुसर्वाङ्गी, विलोकयति लीलया । लोके ब्रह्मरतिः साध्वी स पवित्रो निगद्यते ॥३४४॥
सा हि सर्वगुणाधारा, सा वन्द्या योगिनामपि । साऽनन्तवीर्यसन्दोहदायिनीति निगद्यते ॥३४५॥
सा मैथुनाभिधानस्य, धनशेखरवैरिणः । तिष्ठतो मित्ररूपेण, केवल नाशकारिणी ॥३४६॥
मुक्तता हि महाराज ! निःशेषगुणमन्दिरम् । अशेषदोषमशोषकारिणी च न संशयः ॥३४७॥
विरोधोऽस्ति तया सार्धं, स्वभावेनैव सर्वदा । धनशेखरमित्रस्य, सागरस्यास्य पापिनः ॥३४८॥
तां शुद्धधर्मपूर्णाङ्गीमेष सागरनामकः । पापात्मा कन्यका दृष्ट्वा, दूरतः प्रपलायते ॥३४९॥ एवं च
स्थिते-यदा ते कन्यके भार्ये, लप्स्यते धनशेखरः । तदाऽऽभ्यां, पापमित्राभ्यां निःसन्देह वियोक्ष्यते ॥३५०॥
ललमानस्ततस्ताभ्या, सार्धमेष स्वलीलया । अनन्तानन्दसन्दोहभाजनं च भविष्यति ॥३५१॥
ततो हरिनरेन्द्रेण, भूयोऽपि स मुनिस्तदा । पृष्टो ललाटविन्यस्तकरकुड्मलशालिना ॥३५२॥
यथा-गुणसन्दोहसंपूर्णे, पापमित्रवियोजिके । कथं ते लप्स्यते कन्ये, भदन्त ! धनशेखर ? ॥३५३॥

सूरिणोक्तं–अन्तरङ्गो महाराजः, प्रतापाक्रान्तमण्डलः। स कर्मपरिणामाख्यः, प्रतीतो हि भवादृशाम् ॥३५४॥
स तोषितो महादेव्या, काले भाविनि जातुचित्। तत्पित्रा तव मित्राय, ते कन्ये दापयिष्यते ॥३५५॥
ततो वयस्यस्ते भूयः, प्राप्स्यते परमं सुखम्। नान्यः कश्चिदुपायोऽस्ति, विमृश्याकुलचित्ततां ॥३५६॥
तदाकर्ण्य मुनेर्वाक्यं, मां प्रत्येष निराकुलः। संजातो हरिराजेन्द्रः, पुनस्स्थिममापत ॥३५७॥

भदन्त! यदुक्तं भगवता यथा तेन धनशेखरेण पापमधुनवागद्दोषाचारदृशं कर्माचरितं स्वरूपेण पुनर्भद्रकोऽसौ धनशेखर इति, तत्र ममायमधुना वितर्को, यथा किं स्वरूपेण निर्मलः परदोषेणापि दुष्टः पुरुषो भवति? सूरिणोक्तं–महाराज! भवत्येव, तथाहि–द्विविधोऽत्र लोको-बहिरङ्गोऽन्तरङ्गश्च, तत्र बहिरङ्गलोककृदोषाः पुरुषस्य लगन्ति वा न वा, अन्तरङ्गलोककृदोषाः पुनर्लगन्त्येव–

[अन्तरङ्गलोकदोषकारित्वे कथानकम्]

तत्रान्तरङ्गलोकानां, दोषकारित्वसूचकम्। आकर्णय महाराज! कथयिष्ये कथानकम् ॥३५८॥

नृपतिराह–निवेदयतु भगवान्, सूरिणोक्तं–प्रतीतमेव तावदिदं भवादृशां यथा कर्मपरिणाममहाराजस्य कालपरिणतेश्च महादेव्याः सम्बन्धीन्यपत्यानि दुर्जनचक्षुर्दोषभयादविवेकादिभिर्मन्त्रिभिर्गुप्ते गोपितानीति। इतश्चास्ति शुद्धसत्यवादी समस्तसत्त्वसङ्घातहितकारी सर्वभावस्वभाववेदी तयोः कालपरिणतिकर्मपरिणामयोर्देवीनृपयोः समस्तरहस्यस्थानेष्वत्यन्तभेदज्ञः सिद्धान्तो नाम परमपुरुषः। तस्य चाप्रबुद्धो नाम संपन्नो विनेयः, स च तं पप्रच्छ–भगवन्निह पुरुषस्य किमिष्टं किं वाऽनिष्टमिति? सिद्धान्तः प्राह–भद्र! सुखं पुरुषस्येष्टं दुःखं पुनरनिष्टमिति, सुखार्थं हि सर्वे पुरुषाः प्रवर्तन्ते दुःखात्तु सर्वे निवर्तन्त इति। अप्रबुद्धः-- प्राह भदन्त! किं पुनस्तस्य सुखस्य कारणं किं वा दुःखस्य? सिद्धान्तेनोक्तं -राज्य सुखस्य कारणं तदेव च दुःखस्य। अप्रबुद्धः प्राह-भदन्त! एकमेव द्वयस्यापि कारणं ननु विरुद्धमिदं, सिद्धान्तेनोक्तं-- नास्त्यत्र विरोधः, यतः सुपालितं तत्सुखस्य कारणं दुष्पालितं तदेव दुःखस्येति। अप्रबुद्धः प्राह--किं राज्यमेव सुखदुःखयोः कारणं नापरं किंचिदपि? सिद्धान्तः प्राह--बाढं राज्यमेव सुखदुःखयोः कारणं नापरं किंचिदपि। अप्रबुद्धेनोक्तं ननु प्रत्यक्षविरुद्धमिदं, यतः स्वल्पतराणामिह जीवानां राज्यमुपलभ्यते यावता सर्वेऽपि जीवाः सुखं दुःखं चानुभवन्तो दृश्यन्ते, सिद्धान्तेनोक्तं-भद्र! न बहिरङ्गमिदं राज्यं यत्सुखदुःखयोः कारणं, किं तर्हि? अन्तरङ्गं, तच्च सर्वेषां संसारोदरविवरवर्तिनां जीवानामस्त्येव, ततो ये जीवास्तत्सम्यक् पालयन्ति तेषां सुखं संपादयति, ये तु दुष्पालितं तद्राज्यं कुर्वन्ति तेषां दुःखं जनयति, ततो नास्ति प्रत्यक्षविरोधः। अप्रबुद्धः प्राह–भदन्त! तत् किमेकरूपं राज्यं किं वाऽनेकरूपं? सिद्धान्तेनोक्तं--सामान्येनैकरूपं विशेषेण पुनरनेकरूपं, अप्रबुद्धः प्राह–यद्येवं ततस्तत्र सामान्यराज्ये तावत्को राजा कः कोशः किं बलं काऽत्र भूमिः के देशाः का वा सामग्रीति श्रोतुमिच्छामि। सिद्धान्तेनोक्तं--भद्राकर्णय--
सर्वस्याधारभूतोऽस्य, राज्यभारस्य सुन्दर! । एकः संसारिजीवोऽत्र, महाराजो निगद्यते ॥३५९॥

[राज्यस्य सुखदुःखहेतुता]

कोशस्तत्र महाराज्ये, भाविकै रत्नराशिभिः। परिपूर्णः शमध्यानज्ञानवीर्यादिभिः परैः ॥३६०॥
भुवनानन्दसन्दोहदायकं चात्र सुन्दरम्। क्षीरनीरधिसङ्काशं, चतुरङ्गं महाबलम् ॥३६१॥

तत्र च महासैन्ये गाम्भीर्यौदार्यशौर्यादयः स्यन्दनाः यशःसौष्ठवसौजन्यप्रश्रयादयः करिवराः बुद्धिपाटववाग्मित्वनैपुण्यादयस्तुरङ्गमाः अचापलसौमनस्यमनस्वित्वदाक्षिण्यादयः पदातिवर्गाः संसारिजीवमहाराजहितकारी चतुर्मुखश्चारित्रधर्मनामा प्रतिनायकः, तस्य च सम्यग्दर्शनो नाम महत्तमः सद्बोधो मन्त्री यतिधर्मगृहिधर्मौ सुतौ सन्तोपस्तन्त्रपालः शुभाशयादयो महाभटाः, अपि च-

संसारिजीवराजेन, सौराज्ये प्रकटीकृतम् । चतुरङ्गं महासैन्यं, कस्तद्वर्णयितुं क्षमः ? ॥३६२॥
अनन्तगुणसम्भारगौरवं तस्य सुन्दरम् । स एव विमलीभूतः, केवलं यदि बुध्यते ॥३६३॥
भूमिस्तत्र महाराज्ये, चित्तवृत्तिर्महाटवी । सर्वाधारतया (ख्याता गुणैराढ्या च) वर्तते ॥३६४॥

तस्यां निविष्टानि सात्त्विकचित्तजैनपुरविमलमानसशुभ्रचित्तादीनि नानारूपाणि नगराणि, तदनुकारिणो ग्रामाकरादयः तदुपलक्षिता विविधरूपा देशाः । तस्यां च राज्यभुक्तिभूमौ विद्यन्ते घातिकर्मसंज्ञा भूयांसश्चरटाः, सन्तीन्द्रियनामानस्तस्कराः परिभ्रमन्ति कषायरूपा लूपकाः विचरन्ति नोकषायाख्या लुण्टाकाः उपप्लवन्ते परीषहाह्वाश्चारभटाः संभवन्त्युपसर्गाभिधाना दुष्टभुजङ्गाः विलसन्ति प्रमादनामकाः पिङ्गाः तेषां च सर्वेषां द्वौ भ्रातरौ सर्वप्रधानौ--कर्मपरिणामो महामोहश्च,-

[कर्मपरिणाम-महामोहयोः स्वच्छन्दविलास]

एतौ चात्यन्तदर्पिष्ठौ, समृद्धौ रणशालिनौ । चतुरङ्गबलोपेतौ, भटकोटिभिरावृतौ ॥३६५॥ ततश्चेमौ मन्येते यदुत कोऽयं संसारिजीवोऽत्र, को वा चारित्रधर्मकः । आवयोर्भुक्तिभूरेषा, चित्तवृत्तिर्महाटवी ॥३६६॥
अस्मदीयमिदं राज्यं, नास्त्यन्यः परिपन्थिकः । स कर्मपरिणामाख्यस्ततो राजा व्यवस्थितः ॥३६७॥

निवेशितानि राजसचित्ततामसचित्तरौद्रचित्तपुरादीनि भिल्लपल्लिप्रायाणि नानाविधनगराणि । प्रस्थापितस्तेषु महामोहनरेन्द्रः समर्पितं तस्य चतुरङ्गं बलं व्यवस्थापिता समस्ता राज्यनीतिः न्यस्तः समस्तोऽपि महामोहे राज्यभारः, स्वयं पुनरसौ कर्मपरिणामः सह महादेव्या कालपरिणत्या मनुजगतौ संसाराभिधानं नाटकं पश्यन्नास्ते, केवलं स कर्मपरिणामो जानन्निव संसारिजीवमहाराजवीर्यमाकलयन्निव चारित्रधर्मप्रतिनायकसामर्थ्यं लक्षयन्निव सद्बोधमन्त्रिमन्त्रशक्तिं परिच्छिन्दन्निव सम्यग्दर्शनमहत्तमबलं निश्चिन्वन्निव सन्तोपतन्त्रपालव्यवसायं पश्यन्निव शुभाशयाद्यनेकभटकोटियुक्तचतुरङ्गबलोत्साहं नात्यन्तनिरपेक्षः संसारिजीवराज्येऽपेक्षते चायतिं कुरुते चारित्रधर्मादीनामनुवर्तनं दर्शयत्यात्मभावं वर्धयति प्रीतिं संपादयति कानिचित्सुन्दरप्रयोजनानि । ततस्तैरपि चारित्रधर्मादिभिर्मध्यस्थोऽयमितिकृत्वा गृहीतोऽसौ कर्मपरिणामः स्वामिबुद्ध्या, जातः संसारिजीवमहाराजस्यापि प्रष्टव्यस्थाने। महामोह पुनर्निजभुजबलावलेपेन संसारिजीवं चारित्रधर्मादिकं तावद्बलं न तृणतुल्य मन्यते, ततो यावन्न जानीते संसारिजीवस्तदात्मीयं महाराज्यं न लक्षयति तच्चतुरङ्गं महाबलं न वेदयते तां महासमृद्धिं नो कलयत्यात्मनः परमेश्वरतां तावदसौ महामोहो लब्धावसरश्चरटवृन्दपरिकरितः समाक्रामति समस्तां तां राजभुक्तिं स्वीकरोति निःशेषनगरग्रामाकरादीन् विलसति यथेच्छया करोत्यकिंचित्करं संसारिजीवं निर्णाशयति तद्बलं भवति स्वयमेव तत्र संसारिजीवमहाराज्ये प्रभुरिति ।

[संसारिजीवमपेक्ष्य सुख दुःखे]

यदा तु कथंचित्संसारिजीवस्तदात्मीयं राज्यं बलं समृद्धि स्वरूपं च लक्षयेत् तदा विगृह्णाति तेन महामोहेन सार्धमुत्कर्षयति निजबलं वर्धयति ससमृद्धिं विग्रहारूढश्च बहुशो महामोहं विजयतेऽनेकशो महामोहे-

नाप्यसौ विजीयते, यावन्मात्रं यदा विजयते तावन्मात्रं तदा सुखमाप्नोति, यावन्मात्रं यदा निजयते तावन्मात्रं तदा दुःखमास्कन्दति,–

यदा तु वीर्यमाप्नोति, सद्ग्रामाभ्यासयोगतः । भद्र ! संसारिजीवोऽसावचिन्त्यमतुलं किल ॥३६८॥
तदा निःशेषमुन्मूल्य, महामोहपुरःसरम् । शत्रुवर्गं समाप्नोति, राज्यं निष्कण्टकं हि सः ॥३६९॥
ततो विगतचिन्तोऽसौ, सततानन्दपूरितः । ललमानः सुखेनास्ते, साम्राज्यं प्राप्य सुन्दरम् ॥३७०॥
तदेवं तस्य तद्राज्यं, कारणं सुखदुःखयोः । पालनापालनाज्ज्ञातमेकमेव न संशयः ॥३७१॥
सुखदुःखनिमित्तस्य, सामान्यस्य तदीदृशी । तस्यान्तरङ्गराज्यस्य, सामग्री भद्र ! कीर्तिता ॥३७२॥

अप्रबुद्धेनोक्त--भदन्त ! किमधुना तस्य संसारिजीवस्य सौराज्यं किं वा दौराज्यमिति ? सिद्धान्तः प्राह—भद्रात्र प्रस्तावे तावत्तस्य दौराज्यं वर्तते, न जानीते वराकोऽद्यापि संसारिजीवस्तदात्मीयं राज्यं न बलं न समृद्धिं नापि स्वरूपमिति, स हि तपस्वी संसारिजीवो बहिरङ्गेषु देशेषु दुःखसागरावगाढो मैथुनसागराभ्यामधुना भ्राम्यते, तत्पुनस्तस्य सम्बन्धि चारित्रधर्मादिकं समस्तमपि महाबलं महामोहादिशत्रुभिनिरुद्धमास्ते । अप्रबुद्धेनोक्तं–श्रुतं तावदिदं मया सामान्येनैकरूपं सुखदुःखकारणं तदन्तरङ्गराज्यं, अथ यदुक्तं भगवता यथा तदेव विशेषेणानेकरूपमिति तदधुना श्रोतुमिच्छामि । सिद्धान्तेनोक्तं–आकर्णय–स कर्मपरिणामाख्यो, यो मया वर्णितः पुरा । स प्रमाणं कृतस्तेन, राज्ञा सर्वेषु कर्मसु ॥३७३॥
ततश्च–इदमेव महाराज्यं, परिपूर्णं पृथक् पृथक् । सर्वेभ्यो निजपुत्रेभ्यः, स ददाति यथेच्छया ॥३७४॥
सूनवस्तस्य चानन्तास्तेभ्यस्तद्दत्तमुच्चकैः । अनेकरूपतां याति, राज्यं पात्रविशेषतः ॥३७५॥

ततस्तेषां भद्र ! कर्मपरिणाममहाराजपुत्राणामनन्तरूपाणां तद्राज्यं केषांचिद्दुःखकारणं केषांचित्सुखकारणमतो विशेषेणानेकरूपं भवति । अप्रबुद्धेनोक्तं–भदन्त ! तेषां कर्मपरिणामसुतानां तद्राज्यं कुर्वतां कस्य किं संपन्नमिति श्रोतुमिच्छामि ? सिद्धान्तेनोक्तं–निवेदितमेव भद्राय यथाऽनन्तास्ते कर्मपरिणामपुत्राः ततः कियतां सम्बन्धि स्वरूप भद्राय कथयिष्यते ? तथापि यदि महत्कुतूहलं भद्रस्य ततोऽस्त्येको व्यापकः कथनोपायः, तेनैव कथयिष्ये । अप्रबुद्धेनोक्तं–अनुग्रहो मे ।

[निकृष्टादिषट्पुरुषवृत्त]

सिद्धान्तेनोक्तं–भद्र ! सन्ति तस्य कर्मपरिणामस्य षट् पुत्राः, तद्यथा- निकृष्टोऽधमो विमध्यमो मध्यम उत्तमो वरिष्ठश्चेति--तेभ्योऽहं कथं चिद्वचनविन्यासेन कर्मपरिणाममहाराजमस्यैकैकं संवत्सरं राज्यं दापयिष्यामि, ततो भवता तेषां षण्णामपि राज्यानां निरीक्षणार्थं प्रहेतव्योऽन्तरङ्गो वितर्को नामायमात्मीयोऽनुचरः, ततस्तेषु षट्सु राज्येषु दृष्टेषु भवतः सर्वोऽप्यर्थः प्रतीतो भविष्यति । अप्रबुद्धेनोक्तं- यदाज्ञापयति भगवान् । ततोऽनुष्ठितं सिद्धान्तेन सर्वं यथोक्तं, प्रहितोऽप्रबुद्धेन निरीक्षणार्थं वितर्कः समागतो लङ्घिते तन्मनुष्यजन्माभिधाने वर्षषट्के दृष्टोऽप्रबुद्धः विहिता प्रतिपत्तिः, अभिहितमनेन- देव ! अस्ति तावत्प्रविष्टोऽहं तस्यामन्तरङ्गराज्यभुक्तौ, श्रुतो मया नगरग्रामादिषु दीयमानस्तन्मनुष्यभावावेदनाभिधानो डिण्डिमकः, तत्र चेदमुद्घोषितं, यथा--

निकृष्टो वर्तते राजा, प्राक्प्रवाहेण हे जनाः ! । समाचरत कृत्यानि, तथा पिबत खादत ॥३७६॥
ततस्तां घोषणां श्रुत्वा, सर्वं तद्राजमण्डलम् । कीदृक् स्यादेष राजेति, चिन्तया क्षोभमागतम् ॥३७७॥

आलोचयन्ति राजानः, स्वस्थानेषु परस्परम् । मन्त्रयन्ति च विद्वांस, इति भोः किं भविष्यति ? ॥३७८॥
संप्रसारं प्रकुर्वन्ति, स्वगेहेषु कुटुम्बिनः । कीदृशोऽयं भवेद्राजा, निकृष्ट इति चिन्तया ॥३७९॥
ते च सर्वेऽपि संभूय, चरटा निजसंसदि । महामोहादयो देव ! पर्यालोचमुपागताः ॥३८०॥

ततो विषयाभिलापमन्त्रिणा महामोहनरेन्द्रं प्रत्यभिहितं, यथा--

किलैष राजा संजातो, निकृष्टो यत्करिष्यति । तन्न जानीम इत्येवं, जाताश्चिन्तातुरा वयम् ॥३८१॥
तदेष देव ! संजातः, क्षोभो नो निर्निमित्तकः । वृथाऽलमाकुलीभूता, वयमत्र प्रयोजने ॥३८२॥

[*निकृष्टराजवृत्तान्त*]

यतः—स कर्मपरिणामेन. निकृष्टः स्वयमेव भोः । जनितस्तादृशो यादृग् , न क्षमोऽस्मत्प्रपीडने ॥३८३॥
किं तर्हि ?--वशवर्ती सदाऽस्माकमाज्ञानिर्देशकारकः । अस्मत्पदातिवर्गेऽपि, किङ्करः कर्मकारकः ॥३८४॥
तत्कर्मपरिणामेन, चेत्तस्मै विनियोजितम् । इदं राज्यं ततो देव ! वयमेवात्र नायकाः ॥३८५॥
लब्धे निष्कण्टके राज्ये, तदेवं देव ! भावतः । हर्षस्थाने किमस्माभिरातुरैर्वत भूयते ? ॥३८६॥
अथ प्राह महामोहो, द्रुतमार्य ! निवेद्यताम् । स कर्मपरिणामेन, कीदृशो जनितः किल ! ॥३८७॥

विषयाभिलापेणोक्तं देवाकर्णय--

कुरूपो दुर्भगः क्रूरः, परलोकपराङ्मुखः । धर्मार्थकाममोक्षैश्च, दूरतः परिवर्जितः ॥३८८॥
गुरूणां निन्दकः पापो, देवविद्वेषकारकः । विशुद्धाध्यवसायस्य, गन्धेनापि विनाकृतः ॥३८९॥
जगदुद्वेगहेतुश्च, साक्षादिव विषाङ्कुरः । निःशेषदोषसङ्घस्य, स निकृष्टो निकेतनम् ॥३९०॥
गाम्भीर्यौदार्यशौण्डीर्यधैर्यवीर्यादयो गुणाः । ततो निकृष्टान्नंष्ट्वैव, दूराद्दूरतरं गताः ॥३९१॥
स इदृशो महाराज्ये, लब्धेऽप्यत्राधमाधमः । निःशेषशक्तिशून्यात्मा, किमस्माकं करिष्यति ? ॥३९२॥
अन्यच्च न जानीते वराकोऽसौ, राज्यं नापि निजं बलम् । न समृद्धिं न वा मूढः, स्वरूपमपि तत्त्वतः ॥३९३॥
न चास्मान गणयत्येष, चरटान् राज्यहारकान् । मन्यते बन्धुभूतांश्च, स्वामिभूतांश्च भावतः ॥३९४॥
तदेवं संस्थिते देव ! विहायाकुलतां हृदि । महावर्धनकं युक्तं, विधातुं जनतुष्टये ॥३९५॥
ततो यदादिशत्यार्य ! इत्युक्त्वा हर्षनिर्भरः । तदेव कारयत्युच्चैर्महामोहनराधिपः ॥३९६॥
अथ तच्चरितं लोके, निःशेषं मन्त्रिभाषितम् । ततो वर्धनके तुष्टास्तत्र नृत्यन्ति ते जनाः ॥३९७॥
गायन्ति च महामोहराजपादानुजीविनः । ज्ञात्वा निकृष्टराज्यं तन्निर्भरानन्दपूरिताः ॥३९८॥ कथं !--
येनेदमवाप्तमीदृशं, राज्यमनन्तविभूतिपूरितम् । सोऽस्माकमहो वशे स्थितो, नृपतिः शेषजन न बुध्यते ॥३९९॥
तदिदं वत जातमुत्तमं, सुखकरमद्य निकृष्टराज्यकम् । खादत पिबताथ गायत, प्रसभं नृत्यत चारु हे जनाः ! ॥४००॥

एवं च तेषु भिल्लपल्लिप्रायेषु महामोहसम्बन्धिषु नगरग्रामाकरादिषु प्रवृत्त महावर्धनकं कारिता हटशोभा समुच्छ्रायिता ध्वजपताकाः प्रभविष्याम इति समुल्लसिता घातिकर्मचरटाः हरिष्याम इति परितुष्टा इन्द्रियतस्कराः लूषयिष्याम इति प्रमोदिताः कषायलूषकाः लुण्टयिष्याम इति हृष्टा नोकषायलुण्टाकाः उपप्लावयिष्याम इति समानन्दिताः परीषहचारभटाः विलासयिष्याम इति विजृम्भिता उपसर्गदुष्टभुजङ्गाः उपहसिष्याम इनि तरलिताः प्रमादपिङ्गलोकाः, अपि च—

येऽन्यदापि मदेनान्धा, महामोहादयः सदा । निकृष्टराज्ये संजाते, किं किं किं ते न कुर्वते ? ॥४०१॥

[चारित्रधर्मसैन्यपरिस्थिति]

तदिदं तावदाख्यातं, महामोहादिचेष्टितम् । चारित्रधर्मसैन्येऽपि, यज्जातं तन्निबोध मे ॥४०२॥
तेऽपि चारित्रधर्माद्याः, श्रुत्वा तां राज्यघोषणाम् । कीदृक् स्यादेष राजेति, पर्यालोचमुपागताः ॥४०३॥
सद्बोधमन्त्रिणा प्रोक्तं, देव ! विज्ञातमेव ते । निकृष्टस्यास्य यद्रूपमेकान्तेन दुरात्मनः ॥४०४॥
अयं दुरात्मा राज्यस्य, नामाप्यस्य न बुध्यते । न चास्मान् गणयत्येष, शत्रुभूतांश्च मन्यते ॥४०५।
पक्षपातान्महामोहमाथनं वर्धयत्यलम् । स्वराज्यलोकदेशानां, वार्तामपि न पृच्छति ॥४०६॥
ततश्च–एकं तावत्पराभूता, महामोहादिभिर्वयम् । द्वितीयमीदृशो राजा, दैवो दुर्बलघातकः ।४०७॥
एवं च स्थिते–निकृष्टराज्य देवेदं, यज्जातं दैवदोषतः। अहो प्रलयकालोऽयं, जातोऽस्माकं न संशयः ॥४०८॥
तदाकर्ण्य महामन्त्रिवचनं ते नरेश्वराः । सलोकास्तत्क्षणादेव, विद्राणवदनाः स्थिताः ॥४०९॥
यादृशो बन्धुवर्गे स्वे, मृते लोकस्य वल्लभे । संजायते महाशोको, दैन्यवैक्लव्यदारुणः ॥४१०॥
निकृष्टराज्ये संजाते, श्रुत्वा सद्बोधभाषितम् । चारित्रधर्मलोकानां, जातस्तादृश एव भोः ॥४११॥ युग्मम् ।
तथा–चारित्रधर्मराजस्य, वर्तन्ते यानि भुक्तिषु । तेषु सात्त्विकचित्तादिपुरेषु बत भूरिषु ॥४१२॥
निरानन्दा निराटोपास्ते लोकाः शोकपूरिताः । श्रुत्वा निकृष्टराज्यं तत्संजाता दैन्यविह्वलाः ॥४१३॥
अथ तत्तादृशं वीक्ष्य, सैन्ययोर्महदन्तरम् । आनन्दशोकसम्पत्तेर्जातं मम कुतूहलम् ॥४१४॥

[निकृष्टनरेन्द्रदुर्भगावस्था]

यदुत–क्व वर्तते निकृष्टोऽसौ, राजा यस्येदृशा गुणाः । द्रक्ष्यामीहागतं यद्वा, राज्यार्थं तं नरेश्वरम् ॥४१५॥
यावत्तस्य वराकस्य, राज्ये तत्र प्रवेशनम् । न दत्तमेव तैर्देव ! महामोहादितस्करैः ॥४१६॥
किं तर्हि ?–स्वयमेव वशीकृत्य, निःशेषं भूमिमण्डलम् । चारित्रधर्मसैन्यं च, विनिर्जित्य विनाश्य च ॥४१७॥
तदन्तरङ्गतद्राज्यं, महामोहादितस्करैः । अधिष्ठितं बहिष्कृत्य, निकृष्टं स्वयमेव भोः ॥४१८॥ युग्मम् ॥
ततस्तत्तादृशं दृष्ट्वा, देव ! सर्वं विसंस्थुलम् । गतोऽहं बहिरङ्गेषु, तं दिदृक्षुर्जनेषु भोः ॥४१९।
अथ दृष्टो मया देव ! स निकृष्टो नराधिपः । बहिरङ्गेषु देशेषु, राज्यभ्रष्टः सुदुःखितः ॥४२०॥
स च कीदृशः ?–पापकर्मरतो दीनः, क्रूरात्मा लोकनिन्दितः । निःशेषपुरुषार्थेभ्यः, परिभ्रष्टो नराधमः ॥४२१॥
स्फुटिताङ्गो मलक्लिन्नः, पापपुञ्जकसन्निभः । स निकृष्टो मया दृष्टः, परप्रेष्यकरः सदा ॥४२२॥
स्वीयराज्यपरिभ्रष्टो, लोके दुर्भगतां गतः । यो गृहे परिभूतोऽत्र, स बहिः परिभूयते ॥४२३॥
विक्रीय तृणकाष्ठानि, कृत्वा वा हलखेटनम् । हत्वा वा जन्तुसङ्घातं, नीत्वा वा लेखमालिकाम् ॥४२४॥
विधाय निन्द्यकर्माणि, सोढ्वाऽऽक्रोशशतानि च । स निकृष्टः करोत्युच्चैर्दुष्पूरोदरपूरणम् ॥४२५॥ युग्मम् ॥
ये केचिद्दुःखिताः पापा, क्रूरकर्मविधायिनः । लोके मातङ्गडोम्बाद्यास्तेषां रूपं भजत्यसौ ॥४२६॥
तथापि वल्लभास्तेऽस्य, महामोहादितस्कराः । चारित्रधर्मसैन्यस्य, नामाप्येष न बुध्यते ॥४२७॥
किं च–दुष्पालितं कृतं राज्यं, भवतेत्यस्य चोपरि । स कर्मपरिणामाख्यो, राजा रोषमुपागतः ॥४२८॥
ततोऽस्ति भवचक्रे यद्दुष्करं पापिपञ्जरम् । नीतस्तत्र निकृष्टोऽसौ, तेन राज्ञा वराककः ॥४२९॥
पीड्यते च महादुःखैस्तत्रानन्तैरनेकशः । स कर्मपरिणामेन, निकृष्ट इति विश्रुतम् ॥४३०॥

ततो मया चिन्तितं--

एकं राज्ये प्रवेशोऽपि, न लब्धस्तेन तस्करैः । हारितं च निजं राज्यं, समृद्धं सैन्यमुत्तमम् ॥४३१॥
स्थितश्चेहापि दुःखार्त्तो, राज्यभ्रष्टो बहिष्कृतः। द्वितीयं पीडयते तत्र, स निकृष्टो निरर्थकम् ॥४३२॥
तदस्य सकलं हन्त, निकृष्टस्य दुरात्मनः। अज्ञानदोषतो जातमिदं दुःखकदम्बकम् ॥४३३॥ (त्रिभिर्विशेषकम्)
तथाहि--यद्यात्मानं विजानीत, तद्राज्यं रत्नपूरितम् । चारित्रधर्मसैन्यं च, प्रपद्येत सुहृत्तमम् ॥४३४॥
महामोहादिसैन्यं च, यद्यसौ शत्रुसन्निभम्। अवगच्छेत्ततस्तस्य, कुतो दुःखपरम्परा? ॥४३५॥
यतः--हत्वा चरटसङ्घातं, नयपौरुषसंयुतः । सदा निष्कण्टकं राज्यं, स भुञ्जीत न संशयः ॥४३६॥
अथवा-किं तस्य चिन्तयाऽस्माकं? राजादेशो मया परम्। कर्तव्योऽतः प्रपश्यामि, द्वितीयस्यापिचेष्टितम् ॥४३७॥

[अधमपुरुषराज्यघोषणा]

ततोऽधमस्य तद्राज्यं संजातं देव! वत्सरे । द्वितीये घोषितं चोच्चैर्डिण्डिमेन यथा पुरा ॥४३८॥
समस्तोऽपि च संपन्नो, वृत्तान्तो यो निवेदितः। निकृष्टराज्ये सोऽस्यापि, राज्ये सैन्यद्वये तथा ॥४३९॥
वर्णिताश्च गुणास्तस्य, महामोहस्य मन्त्रिणा । यादृशाः परिपन्मध्ये, तानहं ते निवेदये ॥४४०॥

उक्तं हि तदा विषयाभिलाषेण मन्त्रिणा यथैवंविधोऽसावधमराजो जनितः कर्मपरिणामेन निज-पित्रा, यदुत--इहलोकपरो गाढं, परलोकपराङ्मुखः । धर्ममोक्षकृतद्वेषः, प्रतिबद्धोऽर्थकामयोः ॥४४१॥
शब्दे रूपे रसे गन्धे, स्पर्शे चात्यन्तलोलुपः । तपोदानदयाशीलब्रह्मचर्यविदूषकः ॥४४२॥
अत्यन्तवत्सलोऽस्माकं, सदैवादेशकारकः । चारित्रधर्मसैन्यस्य, विद्विष्टो वैरिसन्निभः ॥४४३॥
न चायमपि जानीते, राज्यं नापि निजं बलम्। न स्वरूपं न चास्माकं, तस्कराकारधारिताम् ॥४४४॥
ततश्च--अधमस्यापि यद्राज्यं, तद्राज्यं परमार्थतः। अस्माकमेव संपन्नं, देव! नास्त्यत्र संशयः ॥४४५॥
केवलं न प्रवेशोऽस्य, दातव्यो भुक्तिमण्डले । प्रविष्टो हि विजानीयादस्माकीनं विचेष्टितम् ॥४४६॥
अस्ति किंचनमात्रं हि, वीर्यमस्य दुरात्मनः । बहिष्करणमेवातो, युक्तं नात्र प्रवेशनम् ॥४४७॥

[अधमपुरुषबहिष्कारोपाय]

ततः प्राह महामोहो, यः स्यादस्य बहिष्कृतौ। उपायः कोऽपि निःशेषं, तमार्यो वक्तुमर्हति ॥४४८॥
ततः प्राह महामन्त्री, देव! विज्ञापितं मया । यथाऽसावधमो राजा, प्रतिबद्धोऽर्थकामयोः ॥४४९॥
ततः सर्वेऽपि संभूय, वयं तं धनकामयोः । आसक्तं बाह्यदेशेषु, धारयामो बहिष्कृतम् ॥४५०॥
ततः—एवं विधीयतामार्य! महामोहेन जल्पितम् । बहिष्करणकामेन, सज्जीभूताश्च तस्य ते ॥४५१॥
अथास्ति मन्त्रिणस्तस्य, सुता परमयोगिनी । दृष्टिर्नाम विशालाक्षी, सा तत्रेदमभाषत ॥४५२॥
देव! यूयं जिताशेषदेवदानवमानुषाः । सोऽधमः कियती मात्रा? यतस्तं प्रति गामुकाः ॥४५३॥
तदीयतां ममादेशो, येन तं वशवर्तिनम्। एकाप्यहं करोम्येषा, युष्माकं किं विचिन्तया? ॥४५४॥
राज्यभ्रष्ट बहिर्भूतं, भवतां कर्मकारकम्। स्वसैन्यरुष्टं तं देव! करिष्यामि न संशयः ॥४५५॥
अन्यच्च--यत्र मे प्रभवो देव! तत्रैते सहचारिणः। स्पर्शनाद्या भवन्त्येव, सोदर्याः स्वीयमानुषाः ॥४५६॥
सन्निधानं भवत्येव, भावतो भवतामपि । सर्वेषां तत्र पुरुषे, यो वशीक्रियते मया ॥४५७॥
तथाहि--धनकामविहीनोऽपि, भवद्भिर्युक्तया मया। निकृष्टोऽपि पुरा देव! प्रापितः पापिपञ्जरम्। ४५८॥

तदीयतां ममादेशो, मा विलम्बो विधीयताम् । गच्छाम्यहं बहिष्कर्तुं प्रथमं तं नरेश्वरम् ॥४५९॥

[विषयाभिलाषदृष्ट्या अधमपराभवः]

ततो योग्येत्यनुज्ञाता, महामोहमहीभुजा । सा दृष्टिः प्रगता तत्र, यत्रास्ते सोऽधमो नृपः ॥४६०॥
इतश्च–वृत्तान्तं तादृशं श्रुत्वा, सर्वं तद्भूमिमण्डलम् । चारित्रधर्मसैन्यं च, जातं त्रस्तप्रकम्पितम् ॥४६१॥
निकृष्टराज्ये ये जाताः, शोकाक्रन्दादयः पुरा । अधमस्यापि ते राज्ये, संपन्नाः साधुमण्डले ॥४६२॥
अथ सा योगिनी गत्वा, कृतान्तर्धानविभ्रमा । अधमस्य नरेन्द्रस्य, तस्य लोचनयोः स्थिता ॥४६३॥
ततश्च तद्बलेनासौ, रूपालोकनलोलुपः । संजातोऽन्यन्न जानीते, संसारे सुखकारणम् ॥४६४॥
स्त्रीणां कटाक्षविक्षेपविभ्रमेङ्गितसंस्थितम् । लावण्यं हसितं लीलां, लोलचक्षुर्निरीक्षते ॥४६५॥
नेत्रवक्त्रस्तनाद्येषु, तदङ्गेषु च मूढधीः । नीलाब्जेन्दुलसत्कुम्भकल्पनां प्रतिपद्यते ॥४६६॥
विलासलासबिब्बोकहावभावविराजितम् । रूपाढ्यं सुन्दरीसारं, प्रेक्षणं वीक्ष्य मोदते ॥४६७॥
विचित्रचित्रविन्यासांस्तथाऽन्यच्च सकौतुकम् । सोऽधमो रूपमुत्पश्यन्नानन्दमवगाहते ॥४६८॥ चिन्तयति च

[अधमस्य मूढता]

अहो सुखमहो स्वर्गस्तथाऽहो पुण्यकर्मता । यस्य मे जायते नित्यं, साश्चर्यं रूपदर्शनम् ॥४६९॥
ततो रात्रिन्दिवं मूढो, रूपदर्शनलोलुपः । सोऽन्यत्किंचिन्न जानीते, कोऽहं किं वा मया कृतम् ? ॥४७०॥
तथा च वर्तमानस्य, स्पर्शनाद्यैस्तथाऽपरैः । महामोहादिभिस्तस्य, स्वं स्वं वीर्यं निदर्शितम् ॥४७१॥
अथ तैर्लुप्तसंज्ञानः, सोऽधमो निजराज्यतः । बहिर्भूतः कृतो देव ! प्रसक्तो धनकामयोः ॥४७२॥
न ज्ञातं तेन तद्राज्यं, निजं न च महाबलम् । न समृद्धिर्न वा तेन, राजाऽहमिति निश्चितम् ॥४७३॥
गृहीता बन्धुबुद्ध्या च, सा दृष्टिस्तेन योगिनी । महामोहमहासैन्यं, सुहृद्भूतं निरीक्षितम् ॥४७४॥
ततश्चरटसैन्येन, तेन तद्राज्यमञ्जसा । वशीकृत्य हताः सर्वे, तस्यानुचरपार्थिवाः ॥४७५॥
स तु राज्यपरिभ्रष्टः, स्वीयबान्धववर्जितः । रिपुसैन्यवृतोऽप्युच्चैर्मन्यते सुखमात्मनः ॥४७६॥
दुःखरूपं पुनर्दुःखकारणं दुःखजन्मकम् । मन्यते हि विपर्यासाच्छब्दाद्यनुभवं सुखम् ॥४७७॥
राजसेवकशैलूषवन्दिद्यूतकरोपमः । संजातो बहिरङ्गेषु, स देशेषु महीपतिः ॥४७८॥
पिङ्गप्रायो महापापः, कृपास्थानं विवेकिनाम् । नास्तिको हतमर्यादो, धर्मानुष्ठानदूषकः ॥४७९॥
मन्यते धार्मिकं लोकं, महास्य भोगवञ्चितम् । विदग्धं मन्यते मोहादर्थकामपरायणम् ॥४८०॥ चिन्तयति च–
यस्य रूपेक्षणं नित्यं, गृहिणो वशवर्तिनी । धनं च भूरि तस्येह मोक्षः शेषा विडम्बनाः ॥४८१॥
एवं च बहिरङ्गेषु, स देशेषु विचेष्टते । राजा विलुप्तसर्वस्वः, सुखंमन्यस्तथापि च ॥४८२॥
अन्यदा तेन मातङ्गी, वीक्षिता रूपशालिनी । तस्यामध्युपपन्नश्च, ततोऽसौ दृष्टिदोषतः ॥४८३॥
ततश्च–अनालोच्य कुलस्योच्चैः, कलङ्कमतिदारुणम् । अदृष्ट्वा पापसङ्घातमकृत्वाऽऽयतिवीक्षणम् ॥४८४॥
अनाकलय्य लोकेऽसौ, लाघवं चात्मनोऽतुलम् । कार्याकार्यविचारेण, रहितात्मा स पार्थिवः ॥४८५॥
तां मातङ्गीं समादाय, तद्रूपालोकलम्पटः । तद्वक्त्रमीक्षमाणोऽसौ, नान्यत्किंचन बुध्यते ॥४८६॥
ततस्तं तादृशं वीक्ष्य, वृत्तान्तं सोऽधमो नृपः । बहिरङ्गजनेऽप्युच्चैर्निन्दायाः पात्रतां गतः ॥४८७॥
समस्तैरपि सभूय, स गाढाकार्यकारकः । राज्यान्निष्कासितो लोकैर्गुणा, सर्वत्र पूजितः ॥४८८॥

ततो दुःखशनापूर्णः, क्लिश्यित्वाऽसौ बहिर्जने । प्राप्तो निकृष्टराजीयामवस्थां पापिपञ्जरे ॥४८९॥
स कर्मपरिणामेन, राज्यं दुष्टं कृतं त्वया । इत्युक्त्वा पीड्यते दुःखैरनन्तैस्तत्र रोषतः ॥४९०॥
ततो मया चिन्तितं--
इदमप्यस्य संजातमधमस्येदृशं फलम् । अज्ञानदोषतो हन्त, नान्यत्किंचन कारणम् ॥४९१॥

[विमध्यमस्य राज्यार्पणम्]

तृतीयवत्सरे देव ! जातो राजा विमध्यमः । राज्ये तत्रान्तरङ्गे च, विहितं घोषणादिकम् ॥४९२॥
समस्तोऽपि च वृत्तान्तः, पर्यालोचादिकस्तथा । ततः सैन्यद्वये जातो, यथाऽनन्तरराज्ययोः ॥४९३॥
ततश्च- महामोहमहाराजो, मन्त्रिणं प्रत्यभाषत । आर्य ! वर्णय कीदृक्षो, गुणैरेष विमध्यमः ? ॥४९४॥
मन्त्रिणोक्तं महाराज ! वत्सलोऽयं नराधिपः । अस्माकं किंतु चारित्रधर्मसैन्यमपीक्षते ॥४९५॥
तथाहि -यथाऽस्मान्मन्यते चित्ते, बन्धुभूतानयं सदा । तथाऽनुवर्तयत्येष, सैन्यं तदपि पार्थिवः ॥४९६॥
केवलं पक्षपातोऽस्य, गाढमस्मासु दृश्यते । चारित्रधर्मसैन्ये तु राजाऽयं शिथिलादरः ॥४९७॥
इहलोके यथाऽऽसक्तं, चित्तमस्य महीभुजः । तथाऽन्तराऽन्तरा किंचित्परलोकमपीक्षते ॥४९८॥
प्रतिबद्धमनो नित्यं, यथाऽस्य धनकामयोः । तथाऽनुशीलयत्येष, धर्मकार्यमपि क्वचित् ॥४९९॥
भद्रकः सर्वदेवानां, स्तोता सर्वतपस्विनाम् । दानशीलपरः किंचित् , न सच्छास्त्रविदूषकः ॥५००॥
तदेवं देव ! राजायं, नास्माकमतिसुन्दरः । यस्माच्चारित्रधर्मादिसैन्यं जानाति किंचन ॥५०१॥
तदत्रावहितैर्भाव्यं, देवास्माभिः प्रयोजने । प्रवेशोऽस्यापि राज्येऽत्र, न दातव्यः कथंचन ॥५०२॥
प्रविष्टो हि भवेदेष, स्वसैन्यपरिपालकः । आस्माकीनं पुनः सैन्यं, बाधते नात्र संशयः ॥५०३॥
बहिर्भूतः स्वसैन्यस्य, यद्येष परिपालनम् । कुर्यात्तथापि नास्माकं, भवेदत्यन्तबाधकः ॥५०४॥
अस्यापि च तदेवात्र, बहिष्करणकारणम् । दृष्टया सह यदस्माभिरधमस्य कृतं पुरा ॥५०५॥
[1]अकालहीन भो देव ! तत्तदेव विधीयताम् । यावन्नाक्रामति प्राज्यं, राज्यमेष विमध्यमः ॥५०६॥ युग्मम् ।
एवं भवतु तेनोक्ते, महामोहमहीभुजा । बहिष्कृतः स तैश्चौरैः, सर्वैर्दृष्टिपुरःसरैः ॥५०७॥
वशीकृतं च तद्राज्यं, किं तु नात्यन्तपीडितम् । चारित्रधर्मसैन्यं च, मनागेतैरपेक्षितम् ॥५०८॥
स तु राजा बहिर्भूतो, मानसन्मानपूजनैः । तदात्मसैन्ये राज्ये च, पालयत्यन्तराऽन्तरा ॥५०९॥
प्रविभागेण संस्थाप्य, सोऽहोरात्रं क्षणे क्षणे । धत्ते धर्मार्थकामेषु, कार्यं कालोचितं सदा ॥५१०॥
तेऽपि चारित्रधर्माद्या, मनागप्याश्रितास्तथा । तेन राज्ञा न कुर्वन्ति, शोकाक्रन्दनरोदनम् ॥५११॥
राजानो ब्राह्मणाद्याश्च, ये सदाचारवर्तिनः । त्रिवर्गसाधनोद्युक्तास्तेषां रूपं भजत्यसौ ॥५१२॥
अथ तत्तादृशं कुर्वन्निजराज्यं स पार्थिवः । जनमध्ये गतः श्लाघां, धन्योऽयं पुण्यकर्मकः ॥५१३॥
स कर्मपरिणामाख्यो, यः पिता तस्य भूपतेः । असावपि मनाक् तुष्टो, दृष्ट्वा तत्तस्य चेष्टितम् ॥५१४॥
ततस्तं पशुसंस्थाने, कदाचित्सुखकारणे । कदाचिन्मानवावासे, नगरे सुखपूरिते ॥५१५॥
कदाचिच्च सुखोपेते, नगरे विबुधालये । प्रापयत्येष राजेन्द्रो, सर्वैरयावर्णितं तदा ॥५१६॥ युग्मम् ।
अथातीते पुनस्तत्र, मुक्तराज्ये विमध्यमे । जातोऽन्तरङ्गराज्येऽसौ, **मध्यमो** नाम भूपतिः ॥५१७॥

---

(१)-'कालेन हीनं न' इत्यकालहीन, कालोचितमित्यर्थः ।

[मध्यमचरितं]

विहितं घोषणं जातः, पर्यालोचो महीभुजाम् । निवेदिताश्च तस्यापि, गुणास्तेनैव मन्त्रिणा ॥५१८॥
कथं ?–अयं राजा महाराज ! मध्यमः सततोद्यतः । धर्मार्थकाममोक्षेषु, पुरुषार्थेषु भावतः ॥५१९॥
परमार्थं तथाप्येकं, मन्यते मोक्षमञ्जसा । तद्धेतुभूतं धर्मं च, न प्रमत्तोऽर्थकामयोः ॥५२०॥
उदारसत्त्वविरहात्केवलं धनकामयोः । प्रवृत्तिं कुरुते नित्यं, तद्दोषांश्चिन्तयन्नपि ॥५२१॥
बन्धुपुत्रकलत्रादिरूपं यद्भावबन्धनम् । तत्त्रोटनं न शक्नोति, कर्तुमेष नराधिपः ॥५२२॥
तदिदं मन्त्रिणा तावन्महामोहादिभूभुजाम् । निवेदितं मया तत्र, श्रुतं च जनवार्तया ॥५२३॥

अप्रबुद्धेनोक्तं--किं पुनरपरमाकर्णितं जनवार्तया भवता ? वितर्केणोक्तं—आकर्णयतु देवः -

येन ते कथितं देव ! सिद्धान्तेनाखिलं पुरा । सार्धं परिचयस्तेन, तस्याप्यस्ति महीपतेः ॥५२४॥
ततस्तदुपदेशेनानेन मध्यमभूभुजा । तदात्मीयं महाराज्यं, लेशोद्देशेन लक्षितम् ॥५२५॥
तच्च चारित्रधर्माद्यं, सैन्यमीषद्धि भावितम् । समृद्धिर्निजरूपं च, विज्ञातप्रायमञ्जसा ॥५२६॥
महामोहादिशत्रूणां, तेषां चरटवृत्तिता । तेनावधारिता राज्ञा, सिद्धान्तवचनात्किल ॥५२७॥
ततोऽसौ मध्यमो राजा, वीर्येण कियतीमपि । आक्रम्य भूमिं राज्यस्य, मध्यभागे व्यवस्थितः ॥५२८॥
अथ चारित्रधर्माद्याः, स्वाङ्गभूताः पदातयः । मनागाह्लादितास्तेन, चौरश्चेपन्निपीडिताः ॥५२९॥
ततस्तद्वीर्यमुद्वीक्ष्य, महामोहादितस्कराः । सेवका इव तल्लीनाः, स्थिताः कम्पितमानसाः ॥५३०॥
मनागाह्लादिताश्चित्ते, स्वामिवीर्यं निरीक्ष्य ते । नृपाश्चारित्रधर्माद्याः, ससैन्यपुरबान्धवाः ॥५३१॥
यया वशीकृताः पूर्वं, राजानः साऽपि योगिनी । तस्य मध्यमराजस्य, दृष्टिर्नात्यन्तबाधिका ॥५३२॥
ततोऽसौ मध्यमो राजा, मनाङ्निर्जितमण्डलः । राज्यं यापनयाऽऽत्मीयं, कालापेक्षी भुनक्ति तत् ॥५३३॥
बहिरङ्गेषु देशेषु, स जने श्लाघ्यतां गतः । धन्योऽयं पुण्यकर्मेति, लब्धमार्गो नराधिपः ॥५३४॥
किं बहुना ?--ये केचिल्लब्धसन्मार्गा, जीवा जैनेन्द्रशासने । जीवादितत्त्ववेत्तारः, श्रद्धासंशुद्धमानसाः ॥५३५॥
यथाशक्ति कियद्भ्योऽपि, पापेभ्यो विरतास्तथा । समस्तभुवनाह्लादकारिणः शुद्धलेश्यया ॥५३६॥
तेषां हि यदनुष्ठानं, तत्तेनापि निषेवितम् । देव ! मध्यमराजेन, तद्राज्यं भुञ्जताऽखिलम् ॥५३७॥ त्रिभिर्विशेषकम् ।
ये चान्ये तादृशा लोकाः, परलोककृतोद्यमाः । गृहीतमोक्षतत्त्वार्थास्तद्रूपोऽसौ नराधिपः ॥५३८॥
ततोऽसौ यः पिता तस्य, सार्वभौमो नरेश्वरः । स कर्मपरिणामाख्यस्तोषितस्तेन कर्मणा ॥५३९॥
ततोऽसंख्यसुखापूर्णे, नगरे विबुधालये । स राजा मध्यमस्तेन, नीतो राज्येऽतिलङ्घिते ॥५४०॥
ततोऽहं चरितं वीक्ष्य, चतुर्णामपि भूभुजाम् । तेषां सकौतुको जातः, पञ्चमः किं करिष्यति ? ॥५४१॥

[उत्तमचरितं]

यावत्तत्र महाराज्ये, ग्रामेषु नगरेषु च । घोषितं डिण्डिमेनोच्चैरुत्तमोऽत्र महीपतिः ॥५४२॥
ततस्तां घोषणां श्रुत्वा, तेऽन्तरङ्गनराधिपाः । पुनः पर्याकुलीभूताः, सुन्दरा इतरेऽपि च ॥५४३॥
ततश्चारित्रधर्माय, तेन सद्बोधमन्त्रिणा । सन्धीरणार्थं सैन्यस्य, तद्गुणाः प्रतिवेदिताः ॥५४४॥
उक्तं हि तेन सद्बोधमन्त्रिणा–
मा भैषुरत्र भो लोकाः ! सुन्दरोऽयं नराधिपः । अत्यन्तवत्सलोऽस्माकं, महानन्दविधायकः ॥५४५॥

जानात्येष निजं राज्यमिदं रत्नौघपूरितम् । अस्मांश्च लक्षयत्येष, नामतो गुणतोऽपि च ॥५४६॥
यत्सैन्यं ये गुणास्तस्य, ये ग्रामनगराकराः । ये देशा येऽत्र चग्टा, ये लोकाः शुद्धवृत्तयः ॥५४७॥
या च राज्यस्थितिः काचिदत्र राज्येऽतिसुन्दरा । तदिदं बुध्यते देव ! सर्वमुत्तमभूपतिः ॥५४८॥ युग्मम् ।
वर्धकोऽस्मद्बलस्यायं, महामोहादिसूदनः । सर्वैर्नृपगुणैर्युक्तश्चारुरेष महीपतिः ॥५४९॥
तदस्य यदिदं राज्यं, तद्राज्यं परमार्थतः । अस्माकमेव संजातं, देव ! नास्त्यत्र संशयः ॥५५०॥
सद्बोधमन्त्रिणो वाक्यमेवमाकर्ण्य ते नृपाः । जाताश्चारित्रधर्माद्याः, प्रोत्फुल्लमुखपङ्कजाः ॥५५१॥
ततश्चारित्रधर्माद्यैः, कृतलोकचमत्कृति । कृतं वर्धनकं तोषादानन्दरसनिर्भरम् ॥५५२॥ गायन्ति च ते, यथा—
इदमुत्तमराज्यमहो प्रबलं, दलिताखिलतस्करवृन्दबलम् । अचिरेण भविष्यति तत्त्वदृशां, प्रमदाय च साधुजनस्य भृशम्
इतश्च—महामोहादयः सर्वे, श्रुत्वा राज्यं तदौत्तमम् । प्रलीना वयमित्येवं, मुक्तप्राणा इव स्थिताः ॥५५४॥
क्व याम' क्व च नश्यामः, कथं जीवितरक्षणम् ? । इत्येवमाकुलीभूतास्ते किं किं किं न कुर्वते ? ॥५५५॥

[सिद्धान्तस्य राज्यप्रवेशपृच्छा]

अथ राज्यं समासाद्य, पितुस्तेन महिभुजा । उत्तमेन स सिद्धान्तः, पृष्टो राज्यस्थितिं तदा ॥५५६॥
तद्यथा—कथं नाथ ! प्रवेक्ष्यामि, तत्र राज्येऽतिदुर्गमे । कथं वा निहनिष्यामि, प्रचण्डचरटानहम् ? ॥५५७॥
कया वशीभवेन्नीत्या, तत्सुराज्यं ममाखिलम् ? । कुत्र स्थाने मया नाथ ! नियोज्यं निजपौरुषम् ? ॥५५८॥
सर्वोपायविधेर्वेत्ता, त्वं महाभाग ! वर्तसे । यथा निष्कण्टकं राज्यं, स्यान्मे तद्वक्तुमर्हसि ॥५५९॥
तदेवमुत्तमेनोक्ते, सिद्धान्तः समभापत । वत्स ! योग्योऽसि राज्यस्य, तस्य नास्त्यत्र संशयः ॥५६०॥
तथाहि—मोक्षकाङ्क्षैकतानस्त्वं, तदर्थं धर्मसाधकः । संसाराद्विरतोऽत्यन्तमर्थकामपराङ्मुखः ॥५६१॥
मोक्षे प्रवर्तमानस्य, या कीर्तिर्यच्च ते सुखम् । प्रसङ्गजनितं तत्ते, वत्स ! नो बन्धकारणम् ॥५६२॥
भवप्रपञ्चः सर्वोऽपि, विदितो भवतः स्फुटम् । तच्च राज्यं त्वया ज्ञातं, यत्पित्रा ते निवेदितम् ॥५६३॥
यश्च प्रवेशनोपायस्तत्र राज्ये नरोत्तम ! । तं ते निवेदयिष्यामि, निःशेषमवधारय ॥५६४॥

[अन्तरङ्गराज्ये प्रवेशाय हितशिक्षा]

तत्र भोः प्रविशताऽन्तरङ्गराज्ये नरपतिना "प्रथममेव प्रष्टव्या गुरवः सम्यगनुष्ठेयस्तदुपदेशः विधेयाऽऽहिताग्निनेवाग्नेस्तदुपचर्या कर्तव्यं धर्मशास्त्रपारगमनं विमर्शनीयस्तात्पर्येण तद्भावार्थः जनयितव्यस्तेन चेतसोऽवष्टम्भः अनुशीलनीया धर्मशास्त्रे यथोक्ताः क्रियाः पर्युपासनीयाः सन्तः परिवर्जनीयाः सततमसन्तः रक्षणीयाः स्वरूपोपमया सर्वजन्तवः, भाषितव्यं सत्यं सर्वभूतहितमपरुषमनतिकाले परीक्ष्य वचनं न ग्राह्यमणीयोऽपि परधनमदत्तं, विधेयं सर्वासामस्मरणमसंकल्पनमप्रार्थनमनिरीक्षणमनभिभाषण च स्त्रीणां, कर्तव्यो बहिरङ्गान्तरङ्गसङ्गत्यागः धारणीयः संयमोपकारी महायतिवेषः यापनीयं नवकोटिविशुद्धेनाहारोपधिशय्यादिनाऽऽत्मशरीरं विहर्तव्यमनियतविहारेण न दातव्यस्तन्द्रानिद्राऽऽलस्यविषादादीनामवकाशः न मूर्च्छितव्यं मृदुस्पर्शेषु न गर्धितव्यं स्वादुरसेषु न मोहितव्यं सुरभिगन्धेषु नाध्युपपत्तव्यं कमनीयरूपेषु नाभिकाङ्क्षितव्यं कलध्वानेषु नोद्वेजितव्यं कर्कशशब्देभ्यः न जुगुप्सनीयानि बीभत्सरूपाणि न द्वेष्टव्यममनोज्ञरसेषु न निन्दितव्या दुरभिगन्धाः न गर्हणीयमकान्तस्पर्शेषु प्रतिक्षणं क्षालनीयो विशुद्धभावनयाऽऽत्मा भवितव्यं सदा संतुष्टचितेन समाचरणीयं विचित्रं तपश्चरणं विधातव्योऽनवरतं पञ्चविधः

स्वाध्यायः प्रणिधेयं परमेश्वरे सततमन्तःकरणं वर्तितव्यं समितिगुप्तिपरिपूतेन मार्गेण परिषोढव्याः क्षुत्पिपासादयः परीषहाः तितिक्षितव्या दिव्याद्युपसर्गाः अभ्यसनीयं धीधृतिस्मृतिसंवेगाधानं यतितव्यमसपत्नयोगेषु," एवं हि कुर्वतो नृपतेर्भवति तत्र राज्ये प्रवेशः, तद्वचनाऽन्येषां तत्र प्रवेष्टव्यम् इत्यनेनोक्त-यथा ज्ञापयति नाथः ।

[अभ्यासवैराग्यमहिमा]

सिद्धान्तेनोक्तं-वत्स ! यद्यपि ततो भविष्यति तत्र राज्ये तव प्रवेशः, केवलं प्रधान-पदार्थस्याऽयमन्तरङ्गोऽभ्यासनामा स्वाङ्गिकः सहायः, तथा चारित्रधर्मसैन्यादागमिष्यति ते वैराग्याभिधानो द्वितीयः सहचरः, ततस्ताभ्यामभ्यासवैराग्याभ्यां सहितेन भवता तत्र राज्ये प्रवेष्टव्यं, निरोद्धव्यो महामोहादिसैन्यस्य सततो बहिःप्रचारः निहन्तव्या यथादर्शं बलान्निर्गच्छन्तस्तत्सैनिकाः समाचर्णीयं चारित्रधर्मसैन्य स्थिरीकर्तव्या चित्तवृत्तिराज्यभूमिः प्रवर्तितव्या दयामुदिताकरुणोपेक्षाभिधानाश्चतस्रो महादेव्यः, ततः समग्रसामग्रीकेण सता पूर्वद्वारेण प्रवेष्टव्यं तत्र राज्ये भवता तस्य च वामे दिग्भागे महामोहादिसैन्याधारभूतानि सर्वाण्यपि ग्रामनगराकरपर्वतनद्यादीनि प्रतिवसन्ति दक्षिणे तु दिग्भागे चारित्रधर्मसैन्यस्य सम्बन्धीनि ग्रामादीनि विद्यन्ते, सर्वाधारा पुनस्तेषां चित्तवृत्तिर्महाटवी वर्तते, तस्याश्च पर्यन्ते पश्चिमे दिग्भागे विद्यते निर्वृतिर्नाम नगरी, सा हि तां महाटवीमतिलङ्घ्य व्यवस्थिता, तां च निर्वृतिनगरीं प्राप्तस्य ते परिपूर्णं भविष्यत्यस्य राज्यस्य फलं, अतस्तद्गमनार्थमेव प्रस्थानं विधेयं, न कर्तव्योऽन्यत्र भवता प्रतिबन्धः, गन्तव्यं च तस्यां नगर्यामनवरतप्रयाणकैश्चित्तवृत्तिमध्यमार्गवर्तिनाऽत्यन्तप्रगुणेन महामोहादिसैन्यास्पृष्टेन चारित्रधर्मादिसैन्यातिवल्लभेन सततमौदासीन्यनामकेन महाराजमार्गेण ।

[अध्यवसायह्रद-धारणानदी-दण्डोलकद्वय-निर्वृतिसङ्गमः]

इतश्चादावेवास्ति तावदध्यवसायो नाम महाह्रदः, स यदा पङ्ककलुषो भवति तदा प्रकृत्यैव महामोहादिसैन्यं पोषयति चारित्रधर्मानीकं तु पीडयति, यदा पुनः प्रसन्नतया स्वच्छो भवति तदा सोऽध्यवसायमहाह्रदश्चारित्रधर्मसैन्यं तत्स्वभावतया बृंहयति महामोहादिबलं तु कर्शयति, अत एव महामोहादयस्तं स्वोपकारार्थं कलुषयन्ति चारित्रधर्मादयस्त्वात्मोपकारार्थमेव तं प्रसादयन्ति । भवता तु तस्याध्यवसायमहाह्रदस्य प्रसादनार्थं ताश्चतस्रोऽपि महादेव्यो नियोज्याः, यतो निपुणास्ता-स्तस्य नितराममलताकरणे, ततः प्रसन्नीभूते तत्रादिमहाह्रदे पुष्टीभूतेषु चारित्रधर्मादिषु स्वाङ्गिक-भूपेषु कर्शितेषु महामोहादितस्करेषु पुनरग्रतो गन्तव्यं, ततो भविष्यति तस्मादेव महाह्रदात् प्रवृत्ता धारणा नाम महानदी, सा च स्थिरसुखयानासनोपविष्टेनोच्छ्वासरहितमतिवेगेन गच्छता परित्यज्य निःशेषमिन्द्रियव्याक्षेपं भवता प्राप्तव्या, तस्यां च जनयिष्यन्ति ते महामोहादिशत्रवो विविधविकल्पकल्प-कल्लोलकान् , ते भवताऽत्यन्तावहितेन भञ्जनीया', ततोद्रक्ष्यसि त्वं धर्मध्याननामानमतिप्रगुणं दण्डोलकं, तेन च गन्तव्यं, स च गत्वा पतिष्यति सबीजयोगाभिधाने महति मार्गे, तेन च गच्छतस्ते प्रतिक्षणं प्रल-यीभविष्यन्ति सर्वेऽपि महामोहादिशत्रवः समुच्छलिष्यन्ति तेषां सम्बन्धीनि समस्तस्थानानि प्रबलीभवि-ष्यन्ति चारित्रधर्मादयः धवलतां धारयिष्यति समस्तापि राज्यभूमिः न भविष्यति च रजस्तमसोर्नामापि, ततो लप्स्यसे त्वं शुक्लध्यानाभिधानं दण्डोलकं, तेन च गच्छतो भविष्यति ते विमलकेवलालोकः, ततः

स [1]दण्डोलको गत्वा मिलिष्यति निर्बीजयोगाख्ये बृहति मार्गे, तत्र च स्थितेन त्वया विषमरिपुसमीकरणाय विधातव्यः केवलिसमुद्घाताख्यः प्रयत्नो, निहन्तव्याश्च योगाख्यास्त्रयो दुष्टवेतालाः, ततः परं भविष्यति शैलेशी नाम वर्तनी, तया गन्तव्यं, सैव तस्यां निर्वृतिनगर्यां भवन्तं प्रापयिष्यति सा यतो-[2]ऽनारतस्तिष्ठतीति, एते च सर्वे तमौदासीन्यनामकं महाराजमार्गममुञ्चत एव भवतः सपत्स्यन्ते व्यतिकराः ।

अन्यच्च-तत्र गच्छता भवता ग्रहीतव्या समता नाम योगनलिका, तस्यां च पातनीया निजा दृष्टिः, ततस्तस्यां समतायां पतितदृष्टेस्तत्र भविष्यति यथावस्थितपदार्थदर्शनं, ततः स्वयमेव विज्ञाय प्रतिक्षणं यथोचितं करिष्यमि, किं बहुनोपदिष्टेनेति-

तस्यां च निर्वृतौ वत्स ! प्राप्तस्त्वं सततोत्सवः । तस्यान्तरङ्गराज्यस्य, फलं भोक्ता भविष्यसि ॥५६५॥
निर्बाधो नष्टनिःशेषशत्रुसञ्जातनिर्भयः । स्थास्यसि त्वं महाभाग ! सततानन्दपूरितः ॥५६६॥
ये ते(चा)ऽन्तरङ्गास्ते भूपास्तेऽपि भूतिसमन्विताः । मोदिष्यन्ते त्वया सार्धं, सर्वे तन्मयतां गताः ॥५६७॥
अन्यच्च-कृत्वाऽग्रे रिपुहन्तारं, भटं वैराग्यनामकम् । विधायात्यन्तनिपुणमभ्यासं मार्गदेशकम् ॥५६८॥
राज्यप्रवेशादारभ्य, गच्छतस्ते पदे पदे । वर्धमाना महाभाग ! भविष्यन्ति विभूतयः ॥५६९॥
किं बहुना ?—

न मोक्तव्यस्त्वया मार्गो, निहन्तव्याश्च शत्रवः ।
नानुषङ्गो विधातव्यो, बहिरङ्गविभूतिषु ॥५७०॥

पाल्याश्चारित्रधर्माद्याः, स्मर्तव्यं मामकं वचः । एवं ते कुर्वतो वत्स ! सर्वं चारु भविष्यति ॥५७१॥
तद्गच्छ वत्स ! सिद्धिस्ते, कुरु राज्यं सुनिर्मलम् । त्वया राज्यफले प्राप्ते, सफलो मे परिश्रमः ॥५७२॥
उत्तमेनोक्तं-यदाज्ञापयति नाथः,-

[*उत्तमनरपतिराज्यप्रवेश*]

ततो यथोपदिष्टं तत्सिद्धान्तेन महात्मना । तथैव विहितं सर्वमुत्तमेन सुमेधसा ॥५७३॥
ततः प्रविष्टोऽसौ तत्र, राज्ये तेनैव वर्त्मना । विहिताशेषकर्तव्यो, देवोत्तममहीपतिः ॥५७४॥
अथ सा योगिनी दृष्टिर्महामोहादिशत्रुभिः । तस्यापि योजिता देव ! वशीकरणकामुकैः ॥५७५॥
यावता न गतस्तस्याः, स दृष्टेर्वशवर्तिताम् । किं तु निर्जित्य तां तेन, तेऽपि सर्वेऽपि निर्जिताः ॥५७६॥
ततो निर्दलिताशेषशत्रुवर्गो विकण्टकम् । उद्भूतभूतिकं स्फीतं, राज्यमासाद्य सुन्दरम् ॥५७७॥
पालयन्निजसैन्यानि, सर्वाश्चाह्लादयन् प्रजाः । अमुञ्चन्निर्वृतेर्मार्गं, स लोके श्लाघ्यतां गतः ॥५७८॥
कथं ?-धन्योऽयं कृतकृत्योऽयं, महात्मा नरसत्तमः । येनेदृशं महाराज्यं, पालितं पुण्यकर्मणा ॥५७९॥
ततश्च-देवदानवमानुष्यशक्रचक्रधरैः स्तुतः । स गच्छन्निवृतेर्मार्गे, संप्राप्तः परपूजनम् ॥५८०॥
तदेवं भुवनख्यातं, सुखसन्दोहपूरितम् । तद्राज्यमन्तरङ्गं भोः, परिपाल्य मनोहरम् ॥५८१॥
तेनौदासीन्यमार्गेण, गच्छन्निःशेषचेष्टितम् । सिद्धान्तोक्तं प्रकुर्वाणः, पूर्वोक्तं दृढमंस्मृतिः ॥५८२॥
स तस्यामुत्तमो राजा, निर्वृतौ सततोत्सवः । संप्राप्तः क्रमशो देव ! भुङ्क्ते राज्यस्य सत्फलम् ॥५८३॥

अन्यच्च—देव ! मयाऽऽकर्णितं यथा तस्यां निर्वृतौ नगर्यां—

(१)-पददण्डिका (२)-शाश्वती ।

न मृत्युर्न जरा नार्तिर्न शोको नारतिर्न भीः । न बुभुक्षा पिपासा च, न च केचिदुपद्रवाः ॥५८४॥ किं तर्हि ?
स्वाभाविकं निराबाधं, स्वाधीनमुपमातिगम् । अनन्तं योगिगम्यं च, सुखमेव हि केवलम् ॥५८५॥
ततश्च—एवं तत्पालितं तेन, राज्यमुत्तमभूभुजा । येन तस्यां स संप्राप्तो, आर्तश्चिन्ताविवर्जितः ॥५८६॥
अन्यच्च—यो राज्यदाता प्रागासीत्पिता चोत्तमभूपतेः । स कर्मपरिणामाख्यस्तेन जित्वा निराकृतः ॥५८७॥
यद्भुक्तेः सा ह्यतिक्रान्ता, पुरी यामुत्तमो गतः । ततश्च—न कर्मपरिणामाय, ढौकमप्येष यच्छति ॥५८८॥
किं तर्हि ?—अनन्तानन्दसद्वीर्यज्ञानदर्शनपूरितः । सततं मोदते धन्यस्तस्यां निःशेषितक्रियः ॥५८९॥
चित्तवृत्तिमहाराज्ये, फलमेतत्सुपालिते । यदनन्तं भवेत्कालमवस्थानं हि निर्वृतौ ॥५९०॥
तदेवं देव ! तद्राज्यं, परिपाल्य विधानतः । संप्राप्तो निर्वृतौ पुर्यामुत्तमः स महीपतिः ॥५९१॥

[षष्ठे वर्षे वरिष्ठराजनियोग]

अथ षष्ठे पुनर्वर्षे, तत्र राज्ये नियोजितः । वरिष्ठो नाम राजेन्द्रः, स्वपुत्रस्तेन भूभुजा ॥५९२॥
विहितं घोषणं देशे, डिण्डिमेन यथाक्रमम् । पर्यालोचादयो भावाः, प्रवृत्ताश्च महीभुजाम् ॥५९३॥
अथ निश्चित्य तद्रूपं, महामोहादितस्कराः । निरानन्दा निराटोपाः, संजाता मृतकल्पकाः ॥५९४॥
हृष्टाश्चारित्रधर्माद्या, मुदितं साधुमण्डलम् । संजातं च स्वदेशेषु, महावर्धनकं परम् ॥५९५॥
यश्चोत्तमस्य संपन्नो, वृत्तान्तो राज्यसाधने । स एव च वरिष्ठस्य, विशेषस्तु निगद्यते ॥५९६॥
आसीत्परिचयस्तस्य, सिद्धान्तेन पुरा मुहुः । विहितं तद्वचस्तेन, वरिष्ठेन सुमेधसा ॥५९७॥
केवलं त्विदमासाद्य, राज्यं तेन महात्मना । न पृष्टः किंचिदप्येष, सिद्धान्तो राज्यसाधनम् ॥५९८॥
यतः—स्वत एव विजानीते, सर्वां राज्यस्थितिं किल । स वरिष्ठो महाभागो, नान्यस्तस्योपदेशकः ॥५९९॥
अन्यच्च—सौराज्ये निजवीर्येण, विहिते तेन भूभुजा । बहिरङ्गा महात्मानो जातास्तस्य पदातयः ॥६००॥
बहिरङ्गपदातीनां, धारयन्ति यतो गणम् । ततस्ते विश्रुता लोके, नाम्नेति गणधारिणः ॥६०१॥

[*गणधरेण सिद्धान्तनिरूपणम्*]

ततस्तेन वरिष्ठेन, तैरात्मगणधारिभिः । उपकारीति विज्ञाय, स सिद्धान्तो निरूपितः ॥६०२॥
अथोपलभ्य सिद्धान्तं, राजादेशेन सादरम् । समारयन्ति ते तस्य, शरीरमतिसुन्दरम् ॥६०३॥
ततश्चाङ्गान्युपाङ्गानि, संस्कृत्य कृतनिश्चयाः । संस्थापयन्ति ते तस्य, सज्ञानि गणधारिणः ॥६०४॥
एवं च स्थिते—
सोऽजरामररूपोऽपि, सिद्धान्तः परमार्थतः । लोके प्रसिद्धिमायातो, वरिष्ठेनैष कारितः ॥६०५॥
नोपदेष्टा वरिष्ठस्य, तेनासौ राज्यसाधने । निजज्ञानबलेनैव, तद्राज्यं तेन साधितम् ॥६०६॥
निरपेक्षो महाभागः, स वरिष्ठो नरेश्वरः । तदा परोपदेशानां, संजातो निजवीर्यतः ॥६०७॥
किं च—स कर्मपरिणामेन, यादृशो जनितो नृपः । तत्ते निवेदयिष्येऽहं, विज्ञातं लोकवार्तया ॥६०८॥

[*तीर्थंकरगुणसन्दोहः*]

स हि भगवान् वरिष्ठो नरेन्द्रः सकलकालं परार्थव्यसनी उपसर्जनीकृतस्वार्थ उचितक्रियावान् देवगुरुबहुमानी दैन्यहीनहृदयः सफलारम्भी कृतज्ञाता परमेश्वरो दृढानुशयविकलोऽत्यन्तधीरगम्भीराशयः,

अवज्ञाऽस्य परीषहेषु न भयमुपसर्गेषु न चिन्तापीन्द्रियवर्गे न गणनापि महामोहादिशत्रुवर्गे सात्मीभावश्चारित्रधर्मराजादिके निजबले अभिरतिर्भुवनोपकारणे ।

अन्यच्च–प्रविष्टस्य महाराज्ये, तत्र तस्य महीपतेः । संजाते च जनानन्दे, हतेषु चरटादिषु ॥६०६॥
राज्यं परिणतं दिव्यं, भुञ्जतः सततोत्सवम् । बहिरङ्गा समुद्भूता, भूतिर्या तां निबोध मे ॥६१०॥
लसत्किरीटकेयूरहारकुण्डलभूषिताः । द्योतिताशेषदिक्चक्राः, शक्रास्तस्य पदातयः ॥६११॥
इदं त्रिभुवनं देव ! सदेवमनुजासुरम् । तदा वरिष्ठराजस्य, सर्वं किङ्करतां गतम् ॥६१२॥
याऽत्र त्रिभुवने देव ! विभूतिः सा महात्मनः । तस्य सर्वापि संपन्ना, किं तु तस्यां स निःस्पृहः ॥६१३॥
नगर्यां निर्वृतौ येन, मार्गेण स नरेश्वरः । प्रस्थितस्तं समस्तेभ्यो, जन्तुभ्यो देशयत्यलम् ॥६१४॥
तं च देशयतस्तस्य, तैर्भक्तिभरनिर्भरैः । सुरासुरनरैर्देवैः ! यत्कृतं तन्निवेदये ॥६१५॥

[तीर्थङ्करस्य ३४ अतिशया]

राजतस्तपनीयाढयश्चित्ररत्नैश्च निर्मितः । एते त्रयः प्रभोर्भान्ति, प्राकारास्तस्य निर्मलाः ॥६१६॥
भ्रमद्भ्रमरविस्तार-तारझङ्कारबन्धुरः । अशोकपादपो भाति, मनोनन्दनपल्लवः ॥६१७॥
रणद्द्विरेफसंकीर्णा, सुरासुरकरेरिता । पुष्पवृष्टिः पतत्युच्चैर्गन्धामोदितदिक्पथा ॥६१८॥
तथा–प्राकारत्रयमध्यस्थे, कुर्वाणे मार्गदेशनाम् । वरिष्ठे सततानन्दी, निर्घोषः श्रूयते किल ॥६१९॥
मृणालनालसत्तन्तुसन्तानाकारधारिताम् । आचरन्ति विराजन्ते, चामराणि जगत्प्रभोः ।६२०॥
विचित्ररत्नविच्छित्तिनिर्मितानि महान्ति च । सिंहासनानि शोभन्ते, चत्वारि चतुराकृतेः ॥६२१॥
प्रकाशितनभोभागं, भास्कराकारधारकम् । राजते तत्तनूल्लासि, प्रभामण्डलमुत्तमम् ॥६२२॥
उल्लासितजनाह्लादः, सुरकिन्नरताडितः । ध्वनते दुन्दुभिर्दिव्यो, जगतां कर्णपेशलः ॥६२३॥
आतपत्रत्रयं भाति, भुवनत्रयनायकः । अयं वरिष्ठ इत्येवं, ख्यापनार्थमिव प्रभोः ॥६२४॥
इत्येवमादिभिर्देव ! देवदानवनिर्मितैः । प्रातिहार्यैर्महाभागः, स वरिष्ठो विराजते ॥६२५॥
अन्यच्च–सुगन्धिर्विमलो देहः, प्रस्वेदामयवर्जितः । गोक्षीरहारसङ्काशं, रक्तं मांसं च भूपतेः ॥६२६ ।
निहाराहारचेष्टा च, न दृश्या मांसचक्षुषाम् । निःश्वासः सुरभिस्तस्य, जन्माद्येयं गुणावली ।६२७॥
कोटीकोट्योऽपि मान्त्युच्चैः, क्षेत्रे योजनमात्रके । एकापि भारती भाति, सर्वेषां निजभाषया ॥६२८॥
पूर्वोत्पन्नाः प्रशाम्यन्ति, वैरमारीरुगीतयः । प्रादुर्भावं न यान्त्येता, भाविन्यस्तस्य तेजसा ॥६२९॥
योजनानां शते नास्ति, दुर्भिक्षं तत्प्रभावतः । अवृष्टिरतिवृष्टिश्च, न स्तः स्तेनादितश्च भीः ॥६३०॥
इत्येते सद्गुणास्तस्य, महामोहादिवैरिणाम् । समुद्दलनतो देव ! संजाता वरभूपतेः ॥६३१॥
चक्रं छत्रं ध्वजो रत्नैश्चर्चितश्चारुविक्रमः । भाति राजीवराजिश्च, क्रामतः क्रमवर्तिनी ॥६३२॥
अधोमुखाश्च तिष्ठन्ति, कण्टकास्तत्प्रभावतः । अवस्थितं तदा तस्य, नखरोमादिकं प्रभोः ॥६३३॥
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धा हृदयहारिणः । ऋतवश्च भवन्त्युच्चैः, प्रभावेण जगत्प्रभोः ॥६३४॥
भूमिर्गन्धोदकासिक्ता, पुष्पप्रकरराजिता । आजानूत्सेधिभिः पुष्पैः, पञ्चवर्णैः सुगन्धिभिः ॥६३५॥
पक्षिणोऽपि जगन्नाथं, तं कुर्वन्ति प्रदक्षिणम् । वाति तस्य सदाकालमनुकूलः समीरणः ॥६३६॥
नमन्ति पादपास्तस्य, सम्मुखं भक्तिनिर्भराः । कोटिर्न याति देवानां, पादमूलात्कदाचन ॥६३७॥

हरिराजेनोक्तं-एतावन्मात्रतो नाथ ! सुखसन्दोहदायकं । यद्याप्येत महाराज्यं, तत्ततः किं विलम्ब्यते ! ॥६८९॥
तद्दीयतां प्रसादेन, मह्यमेषा लघु त्वया । नाथ ! भागवती दीक्षा, मा विलम्बो विधीयताम् ॥६९०॥
ततः सूरिस्तदाकर्ण्य, हर्षविस्फारितेक्षणः । हरिं प्रत्याह चारूक्तं, चारु चारु नरेश्वर ! ॥६९१॥
तथाहि-इदं विज्ञाय सद्राज्यं, दीक्षालभ्यं सुखप्रदम् । कस्तां सकर्णो नादाय, स्तोकेन बहु हारयेत् ? ॥६९२॥
योग्यस्त्वमसि दीक्षाया भागवत्या न संशयः । अपात्रे न वयं कुर्मो, यत्नं तद् गृह्यतामियम् ॥६९३॥
ततस्तथेति भावेन प्रतिपद्य गुरोर्वचः । मतिविवेकैः समालोच्य, समं मन्त्रिमहत्तमैः ॥६९४॥
निजराज्ये च संस्थाप्य, पुत्रं शार्दूलनामकम् । दिनान्यष्ट जिनेन्द्राणां, प्रविधाय महोत्सवम् ॥६९५॥
पूरयित्वाऽर्थिसङ्घातं, मानयित्वा गुरूनलम् । विधाय नगरानन्दं, कृत्वा सर्वं यथोचितम् ॥६९६॥
सम मयूरमञ्जर्या, प्रधानैश्च नरेश्वरैः । तस्योत्तमगुरोः पार्श्वे, निष्क्रान्तो विधिपूर्वकम् ॥६९७॥
ततः संप्राप्य तद्राज्यं, सततानन्दसुन्दरम् । मोदमानो महाभागो विजहार महितले ॥६९८॥

[धनशेखरान्त्यावस्था]

इतश्च-भद्रेऽगृहीतसङ्केते ! मैथुनेन समेयुषा । तेन सागरमित्रेण, नाटितोऽहमनेकधा ॥६९९॥
नानारूपेषु देशेषु ततोऽहं धनलोलुपः । क्लेशराशिनिमग्नात्मा, पर्यटामि पुनः पुनः ॥७००॥
अथान्यदा महारण्ये, पतितोऽहं सुभीषणे । उपविष्टः श्रमोपेतो, बिल्वपादपसन्निधौ ॥७०१॥
ततश्च-तच्छाखानिर्गत दृष्ट्वा, प्ररोहं भूमिगामिनम् । लक्षणैर्लक्षितं भद्रे ! मया तत्र निधानकम् ॥७०२॥
ततः स सागरो भद्रे ! जातो मे प्रेरकस्तदा । उत्खनेदं यथा शीघ्रं, निधानं धनशेखर ! ॥७०३॥
ततः खाता मया भूमिर्दृष्टः सद्रत्नपूरितः । महाकुम्भः प्रभाजालैः, प्रकाशितदिगन्तरः ॥७०४॥
ततः प्रमुदितश्चित्ते, तदाऽहं वरलोचने ! । प्रवृत्तो ग्रहणे तस्य, सागरस्याज्ञया द्रुतम् ॥७०५॥
सावष्टम्भपणनादेन, स्फोटयन्निव दिक्पथम् । उद्भूतस्तत्र वेतालः, कालाकारः सुदारुणः ॥७०६॥
नयनोल्लासितज्वालः, फेत्काराराव भासुरः । दीर्घदंष्ट्राकरालेन, वदनेन यमाधिकः ॥७०७॥
तेनाहमारटन्नुच्चैः, कृत्वा वदनकोटरे । विपाटितो बलाद्भद्रे ! गाढं कटकटायता ॥७०८॥ चतुर्भिः कलापकं ।
अत्रान्तरे जरां प्राप्ता, गुडिका मे चिरन्तनी । भूयो दत्ताऽपरा तूर्णं भवितव्यतया तया ॥७०९॥
ततस्तदीयमाहात्म्यात्संप्राप्तोऽहं यथा पुरा । तस्यां पापिष्ठवासायां, पुर्यां सप्तमपाटके ॥७१०॥
तत्रानुभूय दुःखानि, भूयो भूयो वरानने ! । भ्रान्तोऽनन्तं पुनः कालं, सर्वस्थानेषु सर्वथा ॥७११॥
न तद्दुःखं जगत्यस्ति, यन्न प्राप्तं मयाऽनघे ! । अन्यदा कृतसत्कर्मा, प्रोक्तोऽहं भार्यया तया ॥७१२॥
यथा-अस्त्यार्यपुत्र ! विख्यातं, साह्लादं नाम पत्तनम् । बहिरङ्गं त्वया तत्र, गत्वा स्थेयं यथा पुरा ॥७१३॥
मयोक्तं-यदाज्ञापयति देवी, ततः कृतस्तया मम पुण्योदयः सहचरः, वितीर्णा गुडिका, विहित मया प्रस्थानमिति ॥ यदिदमसुलभं भो लब्धमेभिर्मनुष्यैर्बहुविधभवचारात्यन्तरीणैर्नरत्वम् ।
तदपि नयनलोलामैथुनेच्छापरीता, लघु धनलवलुब्धा नाशयन्त्येव मूढाः ॥७१४॥
ततश्च—विगलितास्त इमे नरभावतः, प्रबलकर्ममहाभरपूरिताः ।
सततदुःखमटन्ति पुनः पुनः, सकलकालमनन्तभवाटवीम् ॥७१५॥
तदिदमत्र निवेदितमञ्जसा, जिनवचो ननु भव्यजना ! मया । इदमवेत्य निराकुरुत द्रुतं नयनसागरमैथुनलोलताम् ॥

इत्युपमितिभवप्रपञ्चायां कथायां लोभमैथुनचक्षुरिन्द्रियविपाकवर्णनः षष्ठः प्रस्तावः समाप्तः ॥

सप्तमः प्रस्तावः

[धनवाहनस्य जन्मस्थानादिकथा]

अथास्ति जगदाह्लादं ! साह्लादं नाम तत्पुरम् । निःशेषभुवनाश्चर्यकारणं दुःखवारणम् ॥१॥
यत्र रूपेण वीर्येण, मिथःस्नेहेन लीलया । मिथुनानि प्रकुर्वन्ति, रतिमन्मथविभ्रमम् ॥२॥
तत्र निर्दलिताशेषशत्रुपूगो महारथः[1] । तेजःप्रणतसामन्तो, जीमूतो नाम पार्थिवः ॥३॥
तस्यास्ति रतिसङ्काशा, रतिसन्दोहदायिका । लीला नाम महादेवी, सर्वान्तःपुरनायिका ॥४॥
अथागृहीतसङ्केते ! भवितव्यतया तया । तदाऽहं गुटिकादानात्तस्याः कुक्षौ प्रवेशितः ॥५॥
ततोऽहं नरकाकारे, मासान्नव समर्गलान् । तत्र स्थित्वा विनिष्क्रान्तो, योनियन्त्रनिपीडितः ॥६॥
अथ मां वीक्ष्य सा लीला, स्निग्धलोलविलोचना । जातो मे पुत्रकश्चारुरिति तोषमुपागता ॥७॥
जात एवं मया सार्धं, सोऽपि पुण्योदयस्तथा । केवलं नान्तरङ्गत्वात्स दृष्टो बत लीलया ॥८॥
अथ जीमूतराजाय, प्रियङ्कर्या निवेदितः । दत्तं तस्यै महादानं, तेन संतुष्टचेतसा ॥९॥
प्रवर्तितो महानन्दः, कृतं बन्धनमोचनम् । प्रहृष्टं निखिलं राज्यं, वादितानन्दमर्दलम् ॥१०॥
गानपानमहादानखादनप्रवणे जने । अथ निर्वर्तितप्राये, तत्र जन्ममहोत्सवे ॥११॥
ज्योतिःशास्त्रे कृतोद्योगः, सिद्धार्थो नाम विश्रुतः । पृष्टो जीमूतराजेन, महासांवत्सरस्तदा ॥१२॥

[कुमारभाविनिरूपणम्]

यथा निवेदयत्वार्यः कुमारजन्मनक्षत्रस्य कीदृशी ग्रहावलोकनेति ? सिद्धार्थेनोक्तं—यदाज्ञापयति देवः, समाकर्णयतु तावत्—अयमानन्दः संवत्सरः ऋतुः शरत्कालः मासः कार्त्तिकः तिथिर्द्वितीयेति भद्रा वारो बृहस्पतिः नक्षत्रं कृत्तिका राशिर्वृषः योगो धृतिः सौम्यग्रहनिरीक्षितं लग्नं उच्चस्थानस्थिताः सर्वे ग्रहाः ऊर्ध्वमुखा होरा एकादशस्थानस्थिताः शुभेतराः पापग्रहा इति ।

अपिच—जातोऽयमीदृशे राशौ, कुमारो देव ! सुन्दरे । येनास्य संपदस्तुङ्गा भविष्यन्ति न संशयः ॥१३॥

राज्ञाऽभिहितं—आर्य ! क एते राशयः के वाऽमीषां गुणा इति श्रोतुमिच्छामि, सिद्धार्थेनोक्तं—देव ! समाकर्णय, राशयस्तावदेते—मेषो वृषो मिथुनः कर्कः सिंहः कन्या तुला वृश्चिको धनुर्मकरः कुम्भो मीन इति । एतेषाममी गुणाः, तद्यथा—

[जन्मराशिसूचितजातकगुणा]

चक्षुर्लोलः सदारोगी, धर्मार्थे कृतनिश्चयः । पृथुजङ्घः कृतज्ञश्च, विक्रान्तो राजपूजितः ॥१४॥
कामिनीहृदयानन्ददायको जलभीरुकः । चण्डकर्मा मृदुश्चान्ते, मेषे जातो भवेन्नरः ॥१५॥
अपमृत्युर्भवेत्तस्य, किलाष्टादशवत्सरे । पञ्चविंशतिपर्यन्तवर्षे वापि कथंचन ॥१६॥
अष्टस्ताभ्यां पुनर्जीवेच्छतमेकं म्रियेत वा । कृत्तिकास्वर्धरात्रेऽसौ, चतुर्दश्यां च मङ्गले ॥१७॥
भोगी दाता शुचिर्दक्षः, स्थूलगण्डो महाबलः । तेजस्वी रागबहुलः, कण्ठरोगी सुपुत्रकः ॥१८॥
सविलासगतिः सत्यो, लाञ्छनी स्कन्धगण्डयोः । एवं गुणगणोपेतो, वृषे जातो भवेन्नरः ॥१९॥

---

(१) महारथ =एकादशसहस्रधनुर्धरैः एकको योद्धु समर्थः ।

इत्येतेऽतिशयास्तस्य, देवसन्निधिविनिर्मिताः । प्रादुर्भूता निजं राज्यं, भुञ्जतो लब्धभूपतेः ॥६३८॥
एवं सकलकल्याणसन्दोहोद्दामशालिनी । भूतिर्वैरिग्रहात्तस्य, देव ! वार्त्तान्तरातिगा ॥६३९॥
इत्थं त्रिभुवनानन्दकारकः स नरेश्वरः । नगर्यां निर्वृतौ लोकान्, प्रापयन्मार्गदेशकः ॥६४०॥
ततस्तत्तादृशं राज्यं, कुर्वाणस्तेन वर्त्मना । जगावपि गतो देव ! निर्वृतौ चारु भूमिपः ॥६४१॥
यथोक्तस्य निर्दिष्टो, वृत्तान्तोऽग्निशमादिकः । स एतस्यापि विज्ञेयो, संगृह्य न संशयः ॥६४२॥
अन्यच्च-विमला लोचनस्यापि, दृष्टिः परमयोगिनी । तेनाऽकिञ्चित्करा देव ! चरितेन महात्मना ॥६४३॥
निजबन्धुवियुक्ता सा, सर्वशक्तिविवर्जिता । ततो दृष्टिविवेकेन, सर्वथा प्रलयं गता ॥६४४॥
तदेवं कृतकृत्यत्वान्निर्वृतौ स नरेश्वरः । आस्ते शान्तो निराबाधः, सततानन्दपूरितः ॥६४५॥
एवं च स्थिते-यद्भवद्भिस्तदादिष्टं, राज्यषट्कनिरीक्षणम् । तदेव देव ! कृत्स्नाऽस्माभिरनन्तर सन्निधौ ॥६४६॥

[अप्रबुद्धस्य पर्यालोचनम्]

ततश्चेदं वितर्कस्य, भाषितं स महीपतिः । अप्रबुद्धः समाकर्ण्य, चेतसा पर्यचिन्तयत् ॥६४७॥
अये !-यथैव दिष्टं पूर्वं मे, सिद्धान्तेन महात्मना । तथैव सकलं जातं, नान्यथा तस्य भाषितम् ॥६४८॥
तथाहि-इद तेन सिद्धान्तेन भाषितं पूर्वमासीत्, तद्यथा—
किलैकमपि तद्राज्यं, कारणं सुखदुःखयोः । भवेत्पालनमाश्रित्य, नृणां पात्रविशेषतः ॥६४९॥
तच्चेदं मे वितर्केण, तथैवात्र निवेदितम् । संभवेदन्यथाभावः, कुतः सिद्धान्तभाषिते ? ॥६५०॥
तथाहि-निकृष्टाधमयोर्जातं, तद्दुःखस्यैव कारणम् । दुष्पालितं कृतं ताभ्यां, तद्राज्यं सर्वथा यतः ॥६५१॥
विमध्यमस्य संपन्नं, तत्स्वल्पसुखकारणम् । यतः-बहिर्भूतेन तेनेदं, विहितं मन्दपालितम् ॥६५२॥
मध्यमस्य पुनर्जातं तद्दीर्घसुखकारणम् । यतः प्रविश्य तेनेदं, पालितं किंचिदादरात् ॥६५३॥
निःशेषसुखसम्भारकारणं राज्यमुच्चकैः । विशिष्टपालनाज्जातं, तदुत्तमवरिष्ठयोः ॥६५४॥
किं च ?-एतद्राष्ट्रिकराज्यानां, षट्कं कलयता मया । सर्वमेव हि विज्ञातं, यतः प्रोक्तं मनीषिभिः ॥६५५॥
येन सवत्सरो दृष्टः, सकृत्कामश्च सेवितः । तेन सर्वमिद दृष्ट, पुनरावर्तकं जगत ॥६५६॥
तत्सिद्धान्तप्रसादेन, विज्ञाय सुखदुःखयोः । हेतु जातः प्रबुद्धोऽहं, विनष्टाऽप्रबुद्धता ॥६५७॥
एवं च परितुष्टात्मा, स प्रबुद्धो नराधिपः । तद्राज्यषट्कं निश्चित्य, ज्ञानाज्जातो निरातुरः ॥६५८॥

[प्रस्तुतार्थनिरूपणम]

इदं प्रसङ्गतः सर्वं, तुभ्यं हरिनरेश्वर ! । निवेदितं मया योऽर्थः, प्रस्तुतस्तं निबोध मे ॥६५९॥
यथा दोषाय संजाता, महामोहादिशत्रवः । सा च दृष्टिर्विशेषेण, निकृष्टाधमयोस्तथा ॥६६०॥
तथाऽन्येऽप्यन्तरङ्गा भो, लोका ! दोषाय देहिनाम् । दुष्टा विज्ञानशून्यानां, जायन्ते नात्र संशयः ॥६६१॥
युग्मम् । ततो यद्भवता पृष्टमाकर्ण्य धनशेखरम् । अनन्तमन्तरङ्गाभ्यां, मित्राभ्यां परिपीडितम् ॥६६२॥
तथाऽन्यस्यापि दोषेण, किं दोषी जायते नरः ? । येनासौ मित्रदोषेण, पीड्यते धनशेखरः ? ॥६६३॥
तदेवं भो महाराज ! युज्यते धनशेखरे । तादृक्षमित्रदोषेण, तादृग्भूत विचेष्टितम् ॥६६४॥ त्रिभिर्विशेषकम् ।
हरिनरेन्द्रेणोक्त—
एवमेतन्महाभाग ! नष्टो मे संशयोऽधुना । किं त्वन्योऽस्ति ममाद्यापि, सन्देहः सोऽपनीयताम् ॥६६५॥

ये कर्मपरिणामस्य, षडमी परिकीर्तिताः । पुत्रास्तेषु गतेष्वेव, परतः किमजायत ? ॥६६६॥
किं षडेव हि जातानि, तानि राज्यानि नापरम् । किं वा भवन्ति तादृशि ? राज्यान्यत्र पुनः पुनः ॥६६७॥
सूरिराह महाराज ! य एते भुवनोदरे । विद्यन्ते देहिनः केचिन्नानाकाराश्चराचराः ॥६६८॥
ते कर्मपरिणामस्य, सर्वेऽपि परमार्थतः । विज्ञेयाः षड्विधाकाराः, पुत्रा नास्त्यत्र संशयः ॥६६९॥ युग्मम् ।
ततस्तेषु गतेष्वेवं, तद्राज्यमपरे सुताः । तादृशा एव भुञ्जन्ति, दत्तं तेन महीभुजा ॥६७०॥
तेषामपि भवत्येव, तत्सुखासुखकारणम् । निकृष्टाद्यभिधानं च, तद्गुणैः सम्प्रवर्तते ॥६७१॥
किं च-तिष्ठन्ति दूरगास्तावदपरे तस्य सूनवः । मामेव हि महाराज ! तस्य पुत्रं विलोकय ॥६७२॥

[आचार्यस्योत्तमराजता]

यः कर्मपरिणामेन, दत्तराज्यस्ततः परम् । सिद्धान्तादिष्टसन्मार्गो, वैराग्याभ्याससंयुतः ॥६७३॥
कृतपूर्वक्रियो राज्ये, प्रविष्टस्तत्र सुन्दरे । हतारिवर्गश्चारित्रधर्मसैन्यस्य पोषकः ॥६७४॥
सोऽहमेभिः, समायुक्तः, महायैर्यत साधुभिः । राज्य भुञ्जन्निहायात, उत्तमो नाम तत्सुतः ॥६७५॥ त्रिभिर्विशेषकं,
ये गुणा यत्सुखं या च, विभूतिर्यच्च चेष्टितम् । मया निवेदितं पूर्वं, तस्य पञ्चमभूपतेः ॥६७६॥
ते गुणास्तत्सुखं सा च, विभूतिस्तच्च चेष्टितम् । ममापीह महाराज ! संपन्नं नास्ति संशयः ॥६७७॥(युग्मम्)
इदं हि राज्यं कुर्वाणो, भक्तिप्रह्वैः सुरादिभिः । अहं गुणगणोपेत, इति धन्यतया स्तुतः ॥६७८॥
तथा-स्वसंवेदनसंसिद्धं, यदत्र परमं सुखम् । राज्ये मे तिष्ठतो भूप ! तत्तु वक्तुं न पार्यते ॥६७९॥
तथा-कोट्यो रत्नराशीनामसंख्यातं च मे बलम् । चतुरङ्गं महाराज ! विभूतिरियमीदृशी ॥६८०॥
तथा-यत्सिद्धान्तोदितं कृत्यं, कृतं तेन महात्मना । उत्तमेन तदेवाहं, करोमीति विचेष्टितम् ॥६८१॥
तत्कर्मपरिणामस्य, यथाऽहमधुनोत्तमः । जातः सुतस्तथाऽन्येऽपि, निकृष्टाद्या न संशयः ॥६८२॥
अविच्छिन्नप्रवाहेण, तद्राज्यमपरेऽपरे । एकरूपमनेकेऽपि, युगपद् भुञ्जन्ति पार्थिवाः ॥६८३॥

ततो गृहीतभगवद्वचनभावार्थेनाभिहितं हरिनरेन्द्रेण-भदन्त ! यद्येते भुवनोदरविवरचारिणः सर्वेऽपि देहिनस्तस्य कर्मपरिणाममहाराजस्य सूनवः परमार्थेन यदि च तदन्तरङ्गं चित्तवृत्तिमहाभूमिराज्यं तेभ्यः सर्वेभ्यस्तेन कर्मपरिणामेन दीयते यच्च दत्तं सदेकरूपमपि पात्रविशेषादनेकरूपतया परिणमति नानारूपाणां च तेषां देहिनां विविधसुखदुःखहेतुत्वं प्रतिपद्यते तदेवं स्थिते वयमपि तस्य कर्मपरिणाममहाराजस्य सुता वर्तामहे, ततश्चास्माकमपि तद्राज्यमाभवत्येव । उत्तमसूरिणाऽभिहितं-महाराज ! सम्यग् निश्चितं, बाढमाभवत्येव तद्राज्यं भवतः, पालयसि च त्वं विमध्यमराज्यं, केवलं न लक्षयसि, यतः साधयसि त्वं विभज्य रात्रिन्दिवं धर्मार्थकामलक्षणं परस्परमबाधया त्रिवर्गं, एतदेव च विमध्यमराज्यलक्षणं प्रागाख्यातं तत्किं नावधारितं भवता ? हरिराजेनोक्तं-अलं ममानेन विमध्यमराज्येन, भदन्त ! दाप्यतां मह्यमपीदमात्मीयमुत्तमराज्यं, सूरिराह-महाराज ! सुन्दरं खलु केवलं-

यथैतैः साधुभिर्लब्धमिदं राज्यं नरोत्तम ! तथैव लभ्यते नूनं, नापरं लाभकारणम् ॥६८४॥
एतेऽप्यस्मिन् मयाऽऽख्याते, स्वराज्येऽतिमनोहरे । अत्यन्तसस्पृहा जातास्तल्लाभार्थं यथा भवान् ॥६८५॥
ततो मयोदिता भूप ! पूर्वमेते सुसाधवः । यथा भागवतीं दीक्षां, विना नैतदवाप्यते ॥६८६॥
ततोऽमीभिः प्रपन्ना सा, दीक्षा कल्मषनाशिनी । प्राप्तं च तन्महाराज्यं, सुखसम्भारकारणम् ॥६८७॥
अतस्तत्रापि यद्यस्ति, तत्र वाञ्छा नरेश्वर ! । राज्ये तद्गृह्यतामेषा, दीक्षा भागवती त्वया ॥६८८॥

स समानां शतं जीवेत्पञ्चविंशतिको यदि । भ्रश्येच्चतुष्पदाच्चास्य, मरणं रोहिणीत्र्यंशे ॥२०॥
पुष्टाङ्गो दृष्टिलोलश्च, मैथुनासक्तमानसः । धनाढ्यः करुणोपेतः, कण्ठरोगी जनप्रियः ॥२१॥
गान्धर्वनाट्यकुशलः, कीर्तिभागी गुणाकरः । गौरो दीर्घः पटुर्वाग्मी, मिथुनोद्भूतमानवः ॥२२॥
जले तस्यापमृत्युः स्याद्वत्सरे किल षोडशे । अशीतिको म्रियेतासौ, पौषमासे जलानले ॥२३॥
कार्यकारो धनी शूरो, धर्मिष्ठो गुरुवत्सलः । शिरोरोगी महाबुद्धिः, कृशाङ्गः कृतवेदकः ॥२४॥
प्रवासशीलः कोपान्धो, बाल्ये दुःखी सुमित्रकः । भृतभृत्यो मनाग्वक्र', कर्कटोद्भूतमानवः ॥२५॥
पतनेन म्रियेतासौ, वर्षाणां विंशतौ नरः । अशीतौ वा पुनः पौषे, मृगशीर्षे सिते निशि ॥२६॥
क्षमी मानी क्रियायुक्तो, वत्सलो मद्यमांसयोः । देशभ्रमणशीलश्च, विनीतः शीतभीरुकः ॥२७॥
क्षिप्रकोपी सुपुत्रश्च, जननीजनकप्रियः । व्यसनी प्रकटो लोके, सिंहे जातो मनुष्यकः ॥२८॥
पञ्चाशत्को म्रियेतासौ, यदिवा शतिको मघौ । मघासु जीवितं मुञ्चेत्, पुण्यक्षेत्रे शनैश्चरे ॥२९॥
विलासिनीजनाह्लाददायको धनपूरितः । दाता दक्षः कविर्दीर्घवाने धर्मपरायणः ॥३०॥
सर्वलोकप्रियो नाट्यगान्धर्वव्यसने रतः । प्रवासशीलः स्त्रीदुःखी, कन्यजातो भवेन्नरः ॥३१॥
त्रिंशत्को म्रियते शस्त्राज्जलाद्वा यदिवा पुनः । अशीतौ मूलनक्षत्रे, देशान्ते बुधवासरे ॥३२॥
अस्थानरोपणो दुःखी, स्फुटभाषी क्षमान्वितः । चलाक्षश्चललक्ष्मीको, गृहे दर्शितविक्रमः ॥३३॥
वाणिज्यदक्षो देवानां, पूजको मित्रवत्सलः । प्रवासी सुहृदामिष्टस्तुलाजातो भवेन्नरः ॥३४॥
म्रियेत विंशतौ कुड्यपातादिभ्योऽथवा पुनः । अशितावनुराधासु, ज्येष्ठे मङ्गलवासरे ॥३५॥
बाल्यप्रवासी क्रूरात्मा, शूरः पिङ्गललोचनः । परदाररतो मानी, निष्ठुरः स्वजने जने ॥३६॥
साहसावाप्तलक्ष्मीको जनन्यामपि दुष्टधीः । धूर्तश्चौरोऽफलारम्भी, वृश्चिकोद्भूतमानवः ॥३७॥
स चेच्चौराहिशस्त्राद्यो, म्रियेताष्टादशाब्दकः । पञ्चविंशतिको वापि. ततो जीवति सप्ततिम् ॥३८॥
शूरः सत्यो धिया युक्तः, सात्त्विको जननन्दनः । शिल्पविज्ञानसंयुक्तो, धनाढ्यो वरभार्यकः ॥३९॥
मानी चारित्रसंपन्नो, ललिताक्षरभाषकः । तेजस्वी स्थूलदेहश्च, कुलघ्नो धनुजातकः ॥४०॥
स चोत्पत्तिदिनाद्यो चेन्म्रियेताष्टादशे दिने । ततो जीवति वर्षाणां, किलासौ सप्तसप्ततिम् ॥४१॥
कुजनेष्टो वशः स्त्रीणां, पण्डितः पारदारिक' । गीतज्ञो लाञ्छनी गुह्ये, पुत्राढ्यो मातृवत्सलः ॥४२॥
धनी त्यागी सुरूपश्च, शीतालुर्भूरिबान्धवः । परिचिन्तितसौख्यश्च, संजातो मकरे नरः ॥४३॥
म्रियते विंशतौ नो चेत्ततः शूलेन सप्ततौ । शनैश्चरे भाद्रपदे, जीवितं स विमुञ्चति ॥४४॥
दाताऽलसः कृतघ्नश्च, गजेन्द्रतुरगस्वनः । [1]शालूरकुक्षिर्निर्भीको, धनभागी सशस्तिकः ॥४५॥
स्तब्धदृष्टिश्चलो हरते, मानविद्याकृतोद्यमः । पुण्याढ्यः स्नेहहीनश्च, कुम्भे जातो भवेन्नर. ॥४६॥
स चेदष्टादशे वर्षे, व्याघ्रेण न हतस्ततः । जीवेदशीतिं वर्षाणां, चतुर्भिरधिकां नरः ॥४७॥
गम्भीरचेष्टितः शूरः, पटुवाक्यो नरोत्तमः । कोपप्रज्ञा (कोपः प्राज्ञो) रणश्रेष्ठो, न त्यागी बन्धुवत्सलः ॥४८॥
गान्धर्ववेदको नित्यं, सेवकश्चेतरे जने । गच्छति त्वरया मार्गे, मीने जातो मनुष्यकः ॥४९॥
तदेवं देव ! ये प्रोक्ता, मेषादीनां गुणा मया । एते पूर्वं स्वशिष्येभ्यः, सर्वज्ञेन निवेदिताः ॥५०॥

(१) शालूरो=मण्डूक. ।

तथाहि–ज्योतिर्ज्ञानं निमित्तं च, यच्चान्यदपि तादृशम् । अतीन्द्रियार्थं तच्छास्त्रं सर्वं सर्वज्ञपूर्वकम् ॥५१॥
ततोऽत्र व्यभिचारः स्यात् , केवलं नरदोषतः । विभाग हि न जानीते, शास्त्रस्याल्पश्रुतो नरः ॥५२॥
एवं च स्थिते–क्रूरग्रहैर्न दृष्टाश्चेद्बलवन्तश्च राशयः । ततोऽमीषां गुणाः सत्या, नान्यथेत्यवधारय ॥५३॥

ततो जीमूतराजेनोक्तं–एवमेतन्नास्त्यत्र सन्देहः, सम्यगावेदितमार्येण. ततः परिपूज्य दानसन्मानादिना प्रहितः सिद्धार्थः, प्रतिष्ठितं च महानन्दपुरःसरं समुचितसमये मम घनवाहन इति नाम । इतश्चास्ति तस्य जीमूतनृपतेः कनिष्ठो भ्राता नीरदो नाम, तस्य पद्मा नाम महादेवी, सापि तस्मिन्नेवावसरे दारकं प्रसूता, प्रतिष्ठितं तस्याकलङ्क इत्यभिधानं–

ततोऽहं लालितोऽत्यन्तं, स च नीरदनन्दनः । क्रमेण सुखसन्दोहैस्तत्र वृद्धिमुपागतौ ॥५४॥

[घनवाहनाकलङ्कयोर्मैत्रीभाव]

क्रीडितं च समं तेन, बाल्ये धूल्यादिना मया । पितृव्यपुत्रभावेन, न जातो विरहः क्वचित् ॥५५॥
ततश्च–कौमारे वर्तमानस्य, भवितव्यतया तया । सार्धं तेनाकलङ्केन, मम मैत्री नियोजिता ॥५६॥
जातः परस्परं स्नेहो, निर्मिथ्यं गाढमावयोः । एकोपाध्यायहस्ताच्च, गृहीताः सकलाः कलाः ॥५७॥
तथा च ललमानोऽहमकलङ्कश्च सुन्दरि ! । प्राप्तौ क्रमेण तारुण्यं, मकरध्वजमन्दिरम् ॥५८॥
स चाकलङ्को बाल्येऽपि, कौमारे यौवनेऽपि च । लघुकर्मतया धन्यो, न स्पृष्टो दुष्टचेष्टितैः ॥५९॥
किं तर्हि ?–प्रशान्तमूर्तिः पुण्यात्मा, विनीतो देवपूजकः । प्रियवादी स्थिरोऽत्यन्तं, निर्मलीमसमानसः ॥६०॥
स्तोकरागः प्रकृत्यैव, विकाररहितः सदा । अज्ञातपरमार्थोऽपि, तत्त्ववेदीव भासते ॥६१॥
ततः सुसाधुसम्पर्काद्भद्रकस्तन्निषेवकः । व्याख्यानश्रवणाज्जातः, कुशलोऽसौ जिनागमे ॥६२॥
तथापि स्नेहभावेन, मया सार्धं दिने दिने । सोऽकलङ्कस्तदा भद्रे ! विलसत्येव लीलया ॥६३॥
अथान्यदा मया नीतः, प्रभाते स विचक्षणः । मनोहारिणि लीलार्थमुद्याने बुधनन्दने ॥६४॥
ततो ममोपरोधेन, क्रीडित्वा प्रहरद्वयम् । अथ मध्याह्नकालेऽसौ, प्रस्थितो गृहसंमुखम् ॥६५॥
मयोक्तमत्र विश्रम्य, मन्दिरे काननान्तरे । ततो गेहे गमिष्यावः, स्थीयतां क्षणमात्रकम् ॥६६॥
ततोऽकलङ्कस्तत् श्रुत्वा, मामकं वचनं तदा । उद्यानमध्यभागस्थे, प्रविष्टो जिनमन्दिरे ॥६७॥
तत्राभिष्टूय सद्भक्त्या, भगवन्तं जिनेश्वरम् । निर्गतेन मया सार्धं, दृष्टास्तेन सुसाधवः ॥६८॥
ते च तत्राष्टमीं मत्वा, स्वकीयवसतेस्तदा । आगता लोकनाथस्य, वन्दनार्थमुपोषिताः ॥६९॥
ततस्ते विधिवत्सर्वे, वन्दित्वा भुवनेश्वरम् । बहिः सिद्धान्तसूत्राणि, गुणयन्ति पृथक् पृथक् ॥७०॥
परस्परं स्थिता दूरे, स्थिरा निर्मलकान्तयः बहिर्द्वीपसमुद्रेषु, चन्द्रा इव महाधियः ॥७१॥
अत्यन्तसुन्दराकारा, यथेष्टफलदायिनः । तदानीं ते विराजन्ते, कल्पपादपसन्निभाः ॥७२॥

[मुनिजनस्य वैराग्यहेतुपृच्छा]

ततोऽभिहितमकलङ्केन–कुमार ! घनवाहन पश्य पश्येमे मुनयो भगवन्तो मकरकेतना इव रूपेण दिनकरा इव तेजस्वितया सुरशिखरिणा इव स्थिरतया सागरा इव गम्भीरतया महर्द्धिसुरकुमारा इव लावण्यसमुदयेन दृश्यन्ते । तत् किं पुनर्भगवतामभीषामेवंविधगुणयोगेन भुवनराज्योचितानामपीदृशामत्यन्तदुश्चरकष्टचर्याग्रहणे कारणमभूदिति सकौतुकं नश्चेतः, तदेहि तावत् पृच्छामोऽमून्मुनिपुङ्गवान् भगवतः प्रत्येकं यथा–किं कस्य वैराग्यकारण-

मिति । मयोक्तं-एवं भवतु, ततो गतावेकस्य मुनेः समीपं, वन्दित्वाऽकलङ्केन पृष्टोऽसौ मुनिः—भदन्त ! किं ते वैराग्यकारणमिति ? मुनिराह—भद्राकर्णय, लोकोदरेग्रामे वास्तव्यः कुटुम्बिकोऽहं, तत्र च ग्रामे रात्रौ समन्ताल्लग्नं प्रदीपनकं प्रसर्पितं धूमवितानं प्रवृद्धो ज्वालाकलापः समुल्लसितो वंशस्फोटरवः समुत्थिता लोकाः संजातः कोलाहलः रुदन्ति डिम्भरूपाणि धावन्ति महेलाः आरारट्यन्तेऽन्धाः क्रोशन्ति पङ्गवः किलकिलायन्ते पिङ्गाः मुष्णन्ति तस्कराः दह्यन्ते सर्वस्वानि परिदेवन्ते कृपणाः सर्वथा सञ्जातममातापुत्रीयकमिति । ततस्तादृशे समस्ते ग्रामजनदाहिनि प्रदीपनके विबुद्धः कश्चिदेको मन्त्रवादी, स चोत्थाय स्थितो ग्राममध्यवर्तिनि गोचन्द्रके, कृतमनेनात्मकवचं विहितं रेखया विशालं मण्डलं आहूता महता शब्देन ते ग्रामेयकलोकाः यथाऽऽगच्छत यूयमत्र मदीयमन्त्रमण्डले प्रविशत येन न दन्दह्यन्ते भवतां सर्वस्वानि शरीराणि च ततस्तथा पूत्कुर्वतस्तस्य वचनमाकर्ण्य केचित्स्वल्पतमा लोकास्तत्र तदीयमन्त्रमण्डले प्रविष्टाः, शेषाः पुनरुन्मत्ता इव मत्ता इव हतहृदया इवात्मवैरिका इव ग्रहगृहीता इव तस्मिन्नेव तथाविधे प्रदीपनके दह्यमानेषु तथा सर्वस्वेषु प्रक्षिपन्ति तृणकाष्ठभारान् विध्यापयन्ति घृतभृतघटकैः, ततस्तैस्तैर्मण्डलमध्यस्थैः प्रोक्ताः—भो भो भद्रा ! नायमस्य प्रदीपनकस्य प्रशमोपायः, किं तर्हि ? यूयमिदं जलेन वा विध्यापयत अत्र वाऽनेन महात्मना विरचिते मन्त्रमण्डले प्रविशत येनेदं प्रशाम्यति भवतां यथाऽस्मद्गृहेषु प्रशान्तं, ते तु लोकास्तत्तेषां वचनं केचिन्नाकर्णयन्ति केचिदवधीरयन्ति केचिदुपहसन्ति केचिदुल्लण्ठयन्ति केचिद्विघ्नन्ति केचित्प्रतिकूलयन्ति केचित्तान्प्रति रुष्यन्ति केचित्प्रहरन्ति, ततस्ते मण्डलस्था लोकाः स्थितास्तान्प्रति मौनेन । केचित्तु पुण्यभाजस्तेषां वचनं कुर्वन्ति । ततो ममापि तथाभवितव्यतया प्रतिभातं तत्तेषां मण्डलस्थानां लोकानां सम्बन्धि वचनं, प्रविष्टोऽहमुत्प्लुत्य तत्र मण्डले दृष्टास्ते मया ग्रामीणलोकाः प्रबलपवनप्रेरणादतिभयीतेन भूतेन प्रदीपनकेन बलादारटन्तो दह्यमानाः, ते तु मण्डलस्था लोकाः कियन्तोऽपि प्रव्रजिताः ततोऽहमपि तेषां मध्ये प्रव्रजितः । तदिदं भद्र ! मम वैराग्यकारणमिति ॥ ततो हृष्टोऽकलङ्कश्चेतसा चलितो द्वितीयमुनेरभिमुखम्, न बुद्धो मया कथानकभावार्थः, ततः पृष्टो मयाऽकलङ्कः—यथा कुमार !-किमनेन तवाख्यातमीदृग् वैराग्यकारणम् ? इदं चाकर्ण्य सहसा, किं वा हृष्टोऽसि चेतसा ? ॥७३॥ अकलङ्केनोक्तं आकर्णय—

[प्रदीपनस्योपनय]

योऽयं लोकोदरो ग्रामो, मुनिना भो निवेदितः । यत्र वास्तव्यको ह्येष, स संसारः प्रतीयताम् ॥७४॥
रात्रिरेव सदा तत्र, महामोहतमोमयी । रागद्वेषाग्निना तस्यां, नित्यलग्नं प्रदीपनम् ॥७५॥ तत्र
धूमोऽत्र तामसो भावः, स च तत्र प्रसर्पति । ज्वालाकलापसंकाशो, राजसो भाव उच्यते ॥७६॥ अन्यच्च संसारप्रदीपनके—समुल्लसन्ति कलहा, वंशस्फोटरवैः समाः । रागद्वेषाग्निनोत्तप्ताः, समुत्तिष्ठन्ति जन्तवः ॥७७॥
ते च कोलाहलं तत्र, कुर्वन्त्येव सुदारुणम् । क्रन्दन्ति डिम्भरूपाभा, कषायाश्चित्ततापिनः ॥७८॥
अशुद्धलेश्यासंज्ञाश्च, धावन्त्येता महेलिकाः । अन्धा इव रटन्त्यत्र, मूर्खा रागाग्नितापिताः ॥७९॥
जानन्तोऽपि क्रियाहीना, नराः क्रोशन्ति पङ्गवः । सदा किलकिलायन्ते नास्तिकाः पिङ्गसन्निभाः ॥८०॥
मुष्णन्ति धर्मसर्वस्वं, नृणामिन्द्रियतस्कराः । तथाऽऽत्मगेहसाराणि, दह्यन्ते रागवह्निना ॥८१॥
केचित्तु परिदेवन्ते, तद् दृष्ट्वा कृपणा इव । किं कुर्मः शक्यते नेदं, विध्यापयितुमीदृशम् ? ॥८२॥
तदेवमीदृशं भद्र ! सदा गाढविसंस्थुलम् । भवप्रदीपनं रौद्रं, साधुना तेन वर्णितम् ॥८३॥

परस्परं हि लोकानां, तत्र त्राता न विद्यते । अमातापुत्रकं तेन, कारणेन निवेदितम् ॥८४॥
मन्त्रवादी पुनस्तत्र, विशुद्धः परमेश्वरः । सर्वज्ञस्तेन चोत्थाय, विहितं तीर्थमण्डलम् ॥८५॥
तच्च गोचन्द्रकाकारे, मध्यलोके प्रकाशितम् । कृतात्मकवचेनैव, सूत्रमन्त्रस्य रेखया ॥८६॥
आह्वानं जीवलोकानां, धर्मदेशनया कृतम् । उत्साहिताश्च ते तेन, तीर्थकृन्मन्त्रवादिना ॥८७॥
ततः केचिन्महासत्त्वा, भव्याः कल्याणभागिनः । श्रुत्वा भगवतो वाक्यं, स्थितास्तत्तीर्थमण्डले ॥८८॥
ते केवलमतिस्तोकाः, ततस्ते भवचारिणाम् । अनन्तभागे वर्तन्ते, ते च मुक्ताः प्रदीपनात् ॥८९॥
अन्ये पुनर्महामूढा, रागद्वेषाग्निदीपितम् विध्यापयन्ति विपर्यैस्तत्समारप्रदीपनम् ॥९०॥
बद्धाः पुत्रकलत्रादौ, कुर्वन्ति धनमञ्चयम् । तदिदं तृणकाष्ठानां, भारैर्गाढं विवर्धनम् ॥९१॥
तथा-मायालोभमदक्रोधात्, कुर्वन्ति सततं जनाः । स एष घृतकुम्भानां, प्रक्षेपस्तस्य वर्धकः ॥९२॥
तीर्थमण्डलमध्यस्थैर्न तिष्ठन्ति निवारिताः । नापि प्रशमतोयेन, तत्ते विध्यापयन्त्यहो ॥९३॥
प्रवेशं च न कुर्वन्ति, तत्र सत्तीर्थमण्डले । नाकर्णयन्ति तद्वाक्यमुपहासादि कुर्वते ॥९४॥
केचिदेव प्रबुध्यन्ते, यथाऽयं मुनिसत्तमः । प्रबुद्धो वचनात्तेषां, प्रविष्टस्तीर्थमण्डले ॥९५॥
दृष्टाश्चानेन ते लोकाः, संसारोदरचारिणः । रागद्वेषाग्निनाऽत्यन्तं, दह्यमानाः सुविह्वलाः ॥९६॥
अशुद्धाध्यवसायाख्यः, पवनः प्रेरयत्यलम् । तत्र लोकोदरग्रामे, तं रागद्वेषपावकम् ॥९७॥
ततः सोऽतिभरीभूतो, जीवान् ग्रामेयकानिव । दहत्यारटतोऽमीषां, मुनीनां पश्यतामपि ॥९८॥

यत्पुनरनेन मुनिनाऽभिहितं, यथा-ते तु मण्डलस्था लोकाः कियन्तोऽपि प्रव्रजितास्ततोऽहमपि तेषां मध्ये प्रव्रजितः, तद्भद्र ! घनवाहन ! वक्रोक्तिगर्भमवगन्तव्यं, मयोक्त-कुमार ! कथमीदृशी पुनरत्र वक्रोक्तिः ? अकलङ्केनोक्तं-

सत्तीर्थमण्डले तत्र, यतो लोकाश्चतुर्विधाः । साधवः श्रावकाः साध्व्यः, श्राविकाश्च व्यवस्थिताः ॥९९॥
ततः प्रव्रजितास्तत्र, कियन्तोऽपि न शेषकाः । एषोऽपि च मुनिस्तेषां, मध्ये प्रव्रजितः स्फुटम् ॥१००॥
तदेवमीदृशं भद्र ! वक्रोक्त्या तेन साधुना । प्रदीपनकमुद्दिष्टं चारु वैराग्यकारणम् ॥१०१॥
इदं च सकलं बुद्धं, यच्चमत्कारकारणम् । मया कथयतोऽस्यैव, हृष्टोऽहं तेन चेतसा ॥१०२॥
चिन्तितं च मया भद्र ! सत्यमेतन्मुनेर्वचः । सतां सदा प्रदीप्तो हि, भवो वैराग्यकारणम् ॥१०३॥
तथाहि-प्रदीपनकदाहेन, दाहयन्तीह मानवाः । आत्मानं ये जडास्तस्मान्निस्सरन्ति महाधियः ॥१०४॥
अन्यच्च-आवयोः प्रतिबोधार्थमिदमेतेन साधुना । प्रदीपनकमुद्दिष्टमात्मवैराग्यकारणम् ॥१०५॥
तथाहि किल-प्रदीपनकसङ्काशे, संसारे दह्यमानयोः । युवयोरपि युक्तं हि, प्रवेष्टुं तीर्थमण्डले ॥१०६॥
भावतोऽत्र प्रविष्टानां, धन्यानां तीर्थमण्डले । रागद्वेषाग्निना दाहो, न समस्ति कदाचन ॥१०७॥
एतच्च रोचते मह्यं, मुनेराकूतमुत्तमम् । तुभ्यं किं रोचते नेति, न जाने घनवाहन ! ॥१०८॥
ततो मयाऽकलङ्कस्य, तत् श्रुत्वा वचनं तदा । मौनमालम्बितं भद्रे ! पापपूरितचेतसा ॥१०९॥
अत्रान्तरे द्वितीयस्य, मुनेर्मूलं मया सह । सोऽकलङ्कस्तदा प्राप्तो, विहितं तस्य वन्दनम् ॥११०॥
पृष्टश्चावसरे साधुः, किं ते वैराग्यकारणम् ? । मुनिराह यथा सौम्य ! समाकर्णय साम्प्रतम् ॥१११॥

[मद्यपानापानकेन विरागः]

आपानकं मया दृष्टं, मद्यपानपरायणम् । तदेव मम संजातं, भद्र ! वैराग्यकारणम् ।।११२।।
मदाघूर्णितसर्वाङ्गस्तत्राहं मत्तपालकः । आसं ततः कृपोपेतैर्ब्राह्मणैः प्रतिबोधितः ।।११३।।
अकलङ्केनोक्तं-यादृगापानकं तद्भो ! भवांस्तत्र यथा स्थितः । ये च ते ब्राह्मणाः सर्वमेतदाख्यातुमर्हसि । ११४।।
मुनिनोक्तं—अनेकवृत्तवृत्तान्तमनन्तजनसङ्कुलम् । यथास्थितं तदापानं, को हि वर्णयितुं क्षमः ? ।।११५।।
तथापि लेशतः किंचित्तत्स्वरूपं नरोत्तम ! । पुरस्ते वर्णयिष्यामि, तत्सम्यगवधारय ।।११६।। तद्यथा—
बहुभेदवरासवतुष्टजनं, वरभाजनराजिविचित्रसुरम् । शीतिनीरजरञ्जितसच्चषकं, जनमोदनकारणमत्सरकं ।।११७।।
मदिरामदघूर्णितसर्वजनं बहुलासविलासविकासकरम् । लसदुद्भटबोलविगानपरं, कृततालमहारवरासशतम् ।।११८।।

अन्यच्च—प्रौढमनोरमकान्तजनाढ्यं, गाढमदोद्धुरयोषिदुपेतम् ।
आदिनिवेशविहीनमनन्तं, लोकनभोऽभिधभूमिनिविष्टम् ।।११९।।
वादितमर्दलकोटिमकांस्यं, वैणिकनादविवर्धिततोषम् ।
वंशविरावसमुद्रुतवोढं(द्रं), वोढ(द्र)विघोषितगोत्रसहस्रम् ।।१२०।।
एवं च—नर्तनगानविलासनपानैः, खादनदानविभूषणमानैः ।
संततभावरसैः समुपेतं, लोकचमत्कृतिकारणमेतत् ।।१२१।।

तदेवं सर्वसामग्रीयुक्तं दर्शितविभ्रमम् । आपानकं मया भद्र ! तच्च नित्यं निषेवितम् ।।१२२।।
लोके नास्ति तदाश्चर्यं, नापि तत्संविधानकम् । यत्तत्रापानके सौम्य ! न मया प्रविलोकितम् ।।१२३।।

[आपानके लोकदुर्दशा]

अनन्तास्तत्र विद्यन्ते, ये लोका मदघूर्णिताः । न चेष्टन्ते न भाषन्ते, चिन्तयन्ति न किंचन ।।१२४।।
न च संव्यवहारं ते, किञ्चित् कुर्वन्ति लौकिकम् । मृतमूर्च्छितरूपेण, सदा तिष्ठन्ति केवलम् ।।१२५।।
अनन्ताश्चापरे लोकास्तद्रूपाकारधारकाः । किं तु ते लोककार्याणि, विदधत्यन्तराऽन्तरा ।।१२६।।
तथाऽन्ये तादृशा एव, मदिरामदघूर्णिताः । असंख्यास्तत्र विद्यन्ते, नरा भोः पार्थिवादयः ।।१२७।।
अन्ये पुनरसंख्याता, निर्भरं मद्यपायिनः । न जिघ्रन्ति न पश्यन्ति, नापि शृण्वन्ति किंचन । १२८।।
लुठन्तः केवलं भूमावाराटीमुञ्चमानकाः । लिहन्ति जिह्वया किंचिन्मदेन हतमानसाः ।।१२९।।
तथाऽपरे पुनस्तत्र, लोका जिघ्रन्ति किंचन । न शृण्वन्ति न पश्यन्ति, तेऽप्यसंख्याः प्रकीर्तिताः ।।१३०।।
अन्ये तु लोचनोन्मेषात्पश्यन्तोऽपि पुरःस्थितम् । नाकर्णयन्त्यसंख्याता, मदाघूर्णितचेतनाः ।।१३१।।
संख्यातीताः पुनर्भद्र ! लोकास्तत्रापरे मया । मदिरामददोषेण, लक्षिताः शून्यमानसाः ।।१३२।।
अन्ये पुनरसंख्याता, दृष्टाः प्रस्पष्टचेतनाः । केवलं तेषु दुर्मद्यं, सदाकालमवस्थितम् । १३३।।
ततश्चैते—छिद्यन्ते भद्र ! भिद्यन्ते, पाट्यन्ते रुष्टवैरिकैः । परस्परमदाध्माताः, कुर्वन्ते तीव्रवेदनाः ।।१३४।।
असंख्याः पुनरन्येऽपि, लोकास्तत्र विलोकिताः । आपानके मया सौम्य ! मदिरोद्भ्रान्तचेतसः । १३५।।
नास्ति तेषामकर्तव्यं, बिभ्रतां पशुरूपताम् । आराटीस्तेऽपि मुञ्चन्ति, गच्छन्ति जननीमपि ।।१३६।।
धर्माधर्मं न जानन्ति, सर्वकार्याणि कुर्वते । अव्यक्तघोषास्तिष्ठन्ति, लोलमाना महीतले ।।१३७।।
केचिदुत्प्लुत्य गच्छन्ति, मदिरान्धा विहायसा । केचिज्जले निमज्जन्ति, नितरां मदनिर्भराः ।।१३८।।

अन्यच्च-तेऽपि कुर्वन्ति दुर्मद्यं, युध्यन्ते च परस्परम्। सहन्ते तीव्रदुःखानि, **मद्यं सर्वापदां पदम्** ॥१३९॥
तथाऽन्ये तत्र विद्यन्ते, संख्यातीता मनुष्यकाः। ते पुनर्द्विविधा ज्ञेया, गाढमत्तास्तथेतरे ॥१४०॥
अत्र ये गाढमत्तास्ते, लोलमाना भुवस्तले। वान्तं पित्तं शकृन्मूत्रं, भक्षयन्ति वराककाः ॥१४१॥
इतरे भद्र ! संख्येयास्ते पुनर्मदिरातुराः। युध्यन्ते बहु वल्गन्ते, नृत्यन्त्युच्चैर्हसन्ति च ॥१४२॥
गायन्ति बहु भाषन्ते, पर्यटन्ति निरर्थकम्। लुठन्ति भूयो धावन्ति, विलासोल्लासतत्पराः ॥१४३॥
मलाविलानि जाम्बालश्लेष्मपूर्णानि योषिताम्। चुम्बन्ति वक्त्रनेत्राणि, आचरन्त्यसमञ्जसम् ॥१४४॥
अनेकबिब्बोकपरा, मातापित्रादिमारणम्। अनार्यकार्यचौर्यादि, सर्वं ते कुर्वते नराः ॥१४५॥
गृह्यन्ते राजपुरुषैः, सहन्ते तीव्रवेदनाः। मद्यान्नैव विरज्यन्ते, मार्यमाणा अपि स्फुटम् ॥१४६॥ पञ्चभिः कुलकम्।
अन्ये पुनरसंख्याताश्चतुर्वृन्दव्यवस्थिताः लोकाः सन्ति मदाध्माताः, सदा कलकलप्रियाः ॥१४७॥
वेणुवीणाकलं गीतं, नाटकप्रेक्षणानि च। विलासास्तूर्यनिर्घोषा, नोपशाम्यन्ति तत्पुरः ॥१४८॥
तेऽपि नृत्यन्ति वल्गन्ते, हसन्त्युच्चैरुदन्ति च। सार्धं तेऽप्यात्मयोषाभिः, कुर्वन्त्यात्मविडम्बनम् ॥१४९॥
किं च-मदिरामददोषेण, शोकेर्ष्यागर्वविह्वलाः। चतुष्टयेऽपि ते लोकाः, सदुःखाः सुखमानिनः ॥१५०॥
संख्याताः पुनरन्येऽत्र, सन्त्यापानकवर्तिनः। ये नो पिबन्ति तन्मद्यं, मध्यस्थाः परमासते ॥१५१॥
ततस्ते तेन लोकेन, सततं मद्यपायिना। अपिबन्तोऽभिधीयन्ते, ब्राह्मणा इत्यसूयया ॥१५२॥
तथा-तस्मादापानकादन्ये, बहिर्भूता महाधियः। अनन्ता भद्र ! विद्यन्ते, लोकास्ते मदवर्जिताः ॥१५३॥
आपानकं हि पश्यन्तस्तादृशं ते विसंस्थुलम्। तस्मान्मुक्ताः प्रमोदन्ते, निर्बाधाः सततोत्सवाः ॥१५४॥
इतश्च-आद्येषु भद्र ! लोकेषु, स्थित्वाऽहं मदघूर्णितः। लुठन्नितस्ततः प्राप्तो, द्वितीयेषु कथंचन ॥१५५॥
ततस्तेषु पुनः स्थित्वा, तथैव मदघूर्णितः। गतस्तृतीयलोकेषु, लुठन्नुद्दामलीलया ॥१५६॥
स्थित्वा तेष्वपि भूयांसं, कालं मद्येन विह्वलः। गतश्चतुर्थलोकेषु, ततोऽहं मदिरातुरः ॥१५७॥
एवं च ये मया पूर्वं, कथितास्ते त्रयोदश। लोकभेदाः समासेन, स्वरूपेण च वर्णिताः ॥१५८॥
तेषामाद्यश्च यो भेदो, यौ च पर्यन्तवर्तिनौ। एतत्त्रयं विमुच्याहं, शेषभेदेषु हिण्डितः ॥१५९॥
दशापि ते मया भेदा, भद्रापानकवर्तिनः। अनन्तवाराः पापेन, भूयोभूयो निषेविताः ॥१६०॥ त्रिभिर्विशेषकम्।
ततश्च वान्तपित्ताशुचिश्लेष्ममूत्रजाम्बालपिच्छिले। अतिबीभत्सदुर्गन्धे, तत्रापानकभूतले ॥१६१॥
क्वचिल्लुठन् क्वचिद्रिङ्खन्, क्वचित्सर्पन्नितस्ततः। उत्तिष्ठन्निपतन्नुच्चैरारटन्मद्यवेगतः ॥१६२॥
हसन्नृत्यन् रुदन् धावन्, युध्यमानो जनैः सह। आस्फोट्यमानो बलिभिः, कुट्यमानः क्षणे क्षणे ॥१६३॥
प्रहारजर्जरो देहे, दुःखलक्षैः प्रपीडितः। एवं विचरितस्तत्र, भद्राहं बहुशस्तदा ॥१६४॥ चतुर्भिः कलापकं।

[*आपानकवराके ब्राह्मणकरुणा*]

अन्यदा दृष्टोऽहं तैरापानकमध्यस्थैर्ब्राह्मणैः संजाता तेषां भगवतां ममोपरि करुणा, चिन्तितमेतैः यथा-अयं मद्यदोषेण भूरि दुःखमनुभवति वराकः, ततः कथंचित्कारयामोऽमुं मद्यविरतिं येन यथा वयं सुखिनः संपन्नास्तथाऽयमपि सुखितो भवति। ततो विहितस्तैर्मम प्रतिबोधनार्थं यत्नः, अहं तु मदिरामदाघूर्णितः पूत्कुर्वतामपि तेषां न किंचिच्चेतयामि अलब्धचेतनश्च पुनः पुनः पर्यटामि तेषु सर्वेषु लोकभेदेषु, बहुशो वदतां पुनः कचित्तेषां ब्राह्मणानां दत्तो मया हुंकारः ततस्तावत्तैर्यतितं यावद-

पगतो मे मदिराघस्मरकः समासादिता चेतना दत्तं प्रतिवचनं, ततः कथितास्तेनैव मद्यदोषाः प्रत्यायितोऽहं कारितो मद्यविरतिं, संजातोऽहमपि तादृशो ब्राह्मणः, ते तु ब्राह्मणाः सर्वेऽपि प्रव्रजिताः ततोऽहमपि तेषां मध्ये प्रव्रजितः, केवलं न जीर्यति ममाद्यापि निःशेषं मद्याजीर्णं, तदपि प्रव्रज्यया जरयिष्यामि । तदिदं भद्र ! मम वैराग्यकारणमिति ।

[आपानकरूपसंसारः]

तदेवं भद्रेऽगृहीतसङ्केते ! यावदिदमावेदयति स तावत्सुस्थावद्दस्य किमनेन निवेदितमिति प्रवृत्तो विमर्शः, ततो विचारयतः संजातं जातिस्मरणं स्मृतं पूर्वभवाभ्यस्तं श्रुतं ततो लक्षितो मुनिवचनस्य भावार्थः प्रमुदितो मनसा वन्दितो मुनिवरः प्रवृत्तस्तुतौ यमुनैर्गतिमनुत्तरम् । पृष्टश्च पुनः पृष्टो मया यथा किमनेनाख्यानमिति, ततोऽभिहितमकलङ्केन–भद्र ! घनवाहन अयमपि संसार एवापानकरूपतयाऽनेन मुनिनाऽऽत्मनो वैराग्यकारणमित्याख्यातः । तथाहि–सत्यमापानकरूप एवायं हन्त संसारो वर्तते यतोऽत्र वृत्ता वर्तन्ते वर्त्स्यन्ति चानन्ता वृत्तान्ताः, मद्यपालका (मद्यपा)यन्तेऽत्रानन्ता जीवाः, विविधमद्यायतेऽष्टविधं कर्मप्रकृतिजालं विशेषतः पुनरासवायन्ते कषायाः सरकायन्ते नोकषायाः चषकायन्ते घातिकर्माणि विचित्रभाजनायन्ते आयूंषि तदाधारतया चषकायन्ते जन्तुशरीराणि कर्मसङ्गोपभोगहेतुतया तानि नीरजायन्ते तेषु हृषीकाणि तद्विभूषकतया लौल्यहेतुतया च घूर्णन्ते कर्ममदमत्ताः सर्वेऽमी जन्तवः, नृत्यन्ति रासविलासलासिकामहासविब्बोकादिकलकलं मर्दलायन्तेऽत्र कलहाः कंसालकायन्ते मत्सरायन्तः खलजनाः वीणायन्ते दुःखितजनपरिदेवनानि वंशरवायन्ते सशोकलोकक्रन्दनकूजितानि मुकुन्दशब्दायन्ते आपद्गतजनतिमितिमायितानि कंसिकायन्ते प्रियविप्रयोगार्तो जनदैन्यकण्ठनादानि चोद्वन्दायन्ते गाढमत्ततया मूर्खलोकाः कमनीयनरायन्ते विबुधाः प्रौढललनायन्ते तदप्सरसः, अनादिनिधनं चेदं संसारापानकं सदा निविष्टं लोकाकाशभूमौ युक्तं नर्तनगानविलसनखादनपानदानमानविभूषणादिभिः समस्तभावैर्लौल्याभिवृद्धिकारणं जडानां विरागताहेतुर्विवेकिनाम् । ये चानेन मुनिना तत्रापानके त्रयोदशभेदा लोकाः कथितास्तेऽत्र जीवा द्रष्टव्याः । तथाहि–प्रथमं प्रतिपादितस्तावदसांव्यवहारिको जीवराशिः तदनन्तरं निवेदिताः सांव्यवहारिका वनस्पतयः ततः कथिताः पृथिव्यप्तेजोवायवः ततो दर्शिता द्वीन्द्रियाः ततो निर्दिष्टास्त्रीन्द्रियाः ततो वर्णिताश्चतुरिन्द्रियाः ततः प्रख्यापिता असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः ततः प्रकाशिता नारकाः ततः संशिताः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः तदनन्तरमुद्दिष्टाः सम्मूर्च्छनजगर्भजभेदेन द्विविधा मनुष्याः ततः प्रकाशिताश्चतुर्निकायवर्तिनो देवाः ततः प्रकाशिता ब्राह्मणा इति वाचोयुक्त्या संयतमनुष्याः ततः संशब्दिताः संसारापानकाद्बहिर्भूता भगवन्तो मुक्तात्मानः उद्योतितं सर्वेषां सम्बन्धि सङ्ख्याप्रमाणं निगदित लेशोद्देशतो लक्षणं सूचितानि तेषां सम्बन्धीनि विविधसंविधानकानि, अभिहितश्च स तदा तन्मध्ये कर्ममद्यपानेन मुनिनाऽऽत्मा, आख्यातमसांव्यवहारिकजीवराशिमध्ये प्रथममात्मनोऽवस्थानं प्रकटितमनन्तकालात्कथंचित्ततो निर्गमनं तदनन्तरमाविर्भावितः सांव्यवहारिकवनस्पतिष्वात्मनो निवासः ततो व्याकृतं दशस्वपि स्थानेषु भूयो भूयः पर्यटनं निषिद्धमसांव्यवहारिकसंयतमनुष्यमुक्तात्मसु गमनं विस्फारितास्तेषु दशसु स्थानेष्वात्मनः संभविन्यस्तीव्रदुःखविडम्बनाः–

तदेवं भद्र ! संसारो, महापानकसन्निभः । आत्मनो दुःखहेतुश्च, मुनिना तेन दीपितः ॥१६५॥

[मद्यपस्य प्रतिबोध]

यत्तु तैर्ब्राह्मणैः पश्चाद्दृष्टोऽहं प्रतिबोधितः । यत्नेनेत्यादि तत्सर्वं, युज्यमानमुदाहृतम् ॥१६६॥
तथाहि—अनादिभवभावस्य, तत्स्वभावत्वयोगतः । उत्कृष्टाद्यास्वतीतासु, तथा कर्मस्थितिष्वलम् ॥१६७॥
भूयो भूयः सुसाधूनां, सम्पर्केऽपि नरादिषु । प्राप्ते द्रव्यश्रुते भूरिवाराघर्षणघूर्णनात् ॥१६८॥
यन्नावाप्नोति सम्यक्त्वं, न ज्ञानं नापि सत्क्रियाम् । जीवः सुसाधुमध्येऽपि, कर्ममद्येन घूर्णितः ॥१६९॥
सोऽयं घस्मरको भद्र ! योगे भूरिभवावहः । येन विभ्रान्तचित्तोऽयं, बम्भ्रमीति पुनः पुनः ॥१७०॥
समस्तेष्वनुकूलेषु, ततः कालादिहेतुषु । राधावेधोपमं भद्र ! जीवोऽयमतिदुर्लभम् ॥१७१॥
सद्दर्शनमवाप्नोति, कर्मग्रन्थिं सुदारुणम् । निर्भिद्य शुभभावेन, कदाचित्कश्चिदेव हि ॥१७२॥ युग्मम् ।
सुसाधुब्राह्मणानां भो, जीवं पूत्कुर्वतामलम् । धर्मदेशनया बोधः, सोऽयं हुंकार उच्यते ॥१७३॥
दर्शनं मुक्तिबीजं च, सम्यक्त्वं तत्त्ववेदनम् । दुःखान्तकृत् सुखारंभः, पर्यायास्तस्य कीर्तिताः ॥१७४॥
सति चास्मिन्नसौ धन्यः, सम्यग्दर्शनसंयुतः । तत्त्वश्रद्धानपूतात्मा, रमते न भवोदधौ ॥१७५॥
स पश्यत्यस्य यद्रूपं, भावतो बुद्धिचक्षुषा । सम्यक्शास्त्रानुसारेण, रूपं नष्टाग्निरोगवत् ॥१७६॥
तद्दृष्ट्वा चिन्तयत्येवं, प्रशान्तेनान्तरात्मना । भावगर्भं यथाभावं, परं संवेगमाश्रितः ॥१७७॥
यदुत—"जन्ममृत्युजराव्याधिरोगशोकाद्युपद्रुतः । क्लेशाय केवलं पुंसामहो भीमो भवोदधिः ॥१७८॥
सुखाय तु परं मोक्षो, जन्मादिक्लेशवर्जितः । भयशक्त्या विनिर्मुक्तो, व्याबाधावर्जितः सदा ॥१७९॥
हेतुर्भवस्य हिंसादिर्दुःखाद्यन्वयदर्शनात् । मुक्तेः पुनरहिंसादिर्व्याबाधाविनिवृत्तितः ॥१८०॥
बुद्ध्वैव भवनैर्गुण्य, मुक्तेश्च गुणरूपताम् । तदर्थं चेष्टते नित्यं, विशुद्धात्मा यथागमम् ॥१८१।
दुष्करं क्षुद्रसत्त्वानामनुष्ठानं करोत्यसौ । मुक्तौ दृढानुरागत्वात्कामीव वनितान्तरे ॥१८२॥
उपादेयविशेषस्य, न च सम्यक्प्रसाधनम् । दुनोति चेतोऽनुष्ठानं, तद्भावप्रतिबन्धतः ॥१८३॥
ततश्च दुष्करं तन्न, सम्यगालोच्यते यदा । अतोऽन्यद्दुष्करं न्यायाद्धेयवस्तुप्रसाधनम् ॥१८४।
व्याधिग्रस्तो यथाऽऽरोग्यलेशमासादयन् बुधः। कष्टेऽप्युपक्रमे धीरः, सम्यक्प्रीत्या प्रवर्तते ॥१८५॥
संसारव्याधिना ग्रस्तस्तद्विज्ञेयो नरोत्तमः । शमारोग्यलवं प्राप्य, भावतस्तदुपक्रमे ॥१८६॥
प्रवर्तमान एवं च, यथाशक्ति स्थिराशयः । शुद्धं चारित्रमासाद्य, केवलं लभते क्रमात् ॥१८७॥
ततः स सर्वविद्भूत्वा, भवोपग्राहिकर्मणः । ज्ञानयोगात्क्षयं कृत्वा, मोक्षमाप्नोति शाश्वतम् ॥१८८॥

[साधुसेवादिना कल्याणावाप्ति]

सत्साधुगुरुसंपाद्या, सेयं कल्याणमालिका । प्रायेण चास्य जीवस्य, यतः प्रोक्तं मनीषिभिः[1] ॥१८९॥
किं तत् ?-साधुसेवा सदा भक्त्या, मैत्री सत्त्वेषु भावतः । आत्मीयग्रहमोक्षश्च, धर्महेतुप्रसाधनम् ॥१९०॥
उपदेशः शुभो नित्यं, दर्शनं धर्मचारिणाम् । स्थाने विनय इत्येतत्, साधुसेवाफलं महत् ॥१९१॥
तथा—मैत्रीं भावयतो नित्यं, शुभो भावः प्रजायते । ततो भावोदकाज्जन्तोर्द्वेषाग्निरुपशाम्यति ॥१९२॥
तथा—अशेषदोषजननी, निःशेषगुणघातिनी । आत्मीयग्रहमोक्षेण, तृष्णा हि विनिवर्तते ॥१९३॥
एवं गुणगणोपेतो, विशुद्धात्मा स्थिराशयः । तत्त्वविद्भिः समाख्यातः, सम्यग्धर्मस्य साधकः ॥१९४॥

(१)-हरिभद्रसूरिभि । 'साधुसेवे'त्यादि पञ्च श्लोका 'शास्त्रवार्त्तासमुच्चय'ग्रन्थादत्रोपन्यस्त .

ततोऽनेनापि मुनिना, ब्राह्मणाकारधारकैः । अहं बोधित इत्युक्तं, साधुभिः करुणापरैः ॥१९५॥
ततोऽमुनाऽनुसारेण, यदनेन कथानके । प्रागुक्तं तत्मयं योज्यं, स्पष्टत्वान्नाभिधीयते ॥१९६॥
अपिच–कर्ममद्यरताः सर्वे, भद्राविरतजन्तवः । भवापानकमध्येऽपि, साधवस्तत्पराङ्मुखाः ॥१९७॥
तैरेष यत्नतः साधुः, कर्ममद्यान्निवारितः । ततः प्रव्रजितो जात, इदं वैराग्यकारणम् ॥१९८॥
प्रव्रज्यया च तत्कर्म, मद्याजीर्णमयं मुनिः । जरयित्वा भवापानाद्बहिर्भूतो भविष्यति ॥१९९॥
किं च–न युक्तमीदृशे स्थातुमावयोरपि पिच्छिले । संसारापानके भद्र ! दुःखदे घनवाहन ! ॥२००॥
ततोऽगृहीतसङ्केते ! भद्रे तत्तादृशं वचः । आकलङ्कं न मेऽद्यापि, बोधकारणतां गतम् ॥२०१॥
स्थितोऽहं मौनमालम्ब्य, शून्यारण्ये मुनिर्यथा । अथाकलङ्कः संप्राप्तो, मुनेर्मूलं मया सह ॥२०२॥
तदंह्रियुगलं नत्वा, भक्तिपूरितचेतसा । ततः पृष्टोऽकलङ्केन, सोऽपि वैराग्यकारणम् ॥२०३॥

[द्वितीयमुनिवैराग्यकारणमरघट्ट]

तेनोक्तमरघट्टो मे, जातो वैराग्यकारणम् । तदाकर्ण्याकलङ्केन, चेतसा परिचिन्तितम् ॥२०४॥
अये !–यादृशं मुनिना पूर्वं, प्रदीपनकमीरितम् । आपानकं च तन्नूनमरघट्टोऽपि तादृशः ॥२०५॥
अथोक्तमकलङ्केन, तदानीं स्मितबन्धुरम् । निवेदय महाभाग ! तं मम प्रकटाक्षरैः ॥२०६॥
मुनिनोक्तं मया दृष्टः, सोऽरघट्टो नरोत्तम ! । नित्यं युक्तो वहन्नुच्चैः संपूर्णो भवनामकः ॥२०७॥
रागद्वेषमनोभावमिथ्यादर्शननामकाः । चत्वारः कर्षकास्तत्र, ते च सारथयो मताः ॥२०८॥
महामोहः पुनस्तत्र, सर्वसीरपतिः स्मृतः । सोऽरघट्टो वहत्यस्य, प्रतापेन महात्मनः ॥२०९॥
विनापि वारिपानीयं, वेगवन्तो बलोद्धताः । कषायसंज्ञकास्तत्र, बलीवर्दास्तु षोडश ॥२१०॥
हास्यशोकभयाद्यास्तु, निपुणाः कर्मकारकाः । जुगुप्सारत्यरत्याद्यास्तेषां च परिचारिकाः ॥२११॥
दुष्टयोगप्रमादाख्यं, तत्र तुम्बद्वयं, महत् । विलासोल्लासविब्बोकरूपास्तत्रारकाः स्मृताः ॥२१२॥
पापाविरतिपानीयपूर्णादृष्टतलः सदा । तत्रासंयतजीवाख्य', कूपो दृष्टो भयङ्करः ॥२१३॥
पापाविरतितोयौघसग्रपूरितरेचितम् । सुदीर्घं जीवलोकाख्यं, घटीयन्त्रमुदाहृतम् ॥२१४॥
मरणाख्यैः पुनर्नित्यं, वहन्नेष विभाव्यते । घट्टिकाघट्टखाट्कारैर्दूरादपि विवेकिभिः ॥२१५॥
अज्ञानमलिनात्माख्यो, ज्ञेयस्तत्र प्रतीच्छकः । दृढं मिथ्याभिमानाख्य, तस्य दार्पट्टिकं मतम् ॥२१६॥
संक्लिष्टचित्तता नाम, तत्र निर्वहणी मता । भोगलोलुपता नाम, कुल्या तत्रातिदीर्घिका ॥२१७॥
जन्मसन्तानसंज्ञं तु, तत्र बीजमुदाहृतम् । अपरापरजन्माख्यास्तत्र केदारका मताः ॥२१८॥
कर्मप्रकृतिजालाख्य, तत्र बीजमुदाहृतम् । तज्जीवपरिणामाख्यो, वापकस्तस्य कीर्तितः ॥२१९॥
ततश्च–उप्तं तेनारघट्टेन, सिक्तं निष्पत्तिमागतम् । सुखदुःखादिसस्यौघजनकं तदुदाहृतम् ॥२२०॥
सेचनार्थं पुनस्तस्य सदोत्साहपरायणः । पानान्तिकोऽस्त्यसद्बोधो, महामोहनिरूपित ॥२२१॥
तदेवं सर्वसामग्रीसंयुक्ते सततभ्रमे । भवारघट्टे तत्राहं, प्रसुप्तः सुचिरं स्थितः ॥२२२॥
इतश्च–योऽयं मुनिवरो भद्र ! दृश्यते ध्यानतत्परः । दूरवर्ती महाभागो, गुरुरेष ममाधुना ॥२२३॥
अनेन तत्र सुप्तोऽहं, गाढसंमूढचेतनः । कृपापरीतचित्तेन, यत्नतः प्रतिबोधितः ॥२२४॥
ततः संदर्शितोऽनेन, समस्तोऽपि यथास्थितः । भवारघट्टो मे भद्र ! ततश्चेद निवेदितम् ॥२२५॥

यदुत-स्वामी त्वमस्य सर्वस्य, फलभोक्ता न संशयः। जन्तो! भवारघट्टस्य, किं न जानासि? मूढक!॥२२६॥

[भवारघट्टस्य दुःखहेतुता]

केवलं-अनन्तदुःखसन्तानहेतुस्ते नात्र संशयः। जन्तो! भवारघट्टोऽयं, ततश्चेमं परित्यज ॥२२७॥
मयोक्तं-यथा त्यक्तो भवत्येष, साधो! तन्मे निवेदय। मुनिनोक्तं महासत्त्व! प्रव्रज्या गृह्यतामियम् ॥२२८॥
एनां भागवतीं दीक्षां, ये गृह्णन्ति नरोत्तमाः। भावतस्तैः प्रहीणोऽयमरघट्टो भवत्यलम् ॥२२९॥
ततस्तथेति भावेन, प्रतिपद्य मुनेर्वचः। कृतं मयेदं मे भद्र! जातं वैराग्यकारणम् ॥२३०॥
ततोऽकलङ्कस्तत् श्रुत्वा, तं मुनिं प्रत्यभाषत। भदन्त! चारु संपन्नं, तत्र वैराग्यकारणम् ॥२३१॥
कस्य वा न भवत्येष, सकर्णस्य विरक्तये। भवारघट्टो जीवस्य, दृष्टिगोचरतां गतः ॥२३२॥
ततोऽभिनन्द्य तं साधुं, वन्दित्वा भक्तिनिर्भरः। सोऽकलङ्को मया सार्धं, तुर्यसाध्वन्तिके गत ॥२३३॥
अथ वन्दनकं कृत्वा, मम बोधविधित्सया। पृष्टस्तेन महाभागः, सोऽपि वैराग्यकारणम् ॥२३४॥

[कुटुम्बकरूचतुर्थमुनिवैराग्यहेतु]

मुनिराह वयं चट्टा, नानारूपाः क्वचिन्मठे। तिष्ठामस्तत्र चायातमस्मद्भक्तं कुटुम्बकम् ॥२३५॥
अनेकमानुपैर्युक्तं, पञ्चमानुपतन्त्रितम्। अस्माभिः प्रतिपन्नं तत्किलेदं हितवत्सलम् ॥२३६॥ युग्मम्।
शत्रुरूपं च तद्भद्र! वर्तते परमार्थतः। ततस्तेन कृतं चित्रं, सादरं छात्रभोजनम् ॥२३७॥
अथाविज्ञातसद्भावाश्चित्रभोजनलोलुपाः। ते छात्रा भक्षणाज्जाता, नितरां पूरितोदराः ॥२३८॥
तच्च तैर्मानुषैस्तादृग्मान्त्रयोगैर्विनिर्मितम्। भोजनं येन तज्जातं, सन्निपातस्य कारणम् ॥२३९॥
तथोन्मादकरं भद्र! जीर्यमाणं भवत्यलम्। केषांचित्तत्र चट्टानां, तदन्नमतिदारुणम् ॥२४०॥
ततो निरुद्धगलका जिह्वामंजातकण्टकाः। कण्ठे घरघरायन्तो, नष्टसंज्ञाः सुविह्वलाः ॥२४१॥
क्वचित्तापातिदग्धाङ्गाः, क्वचिच्छीतार्तिबाधिताः। क्वचिदुद्भ्रान्तचित्तत्वाल्लोलमाना भुवस्तले ॥२४२॥
सन्निपातवशादन्ये, वृथैवार्दवितर्दकम्। क्वचिज्झगझगायन्ते, ते छात्राः शोच्यतां गताः ॥२४३॥
ये तून्मत्ताः समापन्नाश्चट्टा भोजनभक्षणात्। ते देवमुनिमङ्घानां, निन्दां कुर्वन्ति पापिनः ॥२४४॥
लपन्ति विपरीतानि, कुर्वते दुष्टचेष्टितम्। सदोपप्लुतचित्तानां, किं स्यात्तेषां हि सुन्दरम्? ॥२४५॥
अन्यत्सर्वेऽपि ते छात्राः, पशुवन्नष्टधर्मकाः। विषधारितवन्मूढा, जाता भोजनदोषतः ॥२४६॥
ततश्च-योऽयं स्वाध्यायपूतात्मा, दृश्यते मुनिपुङ्गवः। महावैद्यकशास्त्रस्य, विद्यतेऽतिशयो महान् ॥२४७॥

[सन्निपातविलये प्रतिबोधाप्ति]

ततोऽहं भद्र! चट्टानां, तेषां मध्ये कथंचन। सन्निपातातिमूढात्मा, दृष्टोऽनेन महात्मना ॥२४८॥
ततः करुणयाऽऽनेन, सन्निपातो निजौषधैः। ममापनीतो जातोऽहं, मनाग् विस्पष्टचेतनः ॥२४९॥
ततो मे छात्रसम्पर्गादुन्मादोऽप्यभवत्तदा। सोऽप्यनेन महायत्नादपनीतो महात्मना ॥२५०॥
ततश्चायं महाभागो, दृष्ट्वा मां स्वस्थमानसम्। उन्मत्त सन्निपातार्तं, चट्टवृन्दमदर्शयत् ॥२५१॥
दृष्टाश्च ते मया छात्राः, कूजन्तो घूर्णमानकाः। प्रलापिनः सुदुःखार्ता, गाढं जातं च मे भयम् ॥२५२॥
मुनिनोक्तं-भद्र! भोजनदोषेण, त्वमप्येवंविधोऽभवः। विद्यते किंचिदद्यापि, तवाजीर्णं शरीरके ॥२५३॥
ततो मदुपदिष्टां चेत्त्वं क्रियां न करिष्यसि। भूयोऽप्येवंविधो भद्र! दुःखग्रस्तो भविष्यसि ॥२५४॥

ततः प्रत्ययमम्पत्तेर्भयाच्च मुनिनोदिता । गृहीतेयं मया दीक्षा, भोजनाजीर्णशोधनी ॥२५५॥
अधुना तु–यां यामुपदिशत्येष, क्रियां मे मुनिपुङ्गवः । तां तामहं करोम्युच्चै रिदं वैराग्यकारणम् । २५६॥
ततोऽकलङ्कस्तत् श्रुत्वा, प्रीतिविस्फारितेक्षणः । वन्दित्वा तं मुनिं भूयः प्रवृत्तोऽन्यं मुनिं प्रति ॥२५७॥
मयोक्तं–नविज्ञातं मयाऽद्यापि, वयस्य ! मुनिभाषितम् । सम्यगेतदतो व्यक्तं, मह्यमाख्यातुमर्हसि ॥२५८॥
अकलङ्केनोक्तं अनेनापि मुनीन्द्रेण, संसारो घनवाहन ! । दृष्टश्चट्टमठाकारः, स चेत्थं मे निवेदितः ॥२५९॥
अयःशलाकासङ्काशा, नानारूपाश्च जन्तवः । परस्परमसंबद्धाश्चट्टप्रायाः प्रकीर्तिताः ॥२६०॥
तथाहि-नामीषां विद्यते माता, न पिता न च बान्धवाः । न धनं परमार्थेन, छिन्नच्छोरा हि जन्तवः ॥२६१॥
तेषां च जीवचट्टानां, संसारमठवर्तिनां आगच्छत्येव तद्व्यक्तं, बन्धहेतुकुटुम्बकम् ॥२६२॥
विचित्रास्तत्र विद्यन्ते, भूयांसो बन्धहेतवः । तेषां संग्रहकाः पञ्च, तत्तु मानुषपञ्चकम् ॥२६३॥
यतः-प्रमादो योगमिथ्यात्वे, कषायाविरती तथा । एत एव हि जन्तूनां, पञ्च बन्धस्य हेतवः ॥२६४॥
अनादिमोहसामर्थ्याज्जातीदं हितवत्सलम् । सदैव जीवचट्टानां, बन्धहेतुकुटुम्बकम् ॥२६५॥
अरातिरूपमेतच्च, वर्त्तते भद्र ! देहिनाम् । तथाप्यस्य न जानन्ति, स्वरूपं मन्दबुद्धयः ॥२६६॥
निर्वर्तयति तत्कर्म, छात्रभोजनसन्निभम् । विचित्रं सरसं जीवचट्टलौल्यविधायकम् ॥२६७॥
तन्महामोहमन्त्राढ्यं, ज्ञानावरणयौगिकम् । बन्धहेतुकुटुम्बेन, ढौकितं कर्मभोजनम् ॥२६८॥
जीवछात्राः समासाद्य, मोहादत्यन्तलोलुपाः । आत्मानं पूरयन्त्युच्चैस्ते न जानन्ति चायतिम् ॥२६९॥
ततश्च तद्विपाकेन, यदज्ञानं सुदारुणम् । अनभिग्रहमिथ्यात्वसन्निपातः स कीर्तितः ॥२७०॥

[सन्निपातेन जीवानां दुर्दशा]

ततोऽमी जन्तवस्तेन मिथ्याज्ञानमयेन महातमोरूपेण भावसन्निपातेन सन्निपन्नाः सन्तः काष्ठवन्नष्टचेतना भवन्त्येकेन्द्रियावस्थायां अव्यक्तघोषतया घरघरायन्ते द्वीन्द्रियदशायां इतश्चेतश्च लोलन्ते त्रीन्द्रियत्वावसरे झणझणायन्ते च चतुरिन्द्रियरूपतया अर्द्धवितर्दकं चेष्टन्ते असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाकारेण आलजालं झगझघायन्ते गर्भजपञ्चेन्द्रियाकारधारितया निरुद्धगलका इव वर्तन्ते अपर्याप्तकावस्थासु आविर्भूतजिह्वाकण्टका इव विसंस्थुला दृश्यन्ते विविधदुःखविधुरतया बाध्यन्ते तीव्रतापेन नरकेषु पीड्यन्ते तेष्वेव शीतार्तिवेदनतया न चेतयन्ति किंचिद् भूतपशुभावमापन्ना मुहुर्मुहुर्मुह्यन्ति लब्धमनुष्यभावा अवष्टभ्यन्ते महामोहनिद्रया देवावस्थायां नष्टधर्मसंज्ञा जायन्ते सर्वावस्थासु ।

तदेवं भद्र ! जीवानां, कर्मभोजननिर्मितः । मिथ्याज्ञानतमोरूपः, सन्निपातः सुदारुणः ॥२७१॥

येषां पुनर्जन्तूनां नारकतिर्यङ्नरामरभवेषु विवर्तमानानामकल्याणभाजनतया संजातो मनसि सर्वज्ञशासनविपरीतोऽभिनिवेशः तद्वशेन यैर्गृहीतो रागद्वेषमोहकलुषितः परमात्मा प्रतिपन्न एकान्तनित्यः क्षणिको वा सर्वगतो वा पञ्चभूतात्मको वा श्यामाकतण्डुलादिरूपो वा आत्मा, अङ्गीकृताः सृष्टिवादादयः कृतः शेषतत्त्वानामपि विपर्यासः तेषां जन्तूनां तदभिगृहीतमिथ्यादर्शनकर्मभोजनसामर्थ्यजनितमुन्माद इत्युच्यते । यतस्तेनोपप्लुतचित्तास्ते प्रलपन्तीव सन्मार्गदूषणेन हसन्तीव तपोनिह्नवेन नृत्यन्तीव यथेष्टचेष्टाचारितोपदेशेन वल्गन्तीव नास्त्यात्मा नास्ति परलोको नास्ति पुण्यं नास्ति पापमित्यादि

भाषमाणाः रुदन्तीव सर्वज्ञमतज्ञैर्निराक्रियमाणा गायन्तीव निजतर्कदण्डोलकान घोषयन्तः, एवं च स्थिते इति नर्तनवल्गनगानपरा, हसनप्रविलापसरोदनकाः । ननु भद्र ! भवन्ति जिनेन्द्रमताद्विपरीतदृशो ग्रहरूपधराः ॥२७२॥

अन्यच्च-सर्वेऽमी जन्तवः कर्मविषवेगेन धारिताः । विनष्टधर्मसंज्ञाश्च, वर्तन्ते नात्र संशयः ॥२७३॥

यच्चोक्तं मुनिनाऽनेन, यथाऽयं मुनिपुङ्गवः । मद्गुरुर्वैद्यके शास्त्रे कृतगाढपरिश्रमः ॥२७४॥

कृपापरीतचित्तेन, सन्निपातात्सुदारुणात् । मोचितोऽहं ततोऽनेन, मुनिना निजभेषजैः ॥२७५॥

घटमानमिदं भद्र ! यतोऽमी मुनिपुङ्गवाः । सिद्धान्तवैद्यकाकारे भवन्त्येव कृतश्रमाः ॥२७६॥

ततः समस्तजन्तूनां, संसारोदरचारिणाम् । प्रत्येकं लक्षयन्त्येते, स्वरूपं मुनिसत्तमाः ॥२७७॥

ततश्च-कर्मभोजनजन्येन, सन्निपातेन पीडितम् । तं जीवलोकमालोक्य, भवन्ति करुणापराः ॥२७८॥

चिन्तयन्ति च ते धन्याः, कथमेते वराककाः । संसारक्लेशनिर्मुक्ताः, करिष्यन्तेऽत्र देहिनः ? ॥२७९॥

अत एव सुसाधूनां, निन्दाऽऽक्रोशनताडनम् । आचरन्तोऽपि न क्रोधकारणं भवजन्तवः ॥२८०॥

तथाहि-ये कर्मसन्निपातेन, वराका गाढपीडिताः । मिथ्यात्वोन्मादसंतप्ताः, स्वपापविषघूर्णिताः ॥२८१॥

सदा दुःखभराक्रान्ता, नष्टसद्धर्मचेतनाः । परायत्ताः प्रकुर्वन्ति, निन्दाक्रोशनताडनम् ॥२८२॥

तेषामुपरि कः कोपं, विदधीत विचक्षणः । क्षते हि क्षारनिक्षेपं, कुर्वन्ति न कृपापराः ॥२८३॥

किं च-न केवलं कृपास्थानं, कर्मवेष्टितजन्तवः । विवेकिनां भवोद्वेगकारणं च भवन्ति ते ॥२८४॥

तथाहि-एतानेवंविधान् दृष्ट्वा, जीवान् संसारचारिणः । उन्मत्तमत्तसङ्काशान् , भावतः सन्निपन्नकान ॥२८५॥

लब्धे मनुष्यभावेऽपि, जिनेन्द्रमतवेदकः । सकर्णकोऽत्र को नाम, रज्येत भवचारके ? ॥२८६॥

ततोऽयं गुरुणा भद्र ! करुणाहृतचेतसा । स्वकर्मसन्निपातार्तो, बोधितो मुनिपुङ्गवः ॥२८७॥

स एव हि महावैद्यो, येनायं छात्रसन्निभः । साधुः स्वस्थीकृतो भद्र ! वचनामृतभेषजैः ॥२८८॥

[महायन्त्रेणोन्मादविसर्जनम्]

यच्चोक्तं-ततो मे छात्रसंसर्गादुन्मादोऽप्यभवत्तदा । सोऽप्यनेन महायन्त्रादपनीतो महात्मना ॥२८९॥

तदेवं बोद्धव्यं, यदुत—

आभिग्रहिकमिथ्यात्वे, विधायाबुधबोधनम् । महाघस्मरकाकारे, नाशिते गुरुणाऽस्य भोः ! ॥२९०॥

ततस्तीर्थिकसम्पर्काज्जातमुन्मादसन्निभम् । आभिग्रहिकमिथ्यात्वं, गुरुणा तदपि क्षतम् ॥२९१॥

ततश्चट्टमठाकारः, सम्यग्भावस्थितस्य भोः । सर्वः संसारविस्तारो, गुरुणाऽस्य प्रकाशितः ॥२९२॥

दृष्टास्ततोऽमुना जीवाश्चट्टा इव पुरोदिताः । उन्मत्ताः सन्निपातार्ताः, कर्मभोजनदोषतः ॥२९३॥

गाढ दुःखभराक्रान्तान , कूजतो घूर्णमानकान् । प्रलापिनश्च तान् दृष्ट्वा, जातमस्य महाभयम् ॥२९४॥

ततोऽभिहितो निजगुरुरनेन मुनिना, यदुत-

चतुर्गतिकसंसारे, त्वयाऽमी दर्शिताः स्फुटम् । ममोद्वेगकरा नाथ ! दुःखिताः सर्वजन्तवः ॥२९५॥

गुरुणोक्तं-यादृशा दुःखसन्दोहग्रस्तास्त्राणविवर्जिताः । दृश्यन्तेऽमी तथा पूर्वमभूद्भद्र ! भवानपि ॥२९६॥

विद्यते च तवाद्यापि, कर्माजीर्णं शरीरके । विधेहि त्वमतस्तस्य, जरणार्थं मम क्रियाम् ॥२९७॥

अथ त्वं मामिकामेनां, सत्क्रियां न करिष्यसि । ततो भूयोऽपि संसारे, दुःखग्रस्तो भविष्यसि ॥२९८॥

ततः श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं, प्रव्रज्या पारमेश्वरी । गृहीताऽनेन मुनिना, सत्क्रिया च प्रसेविता ॥२९९॥
तत्कर्मभोजनाजीर्णं, जरयन्नेष तिष्ठति । मुनिनेदं ममाख्यातं, भद्र ! वैराग्यकारणम् ॥३००॥
किं च—न केवलमयं साधुरन्नाजीर्णेन बाधितः । वयं च बाधितास्तेन, ममारे घनवाहन ! ॥३०१॥
ततः संप्राप्य मानुष्यमावयोरपि युध्यते । दीक्षाविधानतः कर्तुं, कर्मान्नाजीर्णशोधनम् ॥३०२॥
अहं तु पापभारेण, भूरिणाऽऽच्छादितस्तदा । आकलङ्कं वचो मोहादन्नाजीर्णमीदृशम् ॥३०३॥
अथैवं भाषमाणोऽसौ, मया सार्धमुदारधीः । अकलङ्को गतः साधोः, पञ्चमस्याहिमसन्निधौ ॥३०४॥

[कथानकेन पञ्चमस्य वैराग्यम्]

ततः प्रणम्य त साधुं, श्रुत्वा तद्धर्मदेशनाम् । प्रस्तावे प्रश्नितः सोऽपि, तेन वैराग्यकारणम् ॥३०५॥
मुनिराह ममाख्यातं, सूरिणैकं कथानकम् । तदेव मम संजातं, भद्र ! वैराग्यकारणम् ॥३०६॥
अकलङ्केनोक्तं—
यत्तत्ते नाथ ! संपन्नं, तदा वैराग्यकारणम् । तदेवानुग्रहं कृत्वा, कथ्यतां मे कथानकम् ॥३०७॥
मुनिनोक्तं, आकर्णय—
वसन्तपुरवास्तव्याश्चत्वारः प्रीतिनिर्भराः । सार्थवाहसुताः केचित्परस्परवयस्यकाः ॥३०८॥
अनेकावर्तसत्त्वौघभयकोटिसमाकुलम् । लङ्घयित्वा समुद्रं ते, रत्नद्वीपे पगागताः ॥३०९॥
चारुर्योग्यो हितज्ञश्च, मूढश्चेति यथाक्रमम् । तेषां नामानि जानीहि, यथार्थानि नरोत्तम ! ॥३१०॥
इतश्च—सर्वेषां रत्नराशीनामाकरस्तदुदाहृतम् । रत्नद्वीपं विना पुण्यैर्दुष्प्रापमतिसुन्दरम् ॥३११॥
किंतु-तत्रापि न विनोपायं, प्राप्यन्ते रत्नराशयः । को हि हस्तं विना भुङ्क्ते, पुरोवर्त्यपि भोजनम् ॥३१२॥
एवं च स्थिते—स चारुस्तत्र तद्द्वीपे, शेषाकांक्षाविवर्जितः । रत्नग्रहणवाणिज्यं, कुरुते शुद्धमानसः ॥३१३॥
आवर्जयति तल्लोकान्नानोपायैर्विचक्षणः । विधत्ते रत्नराशीनां, सञ्चयं च दिने दिने ॥३१४॥
तथा च वर्तमानस्य, तस्य निश्चितचेतसः । अकालहीनं बोहित्थं, रत्नपूरेण पूरितम् ॥३१५॥
जानाति च स रत्नानां, गुणदोषपरीक्षणम् । विधातुं न च तस्यास्ति, काननादौ कुतूहलम् ॥३१६॥
ततः स चारुर्ज्ञानेन, सदाचारपरायणः । तत्र द्वीपे गतो भद्र ! संजातः स्वार्थसाधकः ॥३१७॥

[योग्यस्य रत्नोपार्जने मन्दादरः]

योग्योऽपि कुरुते किंचिद्वाणिज्यं रत्नकाम्यया । केवलं विद्यते तस्य, कौतुकं काननादिषु ॥३१८॥
जानीते सोऽपि रत्नानां, गुणदोषविचारणम् । कर्तुं कुतूहलेनोच्चैः, केवल ह्रियते बलात् ॥३१९॥
ततश्च—आरामकाननोद्यानसरोवरदिदृक्षया । भ्रमतोऽहर्निशं तस्य, वृथा गच्छन्ति वासराः ॥३२०॥
क्वचिदेव भयाच्चारो, राजवेष्टिसमानकम् । अनादरेण कुरुते, स रत्नानामुपार्जनम् ॥३२१॥
तथापि मिलितान्यस्य, भद्र ! कालेन भूयसा । तथाविधानि योग्यस्य, माणिक्यानि कियन्त्यपि ॥३२२॥
केवलं-विशिष्टरत्नसम्भारं, नादत्तेऽसौ कुतूहली । रत्नद्वीपेऽपि सम्प्राप्तः, स्तोकेन बहु हारयेत् ॥३२३॥
हितज्ञस्तु न जानीते, स्वयं रत्नपरीक्षणम् । कर्तुं परोपदेशात्तु, केवलं लक्षयत्यसौ ॥३२४॥
विहारारामचित्रादिदर्शने च महत्तमम् । कुतूहलं हितज्ञस्य, रत्नवाणिज्यबाधकम् ॥३२५॥
ततोऽसौ रत्नवाणिज्यं, न करोति प्रमादतः । कुर्वन्नपि च मूर्खत्वाद्धूर्तलोकेन वञ्च्यते ॥३२६॥

यतश्चिक्किचिक्कायन्ते, शङ्खकाचकपर्दकाः । ततस्तद्ग्रहणोद्युक्तो, धूर्तलोकेन वञ्चितः ॥३२७॥
(कथं कुतूहलाक्रान्ते, सद्रत्नानां हि पात्रता) ।
(रत्नद्वीपेऽपि संप्राप्तः-प्रमादस्य वशंवदः) । असारवस्तुसंग्राही संजायेताकृतार्थकः। ३२८।।

[मूढस्य रत्नपरीक्षानभिज्ञता]

मूढस्तु न विजानीते, स्वयं रत्नपरीक्षणम् । कर्तुं नापि परेणोक्तं, मोहादेष प्रपद्यते ॥३२९॥
पद्मखण्डवनोद्यानचित्रदेवकुलादिषु । तथाऽस्य भद्र ! मूढस्य, विद्यतेऽत्यन्तकौतुकम् ॥३३०॥
ततश्च–स द्वेष्टि सत्यरत्नानि, हिण्डते काननादिषु । गृह्णाति धूर्तहस्ताच्च, शङ्खकाचकपर्दकान् ॥३३१॥
अथ संभृतबोहित्थैः, स्वस्थानगमनेच्छया । किं वर्तते मदीयानां, मित्राणामिति चिन्तया ॥३३२॥
स चारुस्तस्य योग्यस्य, तदा मूलमुपागतः । उक्तं चाहं गमिष्यामि, मित्र ! किं वर्तते तव ? ॥३३३॥
युग्मम् । योग्यः प्राह न मेऽद्यापि, बोहित्थं बत पूर्यते । स्तोकान्येवार्जितानीह, मया रत्नानि कानिचित् ॥३३४
चारुणाऽभिहितं मित्र ! किं पुनर्मद्दन्तरम् । ततो योग्येन कथितं, सर्वमात्मीयचेष्टितम् ॥३३५॥
चारुणोक्तं न युक्तं ते, काननादिकुतूहलात् । अनादानेन रत्नानामात्मवञ्चनमीदृशम् ॥३३६॥
जानीषे तातः रत्नानां, त्वमेषां सुखहेतुताम् । तथाप्यनादरं कुर्वन्नात्मनो वैरिकायसे ॥३३७॥
चिरादपि न सन्तोषो, भद्र ! ते काननादिषु । तद्वरं विहितः स्वार्थः, स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥३३८॥
प्राप्तोऽपि रत्नद्वीपे त्वं, रत्नोपार्जनकाम्यया । अकुर्वन्नर्जनं तेषामात्मनः किं न लज्जसे ? ॥३३९॥
अतो मद्वचनान्मुञ्च, काननादिकुतूहलम् । कुरु भद्र ! सुरत्नानां सततं, समुपार्जनम् ॥३४०॥
अन्यथाऽहं गमिष्यामि, संपन्नं मे प्रयोजनम् । एवं विचेष्टमानस्त्वं, स्वार्थभ्रष्टो भविष्यसि ॥३४१॥
ततश्चेदं वचश्चारो', श्रुत्वा योग्यः स्वमानसे । अत्यन्तलज्जितः स्वेन, चेष्टितेन प्रभावितः ॥३४२॥
न गन्तव्यं त्वया तावन्महाभाग ! करोम्यहम् । यदादिशसि तत्सर्वं, किं कर्तव्यं ममापरम् ? ॥३४३॥
ततो विमुच्य तत्सर्वं, काननादिकुतूहलम् । स रत्नोपार्जने लग्नो, योग्यो वाक्येन धीमतः ॥३४४॥

[हितज्ञस्य हितोपदेशः]

अथ चारुर्गतो मूलं, हितज्ञस्य ततः परम् । सोऽप्युक्तोऽहं गमिष्यामि, मित्र ! किं वर्तते तव ? ॥३४५॥
ततश्चारोर्हितज्ञेन, दर्शितं यदुपार्जितम् । ससंभ्रमेण सहसा, तत्काचशकलादिकम् ॥३४६॥
अत्यन्तस्नेहसारेण, कथितं चात्मचेष्टितम् । ततश्चारुः कृपोपेतो, हितज्ञं प्रत्यभाषत ॥३४७॥
वयस्य ! वञ्चितोऽसि त्वं, धूर्तलोकेन पापिना । मुग्धस्त्वं हि न जानीषे, कर्तुं रत्नपरीक्षणम् ॥३४८॥ अन्यच्च–
रत्नोपार्जनवेषेण, रत्नद्वीपमुपेयुषः । न युज्यते च ते कर्तुं, काननादिकुतूहलम् ॥३४९॥
तदाकर्ण्य वचश्चारोर्हितज्ञेन विचिन्तितम् । अहो वत्सलता चारोरहो वचनकौशलम् ॥३५०॥
जानात्ययं महाभागः, सर्वं यन्मे हिताहितम् । तदेनमेव पृच्छामि, यत्कर्तव्यं मयाऽधुना ॥३५१॥
ततः प्रोक्तो हितज्ञेन, स चारुमित्रवत्सलः । नाधुनाऽहं करिष्यामि, काननादिकुतूहलम् ॥३५२॥
रत्नानां गुणदोषाश्च, निवेद्यन्तां त्वयाऽधुना । काचादिपरिहारेण, येन तान्यहमाददे ।३५३॥
ततस्त्वदुपदेशेन, भृत्वा बोहित्थमञ्जसा । त्वया सार्धं गमिष्यामि, प्रतिक्षस्व नरोत्तम ! ॥३५४॥
चारुणा चिन्तितं योग्यो, यथा जातो यथार्थकः । हितज्ञोऽपि तथा नूनं, गुणनिष्पन्ननामकः ॥३५५॥

ततो निवेदितास्तेन, सर्वे रत्नगुणाऽगुणाः । ग्राहितश्च प्रयत्नेन, हितज्ञस्तदुपार्जनम् ॥३५६॥
ततश्चारूपदेशेन, हित्वा सर्वं कुतूहलम् । काचादिपरिहारेण, कुर्वन् सद्रत्नसङ्ग्रहम् ॥३५७॥
ततः प्रभृति संजातो, हितज्ञोऽपि विचक्षणः । स्वयं परीक्षकस्तेषां, रत्नानामर्जने रतः ॥३५८॥

[मूढस्य वृत्तान्त]

अथ चारुर्गतः पार्श्वे, तस्य मूढस्य सादरम् । सोऽप्युक्तोऽहं व्रजिष्यामि मित्र ! किं वर्तते तव ? ॥३५९॥
मूढः प्राह वयस्य ! त्व, किं गतेन करिष्यसि ? । रमणीयमिदं द्वीपं, किं न पश्यसि सर्वतः ? ॥३६०॥
पद्मखण्डगृहोद्यानसरोवरविभूषितम् । विहारारामपुष्पाढ्यं, वनराजिविराजितम् ॥३६१॥
तदत्र सुचिरं तावन्मानयित्वा परं सुखम् । पश्चात्स्वस्थानगमन, करिष्यामो यथेच्छया ॥३६२॥
भृतं मयाऽपि वोहित्थं, रत्नानां मित्र ! वर्तते । ततस्तद्दर्शितं तेन, चारोर्वोहित्थमञ्जसा ॥३६३॥
अथाक्षशङ्खकोन्मिश्रकाचखण्डाभिपूरितम् । तद्दृष्ट्वा चिन्तयत्येवं, स चारुश्चारुचेतनः ॥३६४॥
अहो वराको मूढोऽयं, मूढ एव न संशयः । ग्रस्तः कुतूहलेनोच्चैर्धूर्तलोकेन वञ्चितः ॥३६५॥
तथापि शिक्षयामीमं, यद्येप विनिवर्तते । एवं विचिन्त्य तेनोक्तं, चारुणा बुद्धिचारुणा ॥३६६॥
न युक्तं कौतुकं कर्तुमत्र मित्र ! वनादिषु । आत्मवञ्चनमेतद्धि, रत्नवाणिज्यबाधकम् ॥३६७॥
वञ्चितश्च दृढं मित्र ! धूर्तलोकेन पापिना । अरत्नानि गृहीतानि, रत्नबुद्ध्या यतस्त्वया ॥३६८॥
इदं कचवरं सर्वं, तच्छीघ्रं संपरित्यज । सुरत्नानि गृहाण त्वं, तेषामेतच्च लक्षणम् ॥३६९॥
ततो यावत्किलाचष्टे, स चारू रत्नलक्षणम् । तावदुत्तेजितो मूढस्तं प्रतीदमभाषत ॥३७०॥
नाहं यास्यामि गच्छ त्वं, प्रवृत्तो यत्र कुत्रचित् । वयस्य ! एवमेव त्वं, यस्त्वमेवं प्रभाषसे ॥३७१॥
निराकरोपि त्वं तावदेकं मुत्कलचारिताम् । द्वितीयं मामकं रत्नसञ्चयं दूपयस्यलम् ॥३७२॥
प्रभास्वराणि यद्येवं, रत्नानि न भवन्ति ते । पर्याप्तमपरैस्तात ! तावकैर्मम रत्नकैः ॥३७३॥
ततश्चारुः पुनर्यावद्भापते स्फुरिताधरः । प्रवृत्तस्तावदितरस्तं प्रतीदमवोचत ॥३७४॥
कृतं कृतं ममानेन, तावकीनेन मित्रक ! । शिक्षणेन निजस्थानं, गच्छ शीघ्रं निराकुलः ॥३७५॥
तदाकर्ण्य निजे चित्ते, चारुणा परिचिन्तितम् । नैवास्य शिक्षणं कर्तुं, मूढस्य बत पार्यते ॥३७६॥
इतश्च-उपदेशं सदा तस्य, चारोः कुर्वाणयोर्मुदा । ते भृते रत्नवोहित्थे, तयोर्योग्यहितज्ञयोः ॥३७७॥
ततश्चारुः परित्यज्य, तं मूढं कृतनिश्चयः । सार्धं योग्यहितज्ञाभ्यां, गतः स्वस्थानमुच्चकैः ॥३७८॥
रत्नानां विनियोगं च, कुर्वाणास्तत्र ते त्रयः । अनन्तानन्दसन्दोहपूरिताः सुखमासते ॥३७९॥
मूढस्तु दुःखदारिद्र्यभाजनं समजायत । निष्कासितस्ततो द्वीपात् , केनचित्क्रुद्धभूभुजा ॥३८०॥
प्रक्षिप्तः सागरे घोरे, यादोभिः परिपूरिते । अदृष्टतलपर्यन्ते, दुरन्तावर्तभीषणे ॥३८१॥
तदिदं ते मयाऽऽख्यातं, सूरिप्रोक्तं कथानकम् । यत्तदा मम संजातं, भद्र ! वैराग्यकारणम् ॥३८२॥
ततो गृहीतभावार्थः प्रोत्फुल्लमुखपङ्कजः । सोऽकलङ्को मुनिं नत्वा, प्रवृत्तोऽन्यमुनिं प्रति ॥३८३॥
मयोक्तं-आख्याहि मित्र ! भावार्थं, पृष्टे वैराग्यकारणे । असंबद्धं किमख्यातं, मुनिनेदं कथानकम् ? ॥३८४॥

[मुनिप्रोक्तकथोपनयः]

अकलङ्केनोक्तं-भद्र ! घनवाहन नेदमसंबद्धमुदाहरणं, आकर्णय त्वमस्य भावार्थं, मयोक्तं-एप दत्तावधानोऽस्मि, अकलङ्केनोक्तं-वसन्तपुरस्थानीयोऽत्रासांव्यवहारिको जीवराशिः वाणिजकाः पुनर्यथा-

र्थनामानस्ततो निर्गताश्चतुर्विधा जीवाः। समुद्रः पुनरत्र जन्मजरामरणसलिलो मिथ्यादर्शनाविरतिगम्भीरो महाभीषणकषायपातालः सुदुर्लङ्घ्यमहामोहावर्तरौद्रो विचित्रदुःखौघदुष्टजलचरपूरितो रागद्वेषजवनपवनविक्षोभितः संयोगवियोगवीचिनिचयचटुलः प्रबलमनोरथवेलाकुलोऽनवलोकितपरापरपारः संसारविस्तारो विज्ञेयः। रत्नद्वीपस्थानीयोऽयं मनुष्यभवो मन्तव्यः काननादिकुतूहलं तु विषयाभिलाषो द्रष्टव्यः अक्षशङ्खकपर्दककाचशकलादिकल्पाः सर्वज्ञप्रणीतधर्मविपरीताः कुधर्मा बोद्धव्याः धूर्तलोकः कुतीर्थिकवर्गो ज्ञातव्यः, बोहित्थस्थानीयानि पुनरत्र जीवस्वरूपाणि वर्तन्ते, स्वस्थानगमनं मोक्षावाप्तिर्मन्तव्या आत्मलाभरूपत्वात्तस्याः, यस्तु मूढस्योपरि क्रुद्धो नरेन्द्रः स स्वकर्मपरिणामो विज्ञेयः, समुद्रमध्यप्रक्षेपस्तु मूढस्यानन्तभवभ्रमणं द्रष्टव्यमिति। एवं च स्थिते भो भो घनवाहन !—

सर्वः कथानकस्यास्य, भावार्थः सुपरिस्फुटः। तथापि ते प्रबोधाय, विशेषेणाभिधीयते ॥३८९॥

[चारुवृत्तान्ततात्पर्यार्थं]

तत्र यथा तेन चारुणा निर्गत्य वसन्तपुराल्लङ्घयित्वा समुद्रं समासाद्य रत्नद्वीपं विज्ञातः कृत्रिमाऽकृत्रिमरत्नविशेषः न कृतं काननादिषु कौतुकं लक्षिता धूर्तलोकाः न गृहीतानि कृत्रिमरत्नानि कृतं विशिष्टरत्नग्रहणवाणिज्यं उपात्तः सुन्दररत्ननिचयः आवर्जिता विशिष्टलोकाः पूरितं बोहित्थं संजातः स्वार्थसाधक इति—तथा भद्र ! भव्यतया सुन्दरतमा जीवा निष्क्रम्यासांव्यवहारिकजीवराशेरतीत्यानन्तं संसारविस्तारं संप्राप्य मनुष्यभावं लघुकर्मतया विजानन्ति हेयोपादेयविभागं, चिन्तयन्ति च ते—यथाऽतिदुर्लभमिदं मानुष्यमाकरो भावरत्नानां कारणं निर्वाणसुखस्य संप्राप्तमिदमधुनाऽस्माभिः समारूढा वयं महत्तरां कोटिं तन्न युक्तोऽस्माकमधुना विषादपि विषमतरे विपाकेषु विषयधनादिषु प्रतिबन्धः। समासादयन्ति च ते सर्वज्ञोपज्ञधर्ममार्गं, ततो न विप्रलभ्यन्ते कुतीर्थिकैः न प्रवर्तन्ते कुधर्मग्रहणे कुर्वन्ति साधुधर्माङ्गीकरणलक्षणं वाणिज्यं गृह्णन्ति क्षान्तिमार्दवार्जवमुक्तितपःसंयमसत्यशौचाऽऽकिञ्चन्यब्रह्मचर्यसन्तोषप्रशमादिकं प्रतिक्षणं गुणरत्ननिचयं आवर्जयन्ति सद्गुरुसाधुसाधर्मिकजनं पूरयन्ति सद्गुणैरात्मानं संजायन्ते स्वकार्यनिष्पादका इति ।

[योग्यवृत्तान्तहार्दम्]

यथा च योग्येन तत्र रत्नद्वीपे विज्ञातं गुणदोषविचारणं कृतं किंचित्तद्ग्रहणार्थं वाणिज्यं केवलं संजातमस्य काननादिदर्शनव्यसनं तत्परायत्तेन गमितोऽनर्थको बहुः कालो मीलितानि कालेन भूयसा कियन्त्यपि रत्नकानि न विहितो विशिष्टरत्नसचय इति—तथा भद्र ! घनवाहन भव्यतया सुन्दरतरा जीवाः संप्राप्य मनुष्यजन्म लघुकर्मतया जानन्ति गुणाऽगुणपरीक्षणं कुर्वन्ति सर्वज्ञदर्शनमवाप्य श्रावकोचितं कियदपि सद्गुणग्रहणवाणिज्यं केवलं दुर्जयत्वेन लोभस्य चटुलतयेन्द्रियग्रामस्य संजायते तेषां धनविषयादिषु ममत्वव्यसनं तत्परायत्ताश्च ते गमयन्ति निरर्थकं भूयांसं कालं तथापि मीलयन्ति ते भूयसा कालेन श्रावकधर्मोचितानि कियन्त्यपि गुणरत्नकानि न विदधति साधुधर्मसाध्यं विशिष्टगुणरत्नसञ्चयमिति।

[हितज्ञवृत्तान्तरहस्यम्]

यथा च तेन हितज्ञेन प्राप्तेनापि रत्नद्वीपेऽविज्ञाय स्वयं रत्नपरीक्षणं धारिता परोपदेशयोग्यता कृतं विहारारामादिषु महत्तरं कौतुकं न विहितं सुरत्नग्रहणं स लक्षितास्ते वञ्चका धूर्तलोकाः गृहीतानि चिक्किचिक्कायमानानि

काचशकलादीनि जनिता तेषु सुन्दराणीति बुद्धिः वञ्चितश्चारूपदेशात्पूर्वमात्मेति—तथा भद्र घनवाहन ! भव्यतया सुन्दरा जीवाः समासाद्य मनुष्यभावं मनाग्गुरुकर्मतया न विजानन्ति स्वयं कर्तुं धर्मगुणदोषपरीक्षणं धारयन्ति परोपदेशयोग्यतां कुर्वन्ति विषयधनादिषु महत्तरं प्रतिबन्धं न विदधति सर्वज्ञप्रणीतसद्धर्मोपार्जनं न लक्षयन्ति कुतीर्थिकवञ्चकतां गृह्णन्ति प्रशमदयादमादिसाररहितानि दम्भप्रधानतया बहिश्चिकिचिकायमानकृत्रिमरत्नतुल्यानि कुधर्मानुष्ठानानि जनयन्ति तेषु सुन्दराणीति बुद्धिं वञ्चयन्ति च सद्गुरूपदेशात्पूर्वमात्मानमिति । यथा च तेन मूढेन रत्नद्वीपगतेनापि न विहितं स्वयं रत्नगुणदोषपरीक्षणं नापि प्रतिपन्नं परोपदेशेन अनुशीलितं वनदेवकुलादिगोचरमत्यन्तकौतुक विद्विष्टानि सत्यरत्नानि गृहीतानि काचशकलादीनि कृतस्तेषु सद्रत्नाभिनिवेशः मोपितो धूर्तलोकेन वञ्चितो नितान्तमात्मेति—तथा भद्र ! घनवाहन लब्ध्वापि मनुष्यभवमभव्यतया दूरभव्यतया वाऽतिक्लिष्टतमा जीवाः गुरुतरकर्मभराक्रान्ततया न विदन्त्येव स्वयं कर्तुं धर्मगुणदोषपरीक्षणं नापि प्रतिपद्यन्ते परोपदेशेन अनुशीलयन्ति विषयधनादिषु गाढलौल्यं विद्विषन्ति प्रशमदयादीनि सद्भूतानुष्ठानानि गृह्णन्ति धर्मबुद्ध्या स्नानहोमयागादीनि जीवघातोपमर्दकारीणि कदनुष्ठानानि कुर्वन्ति तेषु तत्त्वाभिनिवेशं मोषयन्ति कुतीर्थिकैः, तदेवं वञ्चयन्ति ते नितान्तमात्मानमिति ।

[चारुकृतयोग्यप्रबोधोपनयः]

यथा च स चारुः पूरयित्वा बोहित्थं कृतकृत्यः स्वयं गन्तुकामः स्वस्थाने योग्यं प्रत्याह—यथाऽहं गमिष्यामि मित्र ! किं वर्तते तवेति ? योग्येनोक्तं-न पूर्यते ममाद्यापि बोहित्थं स्तोकान्येव मयोपार्जितानि रत्नानि, चारुणोक्त किं पुनरत्र कारणं ? ततो योग्येन कथितं तदुपार्जनविघ्नभूतमात्मनः काननादिकुतूहलं—तथा भद्र ! घनवाहन चारुतुल्या भगवन्तो मुनयो भृत्वाऽऽत्मानं तपःसंयमप्रशमसन्तोषज्ञानदर्शनादिभिर्भावरत्नैर्निष्ठितार्थाः स्वयं जिगमिषवो मोक्षलक्षणे स्वस्थाने योग्यरूपाणां देशविरतानां मोक्षगमनार्थमामन्त्रणमिव कुर्वाणाः कुर्वन्ति धर्मदेशनां, ते तु निवेदयन्त्यात्मनः स्तोकगुणत्वं, ततः साधवो ब्रुवते भो भद्रा ! मनुष्यभावे स्वाधीनं सर्वेषां सद्गुणार्जनं तत्किं न सपूर्णगुणा जाता यूय यथा वयं ?, ततः कथयन्ति ते देशविरताः संपूर्णगुणोपार्जनविघ्नभूतमात्मनो धनविषयादिषु ममत्वव्यसनं, ततो यथा चारुणा योग्यं प्रत्युक्तं—यथा भद्र ! न युक्तं ते प्राप्तस्य रत्नद्वीपे काननादिकुतूहलं कर्तुं वञ्चनमिदमात्मनो महाविघ्नः सुरत्नग्रहणस्य जानामि च त्वं सुरत्नानां सुखहेतुतां तथाप्यनादरमेवं तेषु कुर्वाणः किमात्मनो वैरिकायसे ? न च चिरेणापि ते कौतुकपरिपूर्तिस्तद्वरं स्वार्थे यतितमितरथा निरर्थकं रत्नद्वीपागमनं. ततो भद्र ! मुञ्च वनादिकौतुकं कुरु मयि सन्निहिते सुरत्नोपार्जनमन्यथा स्वार्थभ्रष्टो भविष्यसि, ततोऽत्यन्तलज्जितो योग्यः प्रतिपन्नं चारुवचनमनुष्ठितं विधानेन संजातः सुरत्नानां बोहित्थभरणेन स्वार्थसाधक इति । तथा भद्र ! घनवाहन मुनयोऽपि देशविरतानेवमाचक्षते, यथा भो भद्रा ! न युक्तं युष्मादृशामवाप्ते मनुष्यभावे जानतां जिनवचनामृतरसं लक्षयतां भवनैर्गुण्यमाकलयतां कायकलिलमलाविलतां वेदयतां यौवनस्य सन्ध्याभ्ररागभङ्गुरतां पश्यतां जीवितस्य घर्मोपतप्तशकुनिगलचञ्चलतां भावयतां स्वजनवर्गस्नेहादेरचिरद्युतिविलसितदृष्टनष्टतां कर्तुमीदृशं धनविषयादिममत्वव्यसनं वञ्चनमिदमात्मनो महान्तरायो ज्ञानादिसाधनस्य ।

जानन्ति च भद्राः यथा परिणामदारुणा विषयाः कारणं चित्तविप्लवानां तरलहृदया योषितोऽभूमिः सद्भावसुखानां हेतुभूतमार्तरौद्रध्यानानां सुगतिमार्गप्रदीपो ज्ञानं जनकं मानसाह्लादानां कुयोनिगर्तातिपात-

हस्तावलम्बो दर्शनं सम्पादनमनन्तमनःप्रमोदानां सुक्षेमाक्षेपमोक्षनिक्षेपणं चारित्रं समर्पकं निरन्तरचित्तोत्सवानां अनादिजीववस्त्रमलक्षालनसलिलं तपो दायकं निःसङ्गादिसन्दोहानामनागतकर्मकचवरनिवारकः संयमो भावको भवभ्रमणभयाभावितभूरिभावहर्षाणां, तदेवमपि जानतां भवतां भो भद्राः ! केयमविद्या कोऽयं मोहः केयमात्मवञ्चनता केयमात्मवैरिकिता केन यूयं गृध्यथ विषयेषु मुह्यथ कलत्रेषु लुभ्यथ धनेषु स्निह्यथ स्वजनेषु हृप्यथ यौवनेषु तुष्यथ निजरूपेषु पुष्यथ प्रियसङ्गतेषु रुष्यथ हितोपदेशेषु दूष्यथ गुणेषु नश्यथ सन्मार्गात्मत्स्वप्यस्मादृशेषु सहायेषु प्रीणथ सांसारिकसुखेषु न पुनर्यूयमभ्यस्यथ ज्ञानं नानुशीलयथ दर्शनं नानुतिष्ठथ चारित्रं नाचरथ तपः न कुरुथ संयमं न संपादयथ सद्भूतगुणसम्भारभाजनमात्मानमिति । एवं च तिष्ठतां भवतां भो भद्रा ! निरर्थकोऽयं मनुष्यभवो निष्फलमस्मादृशमन्निधानं निष्प्रयोजनो भवतां परिज्ञानाभिमानोऽकिंचित्करमिव भगवद्दर्शनासादनं, एवं हि स्वार्थभ्रंशः परमवशिष्यते, स च भवतामज्ञत्वमालक्षयति, न पुनश्चिरादपि विषयादिषु सन्तोषः, तन्न युक्तमेवमासितुं भवादृशां, अतो मुञ्चत विषयप्रतिबन्धं परिहरत स्वजनस्नेहादिकं विरहयत धनभवनममत्वव्यसनं परित्यजत निःशेषं सांसारिकमलजाम्बालं गृह्णीत भागवतीं भावदीक्षां विधत्त सज्ज्ञानादिगुणगणसञ्चयं पूरयत तेनात्मानं भवत स्वार्थसाधका यावत्सन्निहिता भवतां वयं, अन्यथाऽस्मदुपदेशाभावे सद्बुद्धिविकला यूयं स्वार्थभ्रष्टा एव सर्वथा भविष्यथेति । तदिदं भगवतां सन्मुनीनामुपदेशवचनामृतमुपालम्भगर्भमुपलभ्य ते योग्यकल्पा देशविरता नितरां लज्जन्ते स्वचरितेन न ददति वष्टोत्तराणि न कुर्वन्ति मनोदुष्प्रणिधानं, किं तर्हि ? प्रतिपद्यन्ते हितमिति तत्साधुवचनं आचरन्ति यथोक्तविधानेन स्वीकुर्वन्ति पारमेश्वरं महाव्रतं तिष्ठन्ति पूरयन्तो गुणरत्नैरात्मयानपात्रमिति ।

[*चारुकृतहितज्ञप्रबोधरहस्यम्* ।

यथा च स चारुर्गतो हितज्ञाभ्यर्णं विहितं स्वस्थानगमनार्थं तदामन्त्रणं ततो दर्शितं तस्मै हितज्ञेन स्वयमुपार्जितं तत्काचशकलादिकं निवेदितं काननादिकौतुकसारमात्मचेष्टितं–तथा भद्र घनवाहन ! भद्रकेभ्यो भव्यमिथ्यादृष्टिभ्यः संपूर्णगुणाः सुसाधवो यदत्र सद्धर्मकथनायाभिमुखीभवन्ति तच्चारुणा हितज्ञसमीपगमनमभिधीयते, ततः कुर्वन्ति ते साधवस्तेषां भद्रकभव्यमिथ्यादृष्टीनां धर्मदेशनया मोक्षगमनं प्रत्यामन्त्रणं, तेऽपि च तेभ्यो दर्शयन्ति यथा वयमपि कुर्म एव धर्मं यतोऽनुतिष्ठामो नित्यस्नानं जुहुमोऽग्निहोत्रं दद्मस्तिलसमिधः प्रयच्छामो गोभूमिहिरण्यादीनि कारयामो वापीकूपतडागप्रभृतीनि परिणयामः कन्यका इत्यादिकं काचशकलादिदर्शनम् । अन्यच्च- ते सुसाधुभ्यो निवेदयन्ति यथा–भो भट्टारकाः ! सुखेन वयमास्महे यतो भक्षयामो मांसं पिबामो मद्य आस्वादयामो विचित्रं सुरसं भोजनं रमयामो वरस्त्रियः परिदध्मः सुकुमारोज्ज्वलवसनानि मानयामः पञ्चसुगन्धिकोन्मिश्रं ताम्बूलं विलसामो विविधमाल्यविलेपनैः मीलयामो धननिचयं विचरामो यथेष्टचेष्टया न सहामो रिपुगन्धं उल्लासयामो निजकीर्तिं दर्शयामः स्वस्य देवरूपतां अनुभवामो मनुष्यभवसारमित्यादि । तदिदं काननादिकौतुकसारमात्मचेष्टितकथनम् ।

ततो यथा तेन चारुणा कृपापरिगतहृदयेन हितज्ञं प्रत्यभिहितं यदुत–वयस्य ! वञ्चितोऽसि त्वं पापिना धूर्तलोकेन मुग्धतया न जानीषे विधातुं रत्नगुणदोषपरीक्षां, अन्यच्च न युक्तं तव कर्तुं रत्नद्वीपमागतस्य काननादिकुतूहलं विप्रलम्भस्तवैष परमार्थेन, ततो हितज्ञेन निश्चित्य तदीयवत्सलतां लक्षितः परिज्ञानातिरेकः, ततो निवर्तितं काननादिकौतुकं, पृष्टश्च स चारू रत्नलक्षणं दर्शितः शिष्यभावः, चारुरपि रञ्जितस्तद्गुणैः निवे-

दितं रत्नलक्षणं ग्राहितस्तदुपार्जनोपायं हितज्ञश्चारुणा संजातो विचक्षणः परीक्षको रत्नानां, ततः परिहृत्य कृत्रिमरत्नानि संपन्नः सत्यरत्नग्रहणोद्यत इति--तथा भद्र ! धनवाहन सन्मुनयोऽपि करुणापरिगतमानसास्तानेवं वदतो भद्रकभव्यमिथ्यादृष्टीनित्थमाचक्षते, यदुत—भो भद्राः सत्यं धर्मशीला यूयं कुरुथ धर्ममात्मबुद्ध्या केवलं मुग्धतया न जानीथ तद्विशेषं वञ्चिता यूय कुधर्मशास्त्रकारैः, न खलु हिंसाकर्माणि धर्मसाधनानि भवन्ति, सर्वभूतदयाप्रधानो हि भगवान् विशुद्धधर्मः, तद्विरोधीनि च यागहोमादीनि, तत्र युक्तं धर्मबुद्ध्या भवतामधर्मासेवनम् । यत्पुनर्ब्रूथ यूयं यथा—सुखेन वयं तिष्ठामो यतो भक्षयामो मांसमित्यादि, तदपि मुग्धताविजृम्भितमेव भवतां हास्यप्राय विवेकिनां, यतः सन्निहिताशेषापाये काये वल्गत्सु विविधरोगेषु त्वरगामिन्यां जरायां मनःशरीरसन्तापकारिषु राजाद्युपद्रवेषु यायावरे यौवने सर्वव्यसनकारिणीषु सम्पत्सु मनोदाहिनीष्टवियोगे चित्तवैधुर्यकारिणि विप्रियसम्प्रयोगे सततमागामुके मरणे सर्वथाऽशुचिनिधाने शरीरे पुद्गलपरिणाममात्रनिःसारेषु विषयेषु असंख्यदुःखलक्षपरिपूरिते जगति वर्तमानानामसुमतां कीदृशं नाम सुखं ? परमार्थतो दुःखेऽपि सुखविपर्यास एष भवतः, कर्मजनितः खल्वेष विभ्रमः कारणमनन्तभवभ्रमणस्य, ततो भो भद्राः ! कृच्छ्रेण प्राप्ते मनुष्यभवे सन्निहितायां धर्मसामग्र्यां सत्यसमदुपदेशे स्वाधीने गुणाधाने प्रकटे ज्ञानादिमोक्षमार्गे अनन्तानन्दरूपे जीवे तस्य स्वरूपलाभलक्षणे मोक्षे ज्ञानश्रद्धानुष्ठानमात्रायत्ते तल्लाभे न युक्तं भवतामीदृशमात्मवञ्चनं कर्तुं तदिद सन्मुनिवचनमाकर्ण्य ते हितज्ञतुल्या भद्रकभव्यमिथ्यादृष्टयो जीवा निश्चिन्वन्ति तेषां भगवतां सन्मुनीनां वत्सलतां लक्षयन्ति परिज्ञानातिरेकं, ततो निवर्तयन्ति तदुपदेशेनावाप्तशुभवासनाविशेषाः सन्तो धनविषयगृद्धिप्रतिबन्धं पृच्छन्ति च विशेषतो मुनिजनं ते धर्ममार्गं दर्शयन्ति शिष्यभावं रञ्जयन्ति गुरूनपि विनयादिगुणैः ।

ततः प्रसन्नहृदया गुरवस्तेभ्यो गृहस्थावस्थोचितं साधुदशायोग्यं च प्रतिपादयन्ति धर्ममार्गं ग्राहयन्ति तदुपार्जनोपाय महायत्नेन यदुत—भो भद्राः ! सद्धर्मसाधनयोग्यत्वमात्मनोऽभिलषद्भिर्भवद्भिस्तावदिदमादौ कर्तव्यं भवति यदुत सेवनीया दयालुता न विधेयः परपरिभवः मोक्तव्या कोपनता वर्जनीयो दुर्जनसंसर्गः विरहितव्याऽलीकवादिता अभ्यसनीयो गुणानुरागः न कार्या चौर्यबुद्धिः त्यजनीयो मिथ्याभिमानः वारणीयः परदाराभिलाषः परिहर्तव्यो धनादिगर्वः निधेया दुःखितदुःखत्राणेच्छा पूजनीया गुरवः वन्दनीया देवसङ्घाः सन्माननीयः परिजनः पूरणीयः प्रणयिलोकः अनुवर्तनीयो मित्रवर्गः न भाषणीयः परावर्णवादो ग्रहीतव्याः परगुणाः लज्जनीयं निजगुणविकत्थनेन स्मर्तव्यमणीयोऽपि सुकृतं यतितव्यं परार्थे सभापणीयः प्रथमं विशिष्टलोकः अनुमोदनीयो धार्मिकजनः न विधेयं परमर्मोद्घट्टनं भवितव्यं सुवेषाचारैः, ततो भविष्यति भवतां सर्वज्ञोपज्ञसद्धर्मानुष्ठानयोग्यता, तत्र च गृहस्थैः सद्भिः [1]परिहर्तव्योऽकल्याणमित्रयोगः सेवितव्यानि कल्याणमित्राणि न लङ्घनीयोचितस्थितिः अपेक्षितव्यो लोकमार्गः माननीया गुरुसंहतिः भवितव्यमेतत्तन्त्रैः प्रवर्तितव्यं दानादौ कर्तव्योदारपूजा भगवतां निरूपणीयः साधुविशेषः श्रोतव्य विधिना धर्मशास्त्रं भावनीयं महायत्नेन अनुष्ठेयस्तदर्थो विधानेन अवलम्बनीय धैर्यं पर्यालोचनीयाऽऽयतिः अवलोकनीयो मृत्युः भवितव्यं परलोकप्रधानैः सेवितव्यो गुरुजनः कर्तव्यं योगपट्टदर्शनं स्थापनीयं तद्रूपादि मानसे निरूपयितव्या धारणा परिहर्तव्यो विक्षेपमार्गः प्रयतितव्य योगशुद्धौ कारयितव्यं भगवद्भुवनबिम्बा

(१) इत आरभ्य वर्त्तितव्यमुत्तमज्ञातेने'त्यन्तः ललितविस्तरा-मूलस्थानीयः पाठ ।

दिकं लेखनीयं भुवनेशवचनं कर्तव्यो मङ्गलजापः प्रतिपत्तव्यं चतुःशरणं गर्हितव्यानि दुष्कृतानि अनुमोदयितव्यं कुशलं पूजनीया मन्त्रदेवताः श्रोतव्यानि सच्चेष्टितानि भावनीयमौदार्यं वर्तितव्यमुत्तमज्ञातेन ततो भविष्यति भवतां साधुधर्मानुष्ठानभाजनता ।

ततः कृतबहिरन्तरङ्गसङ्गत्यागैः परदत्तभोजिभिर्भावमुनिभिः सद्भिर्भवद्भिरासेवनीया ग्रहणशिक्षा विधेया वस्तुतत्त्वजिज्ञासा, मृगणीयः स्वपरतन्त्रवेदिना परहितनिरतेन पराशयवेदिना यथार्थाभिधानेन गुरुणा सम्यक् सम्बन्धः प्रयोक्तव्यो गुरुविनयः अनुष्ठेया विधिपरता कर्तव्यो मण्डलीनिषद्याक्षादौ यत्नः अनुपालनीयो ज्येष्ठक्रमो भजनीयोचिताशनक्रिया हेयो विकथादिविक्षेपः शीलनीया भावसारमुपयोगप्रधानता शिक्षणीयोऽयं श्रवणविधिः आचरणीया बोधपरिणतिः यतितव्यं सम्यग्ज्ञानस्थिरतायां कार्यं मनःस्थैर्यं न विधेयो ज्ञानदृप्युत्सेकः नोपहसनीयास्तदज्ञाः परित्याज्यो विवादः परिहार्यमबुद्धबुद्धिभेदकरणं न विधेयः कुपात्रे शास्त्रनियोगः । ततो भविष्यति भवतां पात्रता बहुमता गुणज्ञानां विग्रहवती शमश्रीः स्वाश्रयो भावसम्पदां, ततः सजनिष्यन्ते भवतामुपरि सप्रसादा गुरवः संप्रदापयिष्यन्ति सिद्धान्तसाराणि प्रवर्धिष्यन्ते भवतां शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणोहापोहतत्त्वाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणा इति । तथा अनुशीलनीया भवद्भिरासेवनशिक्षा समाचरणीया प्रत्युपेक्षणा भजनीया प्रमार्जना सात्म्यीभावमानेतव्या भिक्षाचर्या प्रतिक्रमणीयेर्यापथिका दातव्याऽऽलोचना शिक्षणीया निर्दोषभोजनता विधेया भाजनपरिकर्मणा अनुष्ठेयाऽऽगमिकी विचारचर्या निरीक्षणीयाः स्थण्डिलभूमयः कर्तव्यं समस्तोपाधिविशुद्धमावश्यकं प्रवर्तितव्यं यथागमं कालग्रहणे आम्नातव्यः पञ्चविधः स्वाध्यायः तदेवमभ्यसनीया प्रतिदिनक्रिया पालनीयः पञ्चविधोऽप्याचारः आसेवनीये चरणकरणे अङ्गाङ्गीभावमानेयोऽप्रमादः स्थातव्यमत्युग्रविहारितया । ततो भविष्यति भवतां मोक्षगमनप्रवणो गुणसन्दोहः । तदेव ते भगवन्तः सन्मुनयो दर्शयन्ति तेभ्यः सद्गुणार्जनोपायं, ततस्ते तदुपदेशेन भद्रकभव्यमिथ्यादृष्टयः संजायन्ते विचक्षणाः भवन्ति परीक्षका भावरत्नानां विरहयन्ति कुधर्मासेवनं रमन्ते सद्गुणोपादाने वदन्ति च--यथा भो भो भट्टारकाः !--

अपायहेतुभिर्भोगैर्धूर्तोकारैश्च तीर्थकैः । एतावन्त वयं कालं वञ्चिता मोहदोषतः ॥३८६॥
अधुना बोधिता धन्यैर्भवद्भिरतिवत्सलैः । यथाऽऽदिष्टं करिष्यामो, नाथाः ! सर्वं पुरोदितम् ॥३८७॥
अथोपबृंहिता वाक्यैः, साधुभिस्ते मनोहरैः । यथोपदिष्टं कुर्वाणा, जायन्ते स्वार्थसाधकाः ॥३८८॥

[*मूढोपेक्षाभावार्थ*]

यथा च स चारुर्गतो मूढसमीपं कृतं गमनार्थमामन्त्रणं, मूढेनोक्तं--वयस्य ! किं गतेन करिष्यसि ? रमणीयतममिदं द्वीपं, तथाहि--पश्य पश्य भूषितमिदं पद्मखण्डैर्विराजितं गृहोद्यानैर्मण्डितं सरोवरैः कमनीयं विहारारामैः स्पृहणीयं सुगन्धिपुष्पभरबन्धुराभिर्वनराजिभिरभिलपणीयं सुन्दरलोकयोगेन । तदत्र मानयित्वा सुचिरं सुखं पश्चात्स्वस्थानगमनं करिष्यामो । न च मे गमनं रोचते, भृतं च मयाऽपि बोहित्थं वर्तते, ततो दर्शितं तत्काचशकलादिपूरितं चारोः, अनेन संजाता चारोः करुणा, दत्तस्तस्योपदेशो यथा--न युक्तं ते काननादिकौतुकं कुरत्नानि च त्वया गृहीतानि रत्नबुद्ध्या तत्परित्यज मित्रामूनि गृहाण सुरत्नानि तेषां चेदं लक्षणम् । ततः प्रद्विष्टो मूढः प्राह च--नाहं यास्यामि गच्छ त्वं यत्र प्रवृत्तोऽसि, मित्रमेव न भवसि त्वं मे यस्त्वं मामकीनानि भास्वररत्नानि दूषयसि अलं मे तावकरत्नैः, पुनः कृपयोपदेशदानोद्यतो निराकृतश्चारुः,

अनेन संजातश्चागोरप्रज्ञापनीयोऽयमिति निश्चयः-तथा भद्र ! घनवाहन चारुकल्पा भगवन्तो मुनयो मूढस्थानीयेभ्यो दूरभव्येभ्योऽभव्येभ्यो वा यदा धर्मोपदेशार्थमभिमुखीभवन्ति तदा तेषां तत्समीपगमनमभिधीयते । ततः कुर्वन्ति ते सद्धर्मदेशनया मोक्षगमनं प्रति तदामन्त्रणं, ततस्ते मूढकल्पा जन्तवः खल्वेवमाचक्षीरन्–यदुत भो भोः श्रमणकाः ! किं तेन यौष्माकीणेन मोक्षेण नः प्रयोजनं ? भवतामप्यलमेव तत्र गमनेन, तथाहि–

न तत्र खाद्यं नो पेयं , न विलासा न भूतयः । न दिव्यः प्रियसंयोगो, न कान्ताः कमलेक्षणाः ॥३८९॥
न भाषणं सविश्रम्भं, न गीतं नापि नर्तनम् । न हास्यं हन्त यौष्माकः, स मोक्षो ननु बन्धनम् ॥३९०॥
अत्यन्तरमणीयोऽयमस्माकं प्रतिभासते । सदा संसारविस्तारश्चित्ताह्लादविधायकः ॥३९१॥
यतोऽत्र सन्ति संसारे, खाद्यं पेयं विभूतयः । विलासा भूषणं नार्यः, कामदाः पद्मलोचनाः ॥३९२॥
यथेष्टचेष्टाचारित्वं, गीतं नृत्यं विलेपनम् । विद्यते सर्वमेवात्र, संपूर्णं सुखसाधनम् ॥३९३॥
अतो विमुच्य संसारं, सुखसम्भारपूरितम् । भो भोः श्रमणका ! यूयं, न मोक्षं गन्तुमर्हथ ।३९४॥
तदलं मोक्षवादेन, संसारे सुन्दरा स्थितिः । मानयित्वा सुखं दिव्यं, पश्चान्मोक्षं गमिष्यथ ॥३९५॥
यश्च सद्धर्मवादोऽयं, भवतां मनसि स्थितः । अस्माकमपि सोऽस्त्येव, किं यूयं धर्मगर्विताः ? ॥३९६॥
तथाहि–भूरिभिर्महिषैश्छागैः, शूकरैश्च निपातितैः । कुर्महे चण्डिकादीनां, वयं रुधिरतर्पणम् ॥३९७॥
गोमेधमश्वमेधं च, नरमेधं तथाऽऽजकैः । कुर्मो यागं चतुर्भेदं, भूतसङ्घातमर्दनम् ॥३९८॥
कुयोनिवर्तिनः सत्त्वान्, निःशेषान् , दुःखपीडितान् । हत्वा हत्वा वयं दुःखान्मोचयामः कृपापराः ॥३९९॥
पापद्धर्यां जीवसङ्घातं, मारयित्वा दिने दिने । मांसाचारितमत्रं च, प्रयच्छामो यथेच्छया ॥४००॥
इत्येवमादिभिर्धर्मैः, कृतकृत्यतया वयम् । भावत्कस्यास्य धर्मस्य, न तृप्तिं बत कुर्महे ॥४०१॥
तदिदं मूढकल्पानामभव्यानां प्रभाषितम् । आकर्ण्य मुनयो धीरा, जायन्ते करुणापराः ॥४०२॥
ततस्ते तत्प्रबोधार्थमित्थमाचक्षते तदा । भो भद्रा ! नैव युक्तोऽयं, भवतां भवविभ्रमः ॥४०३॥
एते हि भोगा नागानां, भोगा इव सुदारुणाः । पर्यन्तकटुकाः पापास्तीव्रसंक्लेशवर्धनाः ॥४०४॥
नार्योऽनार्याः कृताकार्याः, सर्वमायाकरण्डिकाः । विलासनृत्तसङ्गीतबिब्बोकाद्या विडम्बनाः ॥४०५॥
मोक्षस्तु भद्राः सततमनन्तानन्दसुन्दरः । जीवस्यात्मव्यवस्थानं, निःशेषक्लेशवर्जितः ॥४०३॥
मनुष्यभवमासाद्य, तन्न युक्तं भवादृशाम् । खाद्यपेयविलासादिकौतुकेनात्मवञ्चनम् ॥४०७॥
एतेषु सक्ता भोगेषु, कतिचिद्दिनभाविषु । मा मोक्षमार्गमुत्सृज्य, गच्छतानन्तके भवे ॥४०८॥
धर्मानुष्ठानबुद्ध्या च, यदिदं मारणादिकम् । यूयं कुरुथ तत्पापं, सर्वं संसारवर्धनम् ॥४०९॥
कुशास्त्रकारमोहेन, मा कुरुध्वमथेदृशम् । अहिंसाद्यात्मकं धर्मं, कुरुध्वं दोषसूदनम् ॥४१०॥
अथेदृशं मुनीनां ते, वाक्यमाकर्ण्य पेशलम् । मूढकल्पा जनास्तूर्णं, प्रद्वेषं यान्ति पापिनः ॥४११॥
वदन्ति च ततो रुष्टाः, भो भोः श्रमणका ! वयम् । शिक्षणीया न युष्माभिर्यात यात यथाऽऽगताः ॥४१२॥
भोगान्निन्दथ पापिष्ठा, धर्मं चास्मन्निषेवितम् । ततो नो वैरिका यूयं, नेष्यामोऽन्तकमन्दिरम् ॥४१३॥
ईदृशोऽपीह सद्धर्मो, यद्ययं वो न रोचते । ततोऽलं युष्मदीयेन, धर्मेण पुरुषाधमाः ! ॥४१४॥
निवेदयत सद्धर्मं, निजेभ्यः श्रमणाधमाः । आत्मीयजनकेभ्यो भो, न त्वस्माकं प्रयोजनम् ॥४१५॥

तदिदं मूढजन्तूनां, वाक्यमाकर्ण्य साधवः । ब्रूयुः करुणया यावज्जैयो धर्मस्य लक्षणम् ॥४१६॥
तावत्ते नितरां क्रुद्धा, दष्टौष्ठा रक्तलोचनाः । गाढप्रहारदानादौ, प्रवर्तन्ते न संशयः ॥४१७॥
ततस्तत्तादृशं वीक्ष्य, मुनयो मूढचेष्टितम् । निश्चिन्वन्ति निजे चित्ते, नैते साध्याः कथचन ॥४१८॥
ततस्ते साधवस्तेषामुपेक्षां कुर्वते यतः । न भवेद्दोहने चित्तं, वन्ध्याभावे विनिश्चिते ॥४१९॥

[कथाभावार्थोपसंहार]

ततो यथा चारूपदेशं कुर्वतोस्तयोर्योग्यहितज्ञयोर्भृते रत्नानां बोहित्थे ते तौ च गृहीत्वा गतश्चारुः स्वस्थाने जातास्त्रयोऽपि रत्नविनियोगेन सततमनन्तानन्दभाजनं, मूढस्तु दुश्चरितक्रुद्धेन नरपतिना निष्कासितस्ततो द्वीपात् प्रक्षिप्तः समुद्रे संजातोऽनन्तदुःखभरभाजनमिति–तथा भद्र घनवाहन ! मुनीनामुपदेशं पूर्वोक्तं कुर्वतां तेषां देशविरतानां भद्रकभव्यमिथ्यादृष्टीनां च क्रमेण कृते पारमेश्वरे व्रतग्रहणे वर्तन्ते ज्ञानादयो गुणाः भ्रियन्ते तेषामात्मानः ततः सर्वेऽपि गच्छन्ति परमपदे जायन्ते सततमनन्तानन्दसन्दोहभाजो ज्ञानदर्शनचारित्रविनियोगेन । मूढजन्तवस्तु कुर्वन्ति पापभरपूरणं, ततः क्रुद्धेनैव स्वकर्मपरिणामभूभुजा निर्वास्यन्ते मनुष्यभवरत्नद्वीपात् पात्यन्ते संसारसागरे भवन्ति निरन्तरदुःखसम्भारभाजनमिति । ततश्च–

एवं कथानकस्यास्य, ज्ञात्वा भावार्थमीदृशम् । अयं प्रव्रजितो जातः, साधुर्भो घनवाहन ! ॥४२०॥
एवंविधविवेकस्य, कारणे कर्मदारुणे । को वा कथानके ह्यत्र, श्रुते नो मुनितां भजेत् ? ॥४२१॥
रत्नद्वीपसमे प्राप्ते, मानुष्ये भद्र ! भाविकैः । रत्नैर्भृत्वाऽऽत्मबोहित्थं, को न गच्छेच्छिवालयम् ? ॥४२२॥

ततो भद्रेऽगृहीतसङ्केते ! तदिदमीदृशमकलङ्कवचनमाकर्णयतो मे द्रूमिता वह्नी कर्मस्थितिः संजातो भद्रकभावः सुखायितं मनागाकलङ्कं वचनं तथापि स्थितोऽहं मौनेनैव, प्राप्तोऽकलङ्कः सहितो मया षष्ठमुनिसमीपं वन्दितो मुनिवरः धर्मलाभितोऽनेन कृता प्रस्तावना पृष्टः सोऽपि वैराग्यकारणं, मुनिनोक्तं–

[षष्ठमुनेर्हट्टमार्गेण वैराग्यम्]

नगरी संसृतिर्नाम, अस्त्यनादिरनन्तिका । तदीयो हट्टमार्गो मे, जातो वैराग्यकारणम् ॥४२३॥

अकलङ्केन चिन्तितं–अरघट्टः पुरा यादृग्, मुनिना मे निवेदितः ।
नूनं भो हट्टमार्गोऽपि, तादृशोऽयं भविष्यति ॥४२४॥
ततः प्रोक्तमकलङ्केन–निवेदय महाभाग ! महामेनं स्फुटाक्षरैः ।
हट्टमार्गः स संजातो, यस्ते वैराग्यकारणम् ॥४२५॥

मुनिराह महाभागो, योऽयं ध्यानस्थितो मुनिः । अनेन जन्मसंतानः, स हट्टो मम दर्शितः ॥४२६॥
विराजितः सुदीर्घाभिर्भवनापणपंक्तिभिः । भूरिभिः सुखदुःखाख्यैः, स पण्यैः परिपूरितः ॥४२७॥
आकुलैः सञ्चयोद्युक्तैः, क्रयविक्रयतत्परैः । जीववाणिजकैर्नित्यं, स्वार्थनिष्ठैर्निषेवितः ॥४२८॥
पुण्यापुण्याभिधानैश्च, स्तोकोत्कृष्टविमध्यमैः । मूल्यैः पण्यानि लभ्यन्ते, स्वानुरूपाणि तत्र भोः ! ॥४२९॥
नित्यं व्यवहरत्येष, सदैवोद्घाटितापणः । अपुण्यजीवरोरैश्च, भूरिभिः परिपूरितः ॥४३०॥
महामोहाभिधानोऽत्र, बलाधिकृत उच्यते । कामकोपादयस्तस्य, पुरुषाः परिचारकाः ॥४३१॥
घोरैर्जीवाधमर्णानां, कर्माख्यैर्धनिकैः सदा । क्रियते धरणकं तत्र, दुर्मोचमतिदारुणम् ॥४३२॥
सदा कलकलायन्ते, लोकोद्वेगविधायिनः । मत्ताः कषायनामानस्तत्र दुर्दान्तडिम्भकाः ॥४३३॥

अनेकाश्चर्यभूयिष्ठो, विचित्रः सतताकुलः । नान्यो जगति तादृक्षो, हट्टमार्गो नरोत्तम ! ॥४३४॥
केवलं ते मया लोका, यावन्सम्यङ् निरीक्षिताः । हट्टे सर्वेऽपि विज्ञानाम्तावदत्यन्तदुःखिताः ॥४३५॥

[शिवालयमठदर्शनम्]

अथानेन महाभाग ! मुनिना मम लोचने । अञ्जिते कृपया भद्र ! ज्ञानाञ्जनशलाकया ॥४३६॥
ततो विमलदृष्टित्वाद्दृष्टो दूरे व्यवस्थितः । मया हट्टात्समुत्तीर्णो, मठो नाम शिवालयः ॥४३७॥
तत्रानन्ता मया दृष्टाः, सततानन्दसुन्दराः । सद्बुद्धिदृष्टया भो लोका ! मुक्ताख्या बाधवर्जिताः ॥४३८॥
ततो मे तत्र संपन्नो, हट्टमार्गे वृहत्तमः । वसतो भद्र ! निर्वेदो, मठोन्माथक एव च ॥४३९॥
ततश्चायं महाभागो, मुनिः प्रोक्तस्तदा मया । हट्टमेन परित्यज्य, मठे यामः शिवालये ॥४४०॥
यतः—नास्ति मे क्षणमप्यत्र, रतिर्नाथ ! सुदारुणे । हट्टमार्गे व्रजामोऽतस्त्वया सार्धं शिवालये ॥४४१॥
मुनिनोक्तं यदीच्छा ते, मठे गन्तुं नरोत्तम ! । गृहाण मामिकां दीक्षां, ततोऽस्य प्रापिकामरम् ॥४४२॥
मयोक्तं दीयतां नाथ ! मा विलम्बो विधीयताम् । ततो दत्ता ममानेन, दीक्षेयं पारमेश्वरी ॥४४३॥
उपदिष्टं च कर्तव्यं, मठप्रापणकारणम् । अहं तदेव कुर्वाणो, भद्र ! तिष्ठामि साम्प्रतम् ॥४४४॥
अकलङ्केनोक्तं-कीदृशं नाथ ! कर्तव्यं, गुरुणा ते निवेदितम् । यद्बलेन मठे तत्र, भगवन्गन्तुमिच्छसि ? ॥४४५॥

[चित्तस्योपद्रवविशेषाः]

मुनिनोक्तं—आकर्णय—अभिहितोऽहं भगवता तदाऽनेन गुरुणा यथा सौम्य ! अस्ति तावद्भवतः परिग्रहे कायाभिधानः पञ्चाक्षनामगवाक्षो निवासार्थमपवरकः, तत्र च कार्मणशरीरनामकमपवरकगवाक्षाभिमुखक्षयोपशमाभिधानरन्ध्रं गर्भगृहकं, तत्र च चित्ताभिधानमतितरलं वानरलीवरूपम् । मयोक्तं—बाढं समस्तमस्ति, गुरुणोक्तं—यद्येवं ततो गृहीतेनैव तेन सर्वेण तावद्भवता प्रव्रजितव्यं यतो न शक्यते तदकाण्ड एव विरहयितुं, मयोक्तं—यदाज्ञापयति नाथः, ततः प्रव्रजितोऽहं गुरुणोक्त—भद्र ! त्वयेदं वानरलीवरूपं सुरक्षितं कर्तव्यं, मयोक्तं—यदादिशति नाथः, केवलं कुतो भयमिति कथयन्तु भगवन्तः, ततोऽभिहितमनेन मुनिना—यथा सौम्य ! विद्यन्ते तत्र गर्भगृहके वसतोऽस्य भूयांसः खलूपद्रवकारिणो, यतो भक्ष्यते वराकमिदं कषायनामकैश्चट्टुलमूषकैः तरलतरीक्रियते नोकषायाख्यैर्धवट्टभिर्दुष्टवृश्चिकैः खाद्यते संज्ञाख्याभिः क्रूरमार्जारीभिः विलुप्यते रागद्वेषनामकाभ्यां भीषणकोलोन्दुराभ्यां ग्रस्यते महामोहसंज्ञेनातिरौद्रमार्जारेण उपताप्यते परीषहोपसर्गाह्वैः सततं त्रोटयद्भिर्दंशमशकैः विह्वलीक्रियते दुष्टाभिसन्धिवितर्काख्यैर्वज्रतुण्डैर्भक्षयद्भिर्मत्कुणैः उपद्रूयतेऽलीकचिन्तासंज्ञाभिर्गृहकोकिलिकाभिः अभिभूयते दारुणाकारैः प्रमादकृकलासैः तुद्यतेऽनवरतमविरतिजाम्बालनामकेन षट्पदिकाजालेन अन्धीक्रियते मिथ्यादर्शनसंज्ञेनातिघोरेण तमसा । तदेवमेते भद्र ! तत्र गर्भगृहके सततस्थायिनोऽस्य वराकस्योपद्रवविशेषाः, तदिदमेवमादिभिरुपद्रवैरुपद्रुत चित्ताभिधानं वानरलीरूपं वेदनाभरनिःसहतया निपतति रौद्रध्यानाभिधाने सुज्वलितखादिराङ्गारकुण्डे क्वचित्पुनः प्रविशत्यनेककुविकल्पाख्यलूतातन्तुजालावनद्धमुखे भीषणे गाढमार्तध्यानाभिधाने महाविले, तदिदमप्रमत्तेन भवता सततं रक्षणीयम् ।

[चित्तवानरलीवसुरक्षा]

मयोक्तं-भदन्त ! कः पुनरस्य रक्षणोपायः ? गुरुराह—भद्र ! ये ते विद्यन्ते तत्रापवरके पञ्च

गवाक्षास्तेषां द्वारेषु विषयनामानः पञ्चैव विषवृक्षा विद्यन्ते, ते चातिदारुणाः स्वरूपेण, यतस्ते नाम्नाऽपीदं वानरलीवरूपं विह्वलयन्ति गन्धेनापि घूर्णयन्ति दर्शनेनापि तरलयन्ति स्मरणेनापि मारयन्ति स्पर्शनेनास्वादनेन च पुनर्यदिदं निपातयन्ति तत्र किमाश्चर्यं ? ते चास्यामीभिरुपद्रवैरुपद्रुतस्य विह्वलतया सहकाराम्रका इति प्रतिभासन्ते, ततो निर्गच्छति तदभिमुखं तैर्गवाक्षकैर्गाढाभिलापेण रज्यते सुन्दराणीति बुद्ध्या केषुचित्तत्फलेषु विद्वेष्टि न सुन्दराणीति बुद्ध्या कानिचित्तत्फलानि चंभ्रमीति लौल्यातिरेकेणानवरत तच्छाखान्तरेषु लुठति नितरामर्थनिचयसंज्ञे तदधोवर्तिनि पत्रफलकुसुमरजःकचवरे, ततस्तेषु परिभ्रमदिदमुद्गुण्ड्य कर्मपरमाणुनिचयसंज्ञेन तदीयफलकुसुमरेणुना आर्द्रीक्रियते भोगस्नेहनामकेन मकरन्दबिन्दुनिस्यन्दसन्दोहवर्षेण । ततो मया गृहीतवचनभावार्थेन चिन्तितं–अये ! वृक्षास्तावदेते सामान्यरूपाः शब्दरूपरसगन्धस्पर्शा भविष्यन्ति कुसुमानि पुनरपरिस्फुटास्तद्विशेषाः फलानि तु परिस्फुटास्तद्विशेषा एव शाखान्तराणि पुनस्तदाधारवस्तुस्थानानि, तेषु च सञ्चरणं चित्तवानरलीवरूपस्य लोकोपचारेणाभिहितं, यदाहुर्लौकिकाः 'अमुत्र गतं मे चित्तमि'ति । एवं च स्थिते बुद्धं मयेदं तावत्समस्तं मुनिना भाषितं भोत्स्यते चेति विचिन्त्य मयाऽभिहितं–भदन्त ! ततस्ततः ? गुरुराह–ततो भद्र ! भोगस्नेहार्द्रीभूते कर्मपरमाणुप्रचयरजोगुण्डिते तत्र चित्तवानरलीवरूपशरीरे विकलतया स्थैर्यस्य भेदकतया विषरूपत्वात्तस्य रजसः संजायन्ते क्षतानि संपद्यते जर्जरीभावः, व्याप्यते समन्तान्मध्यदेशः दह्यते विषरूपेण तेन रजसा, ततो भजते कृष्णरूपतां तच्छरीरं क्वचित्संपद्यते रक्तीभावः, ततस्तत्र गर्भगृहके वर्तमानं तत्तेषां सर्वेषां पूर्वोक्तानामुपद्रवविशेषाणां गम्य भवति ततो बाध्यते नानाविध तैरिति ।

[अप्रमाद वज्रदण्डेन चित्तसुरक्षा]

तदेष भद्र ! तस्य चित्तवानरलीवरूपस्य संरक्षणोपायो यदुत–गृहीत्वा स्ववीर्यसंज्ञेनात्महस्तेन दृढमप्रमादनामकं वज्रदण्डं तच्चित्तवानरलीवरूपं तैरक्षनामकैर्गवाक्षैर्विषयवृक्षफलभक्षणस्पृहया निर्गच्छदास्फोट्य निवारणीयं तथापि चटुलतया निस्सरत्पुनः पुनराक्रोशनीय, ततो निषिद्धबहिर्गमनस्य निवृत्तसहकाराम्रकाभिलापस्य तस्य शोषमुपयास्यत्यसौ भोगस्नेहसंपादितः शरीरार्द्रीभावः, ततः शुष्कशरीरात्परिशटिष्यति प्रतिक्षणं तद्रजो रोक्ष्यन्ति क्षतानि अपयास्यति जर्जरता न भविष्यति कृष्णता विनङ्क्ष्यति रक्तीभावः आविर्भविष्यति धवलता सपत्स्यते शरीरस्थैर्यं सजनिष्यते दर्शनीयता, ततो न भविष्यन्ति ते प्रागुपवर्णिताः तत्रापि गर्भगृहके वर्तमानस्य तस्योपद्रवविशेषाः । किं च तेऽपि मार्जारमूषककोलोन्दुरादयस्तस्य वानरलीवरूपस्योपद्रवकारिणः समस्तास्तेनैवाप्रमादनामकेन वज्रदण्डेन भवता चूर्णनीयाः, ततस्तेषु संचूर्णितेषु तद्गर्भगृहकमार्गमञ्चरिष्णुवानरलीवरूपं निर्बाध भविष्यति । तदय भद्र ! तस्य सरक्षणोपायः । मयोक्त–भदन्त ! तत्कि पुनस्तेनेत्थं संरक्षितेन मम सेत्स्यति प्रयोजन ? भगवताऽभिहितं–ननु भद्र ! यद्भवतोऽभिप्रेतं शिवालयमठगमनं तस्यैतदेव चित्तवानरलीवरूप सुसंरक्षितमुपायभूतं वर्तते ।

एतद्धि रक्षितं सम्यक्, सभवत्येव कारणम् । निर्बाधं गमनस्योच्चैः, पुरुषस्य शिवालये ॥४४६॥
ततश्चेत्तत्र ते भद्र ! विद्यते गमने मतिः । अस्य संरक्षणेऽप्येवं, ततो यत्नं समाचर ॥४४७॥

[चित्तवानरचक्रकम्]

किं च–चक्रकं बहुकालीनं, वर्तते भद्र ! दुस्तरम् । अस्य वानरलीवस्य, यदिदं ते मयोदितम् ॥४४८॥

तथाहि—तत्तैलपद्रवैर्गाढं, पीडितं मूषकादिभिः । वेदनाविह्वलं मोहादाक्रन्देषु प्रवर्तते ॥४४९॥
ततश्च—गुण्ड्यते रजसा भूयो, भिद्यते स्यन्दबिन्दुभिः । ततः क्षतानि जायन्ते, खाद्यन्ते मूषिकादिभिः ॥४५०॥
ततस्तद्भक्षणासक्ता, वर्धन्ते मूषिकादयः । भूयश्च बाध्यमानं तैराक्रन्देषु धावति ॥४५१॥
पुनर्गुण्डनमेवास्य, स्नेहेन पुनरार्द्रता । पुनश्च क्षतसम्पत्तिः, पुनः सर्वेऽप्युपद्रवाः ॥४५२॥
तदेव चक्रके भद्र ! गतमेतदनिष्ठिते । न मुक्त्वा तारकं रक्षां निरोधं हन्त जायते ॥४५३॥
ततो योऽयं मया प्रोक्तो, हेतुः संरक्षणे वरः । स एष भावना नित्यमनुष्ठेयो नरोत्तम ! ॥४५४॥
ततो गृहीतभावार्थस्तदाऽहं पर्यचिन्तयम् । इदं मम भदन्तेन, प्रपञ्चेन निवेदितम् ॥४५५॥
यदुत—रागाद्युपद्रुतं चित्तं, विषयेषु प्रवर्तते । तेषु चास्य प्रवृत्तस्य, वर्धते कर्मसञ्चयः ॥४५६॥
अङ्गाङ्गीभावमाधत्ते सा भोगस्नेहवासना । ततः संसारसंस्काराः, संजायन्ते क्षतोपमाः ॥४५७॥
ततोऽत्र प्रभवन्त्येव, सर्वे रागाद्युपद्रवाः । मूषकादिसमास्ते च, विवर्धन्ते प्रतिक्षणम् ॥४५८॥
भूयश्च प्रेर्यमाणं तैर्विषयेष्वेव धावति । पुनः कर्म पुनः स्नेहः, पुनः सर्वेऽप्युपद्रवाः ॥४५९॥
अदृष्टतलपर्यन्ते, तदेवंविधचक्रके । निमग्नं दुःखकोटीभिश्चित्तमेतन्न मुच्यते ॥४६०॥
वज्रदण्डः समाख्यातो, गुरुणाऽनेन रक्षकः । गृहीतो वीर्यहस्तेन, सोऽप्रमादोऽस्य सततम् ॥४६१॥
ततश्चैवं करिष्यामि, सततं सुसमाहितः । गुरूद्दिष्टाप्रमादस्य, तस्याहमनुशीलनम् ॥४६२॥ यदुत—
स्वप्नोऽयमिन्द्रजालं वा, हरिश्चन्द्रपुरं तथा । शरीरं भूतयो भोगा, यच्चान्यत्स्वजनादिकम् ॥४६३॥
एवं निश्चित्य सद्बुद्ध्या, भावयिष्यामि तत्त्वतः । ततः संसारजालान्मे, चित्तबन्धो निरस्यति ॥४६४॥
अनाद्यभ्यासयोगेन, निस्सरच्च पुनः पुनः । आत्मन्येवाऽऽहितं चित्तं, धारयिष्यामि यत्नतः ॥४६५॥

[चित्तवानरशिक्षादानम्]

तथेदं शिक्षयिष्यामि, चित्तं किं निर्गतेन ते ? । बहिः स्वरूपे तिष्ठ त्वं, येनानन्दे निलीयसे ॥४६६॥
संसारस्ते बहिश्चारः, स च दुःखभराकरः । मोक्षः स्वरूपेऽवस्थानं, स चानन्दभराकरः ॥४६७॥
ततो बहिर्न युक्तं ते, निर्गन्तुं सुखलिप्सया । युक्तमात्मन्यवस्थानं, चित्त ! हित्वा बहिर्भ्रमम् ॥४६८॥
आत्मन्यवस्थितस्येह, जन्मन्येव, सुखं तव । बहिर्निःसरतोऽत्रैव, दुःखं यद्यदि बुध्यसे ॥४६९॥ तथाहि—
सर्वं दुःखं परायत्तं, सर्वमात्मवशं सुखम् । बहिश्च ते पराधीनं, स्वाधीनं सुखमात्मनि ॥४७०॥
अन्यच्च—
यदात्मनो बहिर्भूतं, वस्तुजातं तव प्रियम् । तत्सर्वं नश्वरं दुःखं, निःस्वभावं मलाविलम् ॥४७१॥
अतस्तदर्थं हे चित्त, ! किं वृथा परिताम्यसि । किं वाऽऽत्मानं विमुच्येत्थं, बंभ्रमीषि पुनः पुनः ॥४७२॥
यदि स्यात्सुन्दरं किंचिद्बहिस्तस्य निवारणम् । संभवेत्तव दुःखा(सौख्या)य, तच्च चित्त ! न विद्यते ॥४७३॥
दह्यमानं पुनर्घोरैर्भोगाङ्गारैर्निवारितम् । आत्मन्यानन्दरूपे त्वं, मुधा नाम्यसि धारितम् ॥४७४॥
अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यानन्दप्रपूरिते । चित्त ! कृत्वाऽऽत्मनि स्थानं, भव शीघ्रं निराकुल ॥४७५॥
अत्र ते तिष्ठतो नित्यं, भोगस्नेहस्य शोषणे । संजाते जायतेऽवश्यं, रजःपातो न संशयः ॥४७६॥ ततश्च—
संक्लिष्टवासनाजन्या, व्रणा रोहन्ति दारुणाः । ततस्तद्बाधनिर्मुक्तं, न त्वं भोगेषु रज्यसे ॥४७७॥
पिण्डीप्राया बुधैः प्रोक्ता, भोगाश्चित्तक्षतेषु ते । अत एव मुहूर्तं ते, भासन्ते स्वास्थ्यकारिणः ॥४७८॥

मुहूर्त सुखमाधाय, ते भुक्त्वा क्षतवर्धनम्। संक्लिष्टवासनाध्यानाज्जनयन्ति सुदारुणम् ॥४७९॥
इतरथा-संक्लिष्टवासनोन्मुक्ते रूढे तत्र शरीरके । निर्बाधे सततानन्दे, तदिच्छैव न जायते ॥४८०॥
तदेवं संस्थिते चित्त! हित्वा सर्वं बहिर्भ्रमम् । स्वरूपे सततं तिष्ठ, लीनं हन्त निरातुरम् ॥४८१॥
एवं च शिक्षयित्वेदं, चित्तं सम्यग्विधानतः । अस्यैव रक्षणोद्युक्तो, भविष्यामि समाहितः ॥४८२॥
तथाऽनुशिष्टमप्येतच्चलत्येव दुरात्मकम् । यत्नान्निगृह्यमाणमप्यापि, बहिर्धावत्पुनः पुनः ॥४८३॥
कषायनोकषायाद्या, ये चोपद्रवकारिणः । अस्य तानपि निःशेषान्, हनिष्याम्यप्रमादतः ॥४८४॥
विशोदयेन ध्यानेन, प्रतिपक्षनिषेवया। यास्यन्ति प्रलयं सर्वे, तूर्णं रागाद्युपद्रवाः ॥४८५॥
ततस्तेषु प्रलीनेषु, भविष्यन्ति न बाधकाः । परीषहोपसर्गाद्या, बहिस्थास्तदुपद्रवाः ॥४८६॥
आत्मारामं ततो भूत्वा, मच्चित्तमबहिश्चरम् । रागाद्युपद्रवैर्मुक्तं, मोक्षायैव घटिष्यते ॥४८७॥
एवं परिकल्प्याहं, हृदये सुविनिश्चितः । तदेव कुर्वन्ननिशमेष तिष्ठामि साम्प्रतम् ॥४८८॥
अकलङ्केनोक्तं-साधु भदन्त! साधु सम्यग् बुद्धं भदन्तेन गुरुवचनं सम्यक् चारब्धं तदाचरणं मयाऽपीदं चक्रकं भगवन्निवेदितमाकर्ण्यान्यदपि चक्रकमभ्यूहितं तद्युक्तमयुक्तं वाऽऽकर्णयतु भगवान्, मुनिनोक्तं-निवेदयतु भद्रः, अकलङ्केनोक्तं-

[चित्तस्य द्वैविध्यम्]

चित्तमेतद् द्विधा तावद् द्रव्यतो भावतस्तथा । आद्यं पर्याप्तियुक्तात्माऽऽगृहीतं पुद्गलात्मकम् ॥४८९॥
तत्र प्रयुक्तो जीवस्तु, भावचित्तं निगद्यते । तत्कार्मणशरीरस्थं, तेन भिन्नं निवेद्यते ॥४९०॥
तच्चित्तं नियमाज्जीवो, जीवश्चित्तं न वा भवेत् । यतः केवलिनो जीवा, भावचित्तविवर्जिताः ॥४९१॥
एवं च स्थिते-
मिथ्याज्ञानविपर्यासाज्जीवो रागादिसंगतः। सततं दुःखरूपेषु, सुखबुद्ध्या प्रवर्तते ॥४९२॥
ततः कर्माणुसङ्घातमादत्ते स्नेहतन्तुभिः । ततो जन्मान्तरारम्भं, विधत्ते तद्वशादयम् ॥४९३॥
पुनस्तत्र विपर्यासः, पुना रागादिसन्ततिः । पुनश्च विषयाकांक्षा, पुनस्ते स्नेहतन्तवः ॥४९४॥
पुनश्च कर्मग्रहणं, पुनर्जन्मसमुद्भवः । पुनस्तत्र विपर्यासः, पुना रागादिकः क्रमः ॥४९५॥
एवं यावदविच्छिन्नं, विपर्यासादिचक्रकम् । जीवस्य वर्तते तावदनिष्ठा भवपद्धतिः ॥४९६॥
इदमभ्यूहितं नाथ! मया चक्रकमञ्जसा । युक्तमेतदयुक्तं वा, यूयं विज्ञातुमर्हथ ॥४९७॥
मुनिनोक्तं महाभाग! युक्तमेतन्न संशयः । कथं वाऽयुक्तवेत्तारो, भवन्तीह भवादृशाः? ॥४९८॥
मयाऽपीदं ततो ज्ञातं, गुरुभिश्च समर्थितम् । अनिष्ठितभवे हेतुर्विपर्यासादिचक्रकम् ॥४९९॥

[विपर्यासवर्जन विवेक]

अत एव परित्याज्यो, विपर्यासो विवेकिना । तदुच्छेदे प्रलीयन्ते, निर्मूलत्वेन शेषकाः ॥५००॥
अयमेव विवेकोऽत्र, तत्त्वज्ञानमिदं मतम् । अयं निरास्रवो धर्मो, यद्विपर्यासवर्जनम् ॥५०१॥
अविपर्यस्तविज्ञातुः, पुरुषस्याप्रमादिनः। मनोविकारजालं हि, स्वस्माद्भिन्नं प्रकाशते ॥५०२॥
ततो विविक्तमात्मानं, सदानन्दं प्रपश्यतः। **नास्य संजायते द्वेषो, दुःखे नापि सुखे स्पृहा ॥५०३॥**
निरभिष्वङ्गचित्तोऽसौ, ततः कर्माणुसञ्चयम् । विषयस्नेहमुक्तत्वान्न विधत्ते कदाचन ॥५०४॥

[सम्यक्प्रवृत्ते साध्यसिद्धि]

ततोऽसौ बीजविरहान्निःस्पृहत्वाद् भवान्तरम् । गुरुतरत्नाग्भेतानवक्रकं निनिवर्तते ॥५०५॥
एवं च स्थिते-यत्कर्मबन्धनं प्रोक्तं, यच्चेदं भवचक्रकम् । अनयोर्यो विज्ञानाति, प्रवर्तनानिवर्तने ॥५०६॥
स किं शरीरभोगेषु, धने वा भवभाविनि। अन्यत्र वा पदार्थे भो ! रागं कुर्यान्महामते ? ॥५०७॥ युग्मम् ।
यश्च सांसारिके कुर्यात्पदार्थे चित्तनिर्वृतिम् । नात्रापि तत्त्वतो ज्ञानं, तेनेदं चक्रकद्वयम् ॥५०८॥
यतः-फलं ज्ञानक्रियायोगे, सर्वमेवोपपद्यते । तयोरपि च तद्भावः, परमार्थेन नान्यथा ॥५०९॥
साध्यमर्थं परिज्ञाय, यदि सम्यक् प्रवर्तते । ततस्तत्साधयत्येव, तथा चाह महामनिः ॥५१०॥
सम्यक्प्रवृत्तिः साध्यस्य, प्राप्त्युपायोऽभिधीयते । तदप्राप्तावनुपायत्वं, न तस्या उपपद्यते ॥५११॥
असाध्यारम्भिणस्तेन, सम्यग्ज्ञानं, न जातुचित् । साध्यानारम्भिणश्चेति, इयमन्योऽन्यसंश्रयम् ॥५१२॥
अत एवागमज्ञस्य, या क्रिया सा क्रियोच्यते । आगमज्ञोऽपि यस्तस्यां, यथाशक्त्या प्रवर्तते ॥५१३॥
चिन्तामणिस्वरूपज्ञो, दौर्गत्योपहतो न हि । तत्प्राप्त्युपायवैचित्र्ये, यन्यन्यत्र प्रवर्तते ॥५१४॥
न चासौ तत्स्वरूपज्ञो, योऽन्यत्रापि प्रवर्तते । मालतीगन्धगुणविदर्भे न रमते गलिः ॥५१५॥
तदेवं स भवाभावान्मुक्तिमाप्नोति सन्नरः । अलमत्र प्रसङ्गेन, सम्यगभ्यूहितं त्वया ॥५१६॥
तदिदं गुरुभिर्भद्र ! कर्तव्यं मे निवेदितम् । तस्य वानरलीरस्य, गमनं परिरक्षणम् ॥५१७॥
अकलङ्केनोक्त-केनोपायेन तन्नाथ ! वानर नयनक्षमम् । शिवालयमठे तत्र, गुरुणा प्रतिपादितम् ? ॥५१८॥

[लेश्याषट्कपरिचयः]

मुनिनोक्तं--आकर्णयतु भद्रः, प्रोक्तोऽहं तदाऽनेन भगवता यथा—सौम्य ! तत्र गर्भगृहके लेश्या इति गोत्रेण प्रसिद्धाः कृष्णनीलकपोततैजसीपद्मशुक्लनामानः षडङ्गनाः परिपालिका विद्यन्ते, ताश्च तत्रैव गर्भगृहके समुत्पन्नास्तस्यैव समृद्ध्या संवर्धितास्तस्यैव चोपचयकारिण्यो वर्तन्ते, तासां च मध्ये प्रथमास्तिस्रो नार्यो यथाक्रमं क्रूरतमक्रूरतरक्रूराः स्वरूपेण कारणमनर्थपरम्पराणां शत्रुभूतास्तस्य वानरलीवरूपस्याशुभवृद्धि-हेतुभूतास्तस्य गर्भगृहकस्य धारिकास्तत्राप्यत्रैव दुःखसङ्कुले हट्टमार्गे निवारिकाः मठगमनस्य । उपरितनाः पुनर्भद्र ! तिस्रो नार्यो यथाक्रमं शुद्धशुद्धतरशुद्धतमाः स्वरूपेण कारणमाह्लादपरम्पराणा बन्धुभूतास्तस्य वानर-लीवरूपस्य शुद्धवृद्धिहेतुभूतास्तस्य गर्भगृहस्य निःसारिकास्तत्राप्यस्मादसातसन्ततिपूरिताद्धट्टमार्गादनु-कूलकारिका मठगमनस्य, ताभिश्च षड्भिरपि नारीभिर्विरचितस्तत्र गर्भगृहके स्वसामर्थ्यादुपर्युपर्यारोहणार्थं **परिणामो** नाम दर्दरः । तत्र च ताभिरेव नारीभिर्यथानुपूर्व्यं उपर्युपरि विरचिताः प्रत्येकमसंख्येयाः समस्ता अप्यसंख्येया विद्यन्ते **अध्यवसायस्थाना**भिधानाः पदिकाः । तया प्रथमया विरचितास्तावदसंख्येयाः प्रथमाः कृष्णवर्णाः एवं द्वितीयया द्वितीया नीलावभासाः तृतीयया तृतीयाः कपोताभाः चतुर्थ्या च चतुर्थ्यस्तेजोभास्वराः पञ्चम्या पञ्चम्यो धवलपद्मच्छायाः षष्ठ्या षष्ठ्यो विशुद्धस्फटिकनिर्मलास्ताः पदिका इति ।

तत्राद्ययोपि त्रितयनिर्मितासु पदिकासु वर्तमानं तद्वानरलीवरूपमुत्प्लुत्योत्प्लुत्य बलात् धावति गवाक्षकेभ्यो-ऽपाम्रकेषु लुठति तत्र रजःकचवरे गुण्ड्यते तेन रजसा भिद्यते तैः स्नेहनिष्यन्दबिन्दुभिः, ततस्तथा क्षतशतैर्ज-र्जरीभूतं तेषां मूषकमार्जारकोलोन्दुरादीनां सर्वेषामुपद्रवविशेषाणामभिभवनीयं भवति, ततः क्वचिन्नष्टमिव लक्ष्यते क्वचिद् घूर्णितमवतिष्ठते क्वचित् क्रूरतां धारयति सर्वथा सततसंतप्तं तदास्त इति तत्रापि चानन्तदुःख-

परम्पराकारणं संपद्यते, तस्माद्भवता तद्वानरलीवं ताभ्यः पदिकाभ्यो निःसारणीयमुपर्यारोहणीयम् । ततश्चतुर्थयोपित्रिर्मितासु तासु पदिकासु प्रतिक्षणमारोहतस्तस्य वानरलीवरूपस्य स्तोकीभविष्यति सन्तापः प्रतनुतां यास्यन्ति बाधाकारिणस्ते मूषकादयः क्षुद्रोपद्रवाः मनाक् स्वल्पीभविष्यत्याम्रकाभिलाषः ततः शोपमीपदुपयास्यति सा मकरन्दनिष्यन्दार्द्रता परिशटिष्यति किंचिद्रजः ततो लप्स्यते मनाक् सुखासिका भविष्यति तदपि तेजोभास्वरं वर्णेन, ततः पञ्चमाङ्गनाघटितपदिकासु भवता तदारोहणीयं, तासु चारोहतस्तस्य स्तोकतरीभविष्यति संतापः प्रतनुतरा भविष्यन्त्युपद्रवाः स्वल्पतरः संपत्स्यतेऽपथ्याम्रकाभिलाषः शुष्कतरं भविष्यति शरीरकं निपतिष्यति तस्माद् बहुतरो रेणुनिचयः, ततो मनागस्य रोक्ष्यन्ति क्षतविशेषाः आस्कन्दिष्यतीदं महाह्लादं धारयिष्यति धवलतां वर्धिष्यति शरीरेण भविष्यति विशालतरं, ततः षष्ठललनाविरचितपदिकासु भवता तदारोहणीयं, तासु चारोहतस्तस्य स्तोकतमीभविष्यति दुःखासिका प्रलयं यास्यन्त्युपद्रवविशेषाः अत्यन्तं स्वल्पतमीभविष्यत्याम्रकाभिलाषः त्रुटिष्यति रजःकचवरलोठनेच्छा सर्वथा शोषमुपयास्यति मकरन्दरसार्द्रता, ततः शुष्कतरशरीराद्विश्लेषमनुभविष्यति भूयिष्ठो रेणुनिचयः संजनिष्यते तत्सतताह्लादं भविष्यति शुद्धस्फटिकनिर्मलता ।

[शुभलेश्यारोहेण लाभा]

अन्यच्च-तत्र योपित्त्रितयसंपादितपदिकामार्गेऽनुक्षणमारोहतस्तस्य लगिष्यति मन्दः सुखकारितया शीतः सन्तापहारितया सुरभिः सद्भूतगुणगणकमलवनमकरन्दरेणुधारितया धर्मध्यानाभिधानः पवनः, तत्सम्बन्धे भविष्यति तत्सततं प्रमुदितं, इतश्च भीतमिव तेभ्योऽधस्तनेभ्यो मूषकमार्जारकोलोन्दुरवृश्चिककृकलासगृहकोकिलिकादिभ्यो नानाविधोपद्रवेभ्यः समुद्विग्नमिव तेन विततेन बहलान्धकारेण आद्यनारीत्रयविरचित पदिकामार्गमपहाय तत्र पश्चिमयोपित्त्रयविनिर्मिते भयविरहिते सततप्रकाशे पदिकामार्गे निलीनमास्ते तस्य वानरलीवरूपस्य सम्बन्धि वानरयूथं, ततस्तत्रारोहतस्तस्य तदशेषमधिष्ठितं प्रशमदमसन्तोषसंयमसद्बोधादिनामकवानरपरिवारेण विशुद्धधर्ममहावानरेण समन्वितं धृतिश्रद्धासुखासिकाविविदिषाविज्ञप्तिस्मृतिबुद्धिधारणामेधाक्षान्तिनिःस्पृहतादिसंज्ञाभिर्वरवानरीभिः सङ्कुलं धैर्यवीर्यौदार्यगाम्भीर्यशौण्डीर्यज्ञानदर्शनतपःसत्यवैराग्याकिञ्चन्यमार्दवार्जवब्रह्मशौचादिनामकैर्वरवानरलीवरूपैराविर्भविष्यति किंचित्कदाचित्कस्यांचित्पदिकायां, तच्च तस्य भवदीयवानरलीवरूपस्य शरीरं जीवितं सर्वस्वं सहजमतिहितकरणशीलं वर्तते । किंच-तद्वानरयूथमपि स्थिरं स्वरूपेण दिनकरभास्वरं वर्णेनाह्लादहेतुर्जगतो निरभिलाषुक तेषु गवाक्षद्वारस्थितेषु सहकाराम्ररूपतया कल्पितेषु विषयवृक्षेषु विगतस्पृहं तत्रार्थनिश्चयसम्पत्फलकुसुमरजःकचवरलोठने, ततस्तेनात्मीयवानरयूथेन सह मीलित तत्तावक चित्तवानरलीवमत्यन्तप्रमुदितं शीघ्र यास्यत्युपर्युपरिपदिकासु यावत्पर्यन्तनारीविरचितपदिकामार्गं, तत्र च करिष्यति तस्य तद्वानरयूथं शुक्लध्यानाभिधानेन गोशीर्षचन्दनरसेन सेचनं, ततोऽतिक्रान्तेऽर्धमार्गमात्रे गाढानन्दनिर्भरं भविष्यति तन्निःसहं, ततो नारोक्ष्यत्युपरितनपदिकासु, तस्मिश्चारूढे भद्र ! त्वमप्यारूढो भविष्यसि यतस्ते जीवितमन्तर्धनमात्मभूत च तद्वानरकं, ततो निःसहीभूतं तद्विमुच्य भवतोपरितनपदिकासु स्वयमेवारोहणीय, ततः पर्यन्ते पदिकामार्गमपि परित्यज्य स्वसामर्थ्येन स्थित्वा पञ्चह्रस्वाक्षरोद्गिरणमात्रकालं निरालम्बनतया गगने ततो विमुच्यापवरकमवरुज्य गर्भगृहक परित्यज्य वानरकं विधायोत्प्लवनं लङ्घयित्वा हट्टमार्गं गन्तव्यमेकक्रमेणोड्डीय तत्र

मठे स्थातव्यमनन्तकालं पूर्वगतलोकमध्येऽनुभाव्योऽनन्तानन्द इति । मयोक्तं–यदाज्ञापयति नाथः । तदेव-मनेनोपायेन भद्र ! तद्वानरकं तत्र मठे नयनक्षमं गुरुभिर्मे निवेदितमिति—

[लेश्यापरिणामोपनयः]

अथ निश्चित्य मौनीन्द्रं, सभावार्थमिदं वचः । ततोऽकलङ्कस्तं नत्वा, मुनिमित्थमरोचत ॥५१९॥
चारु चारूपदिष्टं ते, गुरुणा मुनिसत्तम ! । सुन्दरं भवताऽऽरम्भि, युक्तमेतद्भवादृशाम् ॥५२०॥
ततोऽगृहीतसङ्केते ! सम्यग्बोधविधित्सया । सोऽकलङ्को महाभागो, मां प्रतीदमभाषत ॥५२१॥
एवं स्फुटाक्षरैः सर्वं, यदनेन निवेदितम् । तत्त्वया विदितं भद्र ! किं वा नो ? घनवाहन ! ॥५२२॥
अनेन हि समाख्यातं, क्लेशनिर्मुक्तमञ्जसा । चित्तमेवात्मनो मुख्यं, संसारोत्तारकारणम् ॥५२३॥
तल्लेश्यापरिणामेन, क्लेशनिर्मोचनक्षमम् । विशुद्धाध्यवसायेषु, गच्छदेवोपपद्यते ॥५२४॥
किं च–न केवलं शिवस्योच्चैश्चित्तमेवेह कारणम् । भवस्यापि तदेवेति, मुनयः संप्रचक्षते ॥५२५॥
यतोऽपवरको योऽयं, यच्चेदं गर्भगेहकम् । यच्च वानरकं भद्र ! तत्सर्वं प्राणिनां समम् ॥५२६॥
ततश्च–यास्ता भो वर्णिताः पूर्वं, पदिकास्तत्र दर्दरे । तद्वानरं तदारूढं, विचित्रभवकारणम् ॥५२७॥
यस्यां यस्यां तदारुह्य, करोत्युत्प्लवनं किल । शीघ्रं तत्पदिकास्थेषु, हट्टे नयति देहिनः ॥५२८॥
मयोक्तं–वयस्य ! कोऽस्य भाषितस्यार्थः ? अकलङ्केनोक्तं–आकर्णय–
यल्लेश्याध्यवसायेषु, म्रियन्ते किल देहिनः । आरूढचित्तास्तादृक्षु, जायन्ते ते भवान्तरे ॥५२९॥
असङ्ख्याध्यवसायेषु, तच्चित्तं वर्तमानकम् । विचित्रयोनिरूपस्य, भवस्यास्य विधायकम् ॥५३०॥
सदोषं भवहेतुस्ते, ममान्येषां च देहिनाम् । निर्दोषं मोक्षहेतुस्ते, चित्तं भो घनवाहन ! ॥५३१॥
रत्नेदं चित्तसद्रत्नं, तस्मादन्तर्धनं परम् । धर्मोऽधर्मः सुखं दुःखं, यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥५३२॥
जीवाच्च भावचित्ताच्च, नास्ति भेदः परस्परम् । आत्माऽतो रक्षितस्तेन, चित्तं येनेह रक्षितम् ॥५३३॥
अर्थार्थं भोगलौल्येन, यावद्धावति सर्वतः । चित्तं कुतस्त्यस्ते तावत्सुखगन्धोऽपि विद्यते ? ॥५३४॥

[चित्तप्रयुक्त परमसुखम्]

यदेदं निःस्पृहं भूत्वा, परित्यज्य बहिर्भ्रमम् । स्थिरं संपत्स्यते चित्तं, तदा ते परमं सुखम् ॥५३५॥
भक्ते स्तोतरि कोपान्धे, निन्दाकर्तरि चोत्थिते । यदा समं भवेच्चित्तं, तदा ते परमं सुखम् ॥५३६॥
स्वजने स्नेहसम्बद्धे, रिपुवर्गेऽपकारिणि । स्यात्तुल्यं ते यदा चित्तं, तदा ते परमं सुखम् ॥५३७॥
शब्दादिविषयग्रामे, सुन्दरेऽसुन्दरेऽपि च । एकाकारं यदा चित्तं, तदा ते परमं सुखम् ॥५३८॥
गोशीर्षचन्दनालेपिवासीच्छेदकयोर्यदा । अभिन्नचित्तवृत्तिः स्यात्तदा ते परमं सुखम् ॥५३९॥
सांसारिकपदार्थेषु, जलकल्पेषु ते यदा । अश्लिष्टं चित्तपद्मं स्यात्तदा ते परमं सुखम् ॥५४०॥
दृष्टेषूद्दामलावण्यबन्धुराङ्गेषु योषिताम् । निर्विकारं यदा चित्तं, तदा ते परमं सुखम् ॥५४१॥
यदा सत्त्वैकसारत्वादर्थकामपराङ्मुखम् । धर्मे रतं भवेच्चित्तं, तदा ते परमं सुखम् ॥५४२॥
रजस्तमोविनिर्मुक्तं, स्तिमितोदधिसन्निभम् । निष्कल्लोलं यदा चित्तं, तदा ते परमं सुखम् ॥५४३॥
मैत्रीकारुण्यमाध्यस्थ्यप्रमोदोद्दामभावनम् । यदा मोक्षैकतानं तत्तदा ते परमं सुखम् ॥५४४॥
इति चित्तं विहायान्यो, नास्ति भो घनवाहन ! । नरस्य सुखसन्दोहे सिद्धो हेतुर्जगत्त्रये ॥५४५॥

[घनवाहनग्रन्थिदेशावाप्ति]

ततोऽहमकलङ्कस्य, तादृशैर्वचनामृतैः । सिक्तोऽगृहीतसङ्केते ! मनाक् प्रह्लादमागतः ॥५४६॥
यतः-निबिडाऽपीह तादृक्षैर्मम दृष्टान्तमुद्गरैः । विदारिताऽकलङ्केन, भूयसी कर्मपद्धतिः ॥५४७॥
कर्मस्थितिमतीत्याहं, भूयिष्ठां पूर्ववर्तिनीम् । अभ्यर्णः संस्थितो भद्रे ! कर्मग्रन्थेः सुदुर्भिदः ॥५४८॥
इतश्च-**वामदेव**प्रस्तावे, मया पूर्वं निवेदितम् । स्मरसि त्वं विशालाक्षि ! बुधसूरिचरस्तदा ॥५४९॥
ततोऽ**गृहीतसङ्केता**, तं प्रतीदमभाषत । न स्मरामि विशेषेण, स्मारयातस्त्वमेव मे ॥५५०॥
ततः संसारिजीवेन, सा प्रोक्ता तारलोचना । इदं निवेदितं भद्रे ! स्ववृत्तं बुधसूरिणा ॥५५१॥
यथा मत्पुत्रकः पूर्वं, देशकालिकया गतः । आगतश्च बहोः काला**द्विचारो** नाम दारकः ॥५५२॥
मार्गानुसारितायुक्तो, भवचक्रं निरीक्ष्य सः । समागतो रहस्यस्थो, मह्यमेतन्न्यवेदयत् ॥५५३॥
यदुत-चारित्रधर्मराजेन, महामोहनरेश्वरः । सबलो बलयुक्तेन, युध्यमानो मयेक्षितः ॥५५४॥
ततश्चारित्रधर्मीयं, सैन्यं निर्जित्य दर्पितः । वेष्टयित्वा स्थितस्तात ! महामोहनराधिपः ॥५५५॥
अथ तत्तादृशं वीक्ष्य, निरुद्धं तेन दर्पिणा । बलं चारित्रधर्मीयमागतोऽहं तवान्तिके ॥५५६॥
अगृहीतसङ्केतयोक्तं-
स्मृतं स्मृतं मया तात ! सर्वमेतन्निवेदितम् । पूर्वमेव त्वया घ्राणदोषदर्शनकाम्यया ॥५५७॥
अतः परं पुनर्यच्च, तात ! किंचिद्विचेष्टितम् । तन्महयं स्मृतपूर्वायै, सर्वमाख्यातुमर्हसि ॥५५८॥

[चारित्रधर्मसैन्यानुकूलकालावाप्ति·]

ततः संसारिजीवेन, सा प्रोक्ता मृगवीक्षणा । एषोऽहं कथयिष्यामि, समाकर्णय साम्प्रतम् ॥५५९॥
चित्तवृत्तिमहाटव्यां, तन्निरुद्धं समन्ततः । स्थितं चारित्रधर्मस्य, सैन्यं कालमनन्तकम् ॥५६०॥
ततस्तदाऽकलङ्कस्य, समीपे मम तिष्ठतः । सैन्ये यस्तत्र वृत्तान्तः, संपन्नस्तं निबोध मे ॥५६१॥
सर्वं विषण्णमालोक्य, तद्बलं रिपुपीडितम् । चारित्रधर्ममुद्दिश्य, सद्बोधः समभाषत ॥५६२॥
न कर्तव्यो विषादोऽत्र, देवास्माभिर्यतोऽधुना । मन्मनोरथवृक्षस्य, दृश्यते कुसुमोद्गमः ॥५६३॥
तथाहि-यावत्संसारिजीवोऽस्मान् , न जानीते महाप्रभुः । विपदस्तावदेवैता, देवास्माकं रिपूद्भवाः ॥५६४॥

[घनवाहनस्य सदागमेन सगम]

यदा तु स विजानीयादस्माकं रूपमञ्जसा । तदा संपोषितास्तेन, भवामो रिपुघातका ॥५६५॥
इयं च दृश्यते देव ! चित्तवृत्तिमहाटवी । यथाऽधुना मनाक् शुभ्रा, गाढतामसवर्जिता ॥५६६॥
तथाऽहं तर्कयामीदं, देवोऽसौ सर्वनायकः । अस्मद्विशेषविज्ञानसमीपे ननु वर्तते ॥५६७॥ युग्मम् ।
वयं हि तामसे मग्ना, न दृष्टास्तेन जातुचित् । अधुना दर्शनस्यास्ति, वैमल्यं तस्य कारणम् ॥५६८॥
एवं च स्थिते-तं कर्मपरिणामाख्यं पृष्ट्वा राजानमुत्तमम् । पार्श्वे संसारिजीवस्य, प्रेष्यतां कोऽपि मानवः ॥५६९॥
ततोऽनुकूलितस्तेन, देव ! कालेन भूयसा । भविष्यत्येव निर्मिथ्यं, सोऽस्मद्दर्शनलालसः ॥५७०॥
ततश्चारित्रधर्मेण, सद्बोधं प्रति भाषितम् । साधु भो गदितं साधु, ब्रूहि कः प्रेषणोचितः ? ॥५७१॥
ततश्चारित्रधर्माय, सद्बोधेन निवेदितम् । अयं **सदागम**स्तत्र, देव ! प्रस्थापनोचितः ॥५७२॥
बहुशः परिचयस्तस्य, यदाऽनेन भविष्यति । तदाऽस्मद्दर्शनाकांक्षा, तस्य संपत्स्यते ध्रुवम् ॥५७३॥

[सदागमस्य प्रेषणावसरः]

स कर्मपरिणामाख्यस्ततोऽस्मान् ज्ञापयिष्यति । तस्मै वयं भविष्यामस्ततः शत्रुविघातुकाः ॥५७४॥
ततश्चारित्रधर्मेण, प्रपन्नं मन्त्रिभाषितम् । प्रवर्तितो यथादिष्टं, मां प्रत्येष सदागमः ॥५७५॥
उक्तश्च राज्ञा सद्बोधः, किमेषोऽपि प्रहीयताम् ? । सम्यग्दर्शनसन्नामा, तस्य पार्श्वे महत्तमः ? ॥५७६॥
सद्बोधेनोदितं देव ! चारुरेष महत्तमः । तस्य संसारिजीवस्य, गतः पार्श्वे न संशयः ॥५७७॥
किं च–सदागमोऽपि सफलो, युक्तोऽनेनोपपद्यते । अनेन सहितः सोऽस्मान् , सर्वानप्यत्रमोक्ष्यते ॥५७८॥
किं तु नावसरोऽद्यापि, तेन नैष प्रहीयते । प्रस्तावरहितं कार्यं, न कुर्वन्ति विचक्षणाः ॥५७९॥
नृपतिनोक्तं–कदा पुनरहो मन्त्रिन् ! प्रस्तावोऽस्य भविष्यति । सद्बोधेनोदितं देव ! समाकर्णय कथ्यते॥५८०॥
यदा सदागमेनोच्चैः, रञ्जितोऽसौ भविष्यति । पार्श्वे तस्य तदा देव ! प्रेषणीयो महत्तमः ।५८१॥
भूयो भूयो युतोऽनेन, वीर्यमासादयेद्यदा । संसारिजीवः प्रस्तावस्तदाऽस्याप्युपपत्स्यते ॥५८२॥
ततोऽभ्युपगते वाक्ये, मन्त्रिणस्तेन भूभुजा । समागतः क्रमेणाय, मत्समीपे सदागमः ॥५८३॥
इतश्च–प्रयुक्तः पूर्वमेवासीन्महामोहादिभिर्बली । ज्ञानसंवरणो नाम, मत्समीपे नराधिपः ॥५८४॥
स हि चारित्रधर्मीयं, तिरोधत्ते सदा बलम् । महामोहमहानीकं, सर्वदा पोषयत्यलम् ॥५८५॥
एवं च स्थिते–तद्बलेनैव निश्चिन्ता, निर्नष्टभयकारणाः । स्थिता रिपून्निराकृत्य, महामोहादयः सदा ॥५८६॥
ततः सदागमं वीक्ष्य, प्रत्यासन्नं समागतम् । ज्ञानसंवरणः शीघ्रं, लीनलीनो व्यवस्थितः ॥५८७॥

[कोविदसूरिसमीपे सदागमप्रतिपत्तिः]

अथाकलङ्कः संप्राप्तो, ध्यानारूढस्य सन्निधौ । गुरोस्तस्य मया सार्धं, विहितं पादवन्दनम् ॥५८८॥
समाप्तध्यानयोगेन, धर्मलाभपुरःसरम् । सूरिणा कोविदाख्येन, तेन सम्भाषणं कृतम् ॥५८९॥
अथाकलङ्कपृष्टस्य, कुर्वतो धर्मदेशनाम् । तस्य पार्श्वे महात्मैष, मया दृष्टः सदागमः ॥५९०॥
ज्ञापितश्चाकलङ्केन, यथा भो घनवाहन ! । आराधनीयः साधूनामेषामेष सदागमः ॥५९१॥
एते ह्यस्य सदाऽऽदेशं, कुर्वन्ति नतमस्तकाः । एषोऽस्य सूरिर्जानीते, गुणसम्भारगौरवम् ॥५९२॥
तदेष ते हितो भद्र ! धर्माऽधर्मविवेचकः । अतः सदुपदेशार्थमेनं विज्ञातुमर्हसि ॥५९३॥
ममामीषां च साधूनां, सूरेश्चास्य परिस्फुटम् । यज्ज्ञानं भद्र ! तज्जातमस्मादेव सदागमात् ॥५९४॥
अतोऽयं कोविदाचार्यः, सम्बन्धं ते करिष्यति । सार्धं सदागमेनोच्चैरमुना हितकारिणा ॥५९५॥
ततस्त्वमस्य सम्बन्धात्सर्वमात्महिताहितम् । क्रमेण ज्ञास्यसे तात ! तदेनं शीघ्रमाश्रय ॥५९६॥
ततस्तदुपरोधेन, मया भद्रे ! सदागमः । प्रतिपन्नस्तदा किंचित्तुष्टेनैवान्तरात्मना ॥५९७॥
ज्ञापिताश्च गुणाः केचित्तेन कोविदसूरिणा । दर्शितं चास्य विज्ञानं, श्रद्धानं मम नाऽभवत् ॥५९८॥
केवलं—अकलङ्कोपरोधेन, विदधे चैत्यवन्दनम् । ददामि दानं साधुभ्यो, भावशून्यमहं तदा ।५९९॥
एवं च भद्रकः किंचिदकलङ्कानुरोधतः । संजातोऽहं तदा भद्रे ! नमस्कारादिपाठकः ॥६००॥
अकलङ्कस्तु संभाल्य, मातापित्रादिकं जनम् । प्रतिपन्नस्तदा दीक्षां, कोविदाचार्यसन्निधौ ॥६०१॥
ततश्च–सुसाधुपरिवारेण, तेन कोविदसूरिणा । सार्धं गतो विहाराय, सोऽन्यत्र मुनिचर्यया ॥६०२॥
इतश्च–यावत्सदागमस्तत्र, मत्समीपमुपागतः । महामोहबले तावज्जातं यत्तन्निबोध मे ॥६०३॥
ज्ञानसंवरणं ज्ञात्वा, सदागमभयातुरम् । ततः प्रोक्तो महामोहो, रागकेसरिमन्त्रिणा ॥६०४॥

[मोहपरिग्रहागमनम्]

एतावन्तं वयं कालं, निश्चिन्ता देव ! संस्थिताः । यद्बलेन स वित्रस्तो, ज्ञानसंवरणो नृपः ॥६०५॥
यतः-चष्टः सदागमस्तत्र, गत्वाऽभ्यर्णे व्यवस्थितः । देव ! संसारिजीवस्य, विरुद्धः स च भूपतेः ॥६०६॥
नोपेक्षणीयं देवेन, तस्मादेतत्प्रयोजनम् । कुठारच्छेद्यतां कुर्यान्नखच्छेद्यं न पण्डितः ॥६०७॥
अथामात्यवचः श्रुत्वा, महामोही महासभा । सा सदागमरोषेण, सर्वा क्षोभमुपागता ॥६०८॥
कृतभ्रुकुटिहुङ्कारा, दष्टोष्ठा भूमिताडिनः । एककालं महायोधाः, सर्वे भाषितुमुद्यताः ॥६०९॥
कथं !-मया स देव ! हन्तव्यो, गत्वा पापः सदागमः । इत्येकैको महायोधो, महामोहमभाषत ॥६१०॥
तेनापि गदितं वत्साः ! कुर्वन्तीदं भवादृशाः । किं तु स्वयं स हन्तव्यो, मया गत्वा दुरात्मकः ॥६११॥
येनाभिभूतः पापेन, ज्ञानसंवरणो नृपः । मत्प्रयुक्तः स्वहस्तेन, स मे वर्हणमर्हति ॥६१२॥
अन्यच्च-समुदायात्मको वत्सा ! वर्तेऽहं भो भवादृशाम् । अतो मया हतः सर्वैर्युष्माभिर्हत एव सः ॥६१३॥
तथा-गते मयि गताः सर्वे, यूयं घातार्थमर्थतः । अतो गच्छाम्यहं वत्सा ! यूयमत्रैव तिष्ठत ॥६१४॥
किं तु-प्रतिजागरणीयोऽहं, गतस्तत्रान्तरान्तरा । सर्वैरेव यथायोगं, भवद्भिः स्वामिवत्सलैः ॥६१५॥
अन्यच्च-योऽयं परिग्रहो वत्सा ! वल्लभो मे विशेषतः । रागकेसरिपुत्रस्य, सागरस्य वयस्यकः ॥६१६॥
नाहमेनं परित्यज्य, तत्र गन्तुं समुत्सहे । अयमेव महावीर्यः, सहायो मम सुन्दरः ।६१७॥ युग्मम् ।
ततश्च-अहमेकं गृहीत्वैनं, सत्सहायं परिग्रहम् । गच्छामि त्वरितं तत्र, सदागमजिघांसया ॥६१८॥
ततो विज्ञाय निर्बन्धं, सर्वैः प्रणतमस्तकैः । एवं विधीयतां देव ! तद्वचः परिपूजितम् ॥६१९॥
ततः समागतौ भद्रे ! महामोहपरिग्रहौ । मत्समीपं कृतोत्साहौ, मया चेमौ विलोकितौ ॥६२०॥
ततो मे स्नेहसम्बन्धस्ताभ्यां सार्धं सुनिर्भरः । अनाद्यभ्यासयोगेन, संजातस्तारलोचने ! ॥६२१॥
इतश्चोपरतस्तातः, स जीमूतो नरेश्वरः । अहं च स्थापितो राज्ये, बन्धुमन्त्रिमहत्तमैः ॥६२२॥
प्रणताः सर्वसामन्ता, रिपवो भृत्यतां गताः । ततः परिणतं राज्यं, भूरिभूतिमनोहरम् ॥६२३॥
स च पुण्योदयस्तस्य, मम राज्यस्य कारणम् । महामोहयुतेनासौ, किं तु नो लक्षितो मया ॥६२४॥

[त्रितयोपदेशेन चित्त दोलारूढम्]

इतश्च-शरीरं विषया राज्यं, विविधाश्च विभूतयः । यच्च पौद्गलिकं किंचिच्चित्ताबन्धविधायकम् ॥६२५॥
सदागमस्तदाचष्टे, यथेदं क्षणभङ्गुरम् । दुःखात्मकं मलक्लिन्नं, निःस्वभावं बहिश्चरम् ॥६२६॥
तदत्र मूर्च्छां मा कार्षीर्मा कार्षीर्घनवाहन ! । आत्मा ते ज्ञानसद्वीर्यदर्शनानन्दपूरितः ॥६२७॥
ततस्तत्रैव युक्तस्ते, चित्ताबन्धो नरोत्तम ! । येन त्वं निर्वृतिं यासि, सतताह्लादसुन्दराम् ॥६२८॥
चतुर्भिः कलापकम् ।

महामोहस्तु मे सर्वं, तद्राज्यं ताश्च सम्पदः । गात्रं शब्दादिभोगांश्च, यच्चान्यदपि तादृशम् ॥६२९॥
स्थिरं सुखात्मकं चारु, निर्मलं हितमुत्तमम् । इत्येवं कथयत्युच्चैरुपदेशं च यच्छति ॥६३०॥ युग्मम् ।
यदुत-नास्ति जीवो न वा देवो, न मोक्षो न पुनर्भवः न पुण्यपापे सद्भूते, भूतमात्रमिदं जगत् ॥६३१॥
अतो यावदयं देहो, विद्यते घनवाहन ! । यथेष्टचेष्टया तावत्पिब खाद दिवानिशम् ॥६३२॥
सद्भोगैः प्रीणयाऽऽत्मानं, मानयामललोचनाः । सुखं भुंक्ष्व यथाकामं, मा मूढवचनं कृथाः ॥६३३॥

परिग्रहस्तु मां ब्रूते, यथा भो घनवाहन ! । हिरण्यधान्यरत्नादिसम्भारं कुरु यत्नतः ॥६३४॥
यः प्राप्तं पालयत्यर्थमप्राप्तं ढौकयत्यलम् न च सन्तोषमादत्ते, तस्य सौख्यमनारतम् ॥६३५॥
अहं तु त्रितयस्यापि, वाक्यमाकर्ण्य तादृशम् ईषद्दोलायितश्चित्ते, यावज्जातः सुलोचने ! ॥६३६॥
महामोहबलेनाग्रौ, ज्ञानसंवरणो नृपः । तावदुभयं परित्यज्य, मम पार्श्वे व्यवस्थितः ॥६३७॥
ततः सदागमेनोक्तं, यत्तद्वाक्यं मनोहरम् । तस्यार्थो न मया ज्ञातस्तेन चित्तं न रञ्जितम् ॥६३८॥

[महामोह-परिग्रहोपदेशानुसरणम्]

यदाहतुः पुनर्भद्रे ! महामोहपरिग्रहौ । तल्लग्नं मामकं चित्तं, यथा रद्धः सुराग्निते ॥६३९॥
ततोऽहं तत्परित्यज्य, देववन्दनपूजनम् । नमस्कारादिपाठं च, संजातो भोगमूर्च्छितः ॥६४०॥
दानं च साधुवर्गादेर्विनिवार्य ततः परम् । धनसङ्ग्रहणे रक्तः, पीडयामि कर्जनम् ॥६४१॥
सर्वसांसारिकार्येषु, मूर्च्छा गाढं विवर्धते । स महामोहवीर्येण, रोचते न सदागमः ॥६४२॥ तथाऽपि—
परिग्रहस्य वीर्येण, सर्वथा न्यूनचेतसः । न ममेच्छा तदा पूर्णा, प्राप्तैः सर्वधनैरपि ॥६४३॥
ततो मां तादृशं मत्वा, दूरीभूतः सदागमः । लब्धात्मलाभौ संतुष्टौ, महामोहपरिग्रहौ ॥६४४॥
अथान्यदा समायातः, सोऽकलङ्कयुतः पुनः । सुसाधुभिः समाकीर्णः, सूरिः कोविदनामकः ॥६४५॥
ततोऽकलङ्कदाक्षिण्याद्गतोऽहं तस्य वन्दकः । दृष्टोऽकलङ्कः सूरिश्च, वन्दितो मुनिभिर्युतः ॥६४६॥
इतश्च—ज्ञानालोकेन विज्ञातं, तेन कोविदसूरिणा । मदीयं चरितं लोकादकलङ्केन चाखिलम् ॥६४७॥
ततः प्रोक्तोऽकलङ्केन, सूरिनाथ ! निवेद्यताम् । सदागमस्य माहात्म्यं, घनवाहनभूभुजे ॥६४८॥
तथा दुर्जनसङ्गे च, ये दोषाः सन्ति देहिनाम् । निवेदनीयास्तेऽप्यस्मै, विशेषं येन बुध्यते ॥६४९॥
ततः सदागमे भक्तो, दुष्टसम्पर्कवर्जितः । इहामुत्र च येनायं, सुखसन्दोहमश्नुते ॥६५०॥

कोविदसूरिणाऽभिहितं—एवं क्रियते, समाकर्णयतु महाराजः—ततोऽकलङ्कोपरोधेन श्रवणाय स्थितोऽहं सूरेः प्रह्वतरः, सूरिणाऽभिहितं—

[कोविद बालिशकथा]

अस्ति क्षमातलं नाम नगरं तत्र स्वमलनिचयो नाम राजा तस्य तदनुभूतिर्नाम महादेवी, तयोश्च कोविदबालिशाभिधानौ द्वौ तनयौ । इतश्च जन्मान्तरे तस्य कोविदस्यासीदनेन सदागमेन सह परिचयः, ततो यावत्पुनर्दृष्टोऽयं तावदीहापोहमार्गणगवेषणं कुर्वतः संजातं तस्य जातिस्मरणं प्रवृद्धश्चित्तानन्दः गृहीतोऽयं हितगुरुबुद्ध्या निवेदितं बालिशाय यदस्य स्वरूप, न प्रतिपन्नं तेन पापात्मना । इतश्च कर्मपरिणाममहाराजेन प्रहिता तयोः कोविदबालिशयोः स्वयंवरा श्रुतिर्नाम कन्यका, तस्याश्च प्रहितोऽग्रगामी वष्टोऽतिचतुरः सम्बन्धघटनापटुः सङ्गो नाम दासदारकः, आगत्य च वृतौ द्वावपि तौ तया भ्रातरौ परिणीता सा ताभ्यां, अस्ति च तयोः कोविदबालिशयोः परिग्रहे निजदेहो नाम पर्वतः तस्यास्ति मूर्धाभिधानमुपरि महाकूटं तस्योभयपार्श्वयोर्विद्येते सपरिक्षेपे श्रवणनामिके द्वे अपवरिके दृष्टे ते तया अभिरुचितस्तस्यास्तयोर्निवासः ततः स्थिता तयोरेव सा भर्त्रनुज्ञाता सती, तत्र च कृतनिवासा सा श्रुतिस्ताभ्यां कोविदबालिशाभ्यां सार्धं विचरतीति ।

[श्रुतिसंगेन बालिशहर्ष.]

इतश्च तां समासाद्य, परितुष्टः स बालिशः । ततश्च चिन्तयत्येवं महाहर्षवशं गतः ॥६५१॥
धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं, यस्येयं मम सुन्दरी । मनोहरा श्रुतिर्भार्या, संपन्ना पुण्यकर्मणः ॥६५२॥
ततस्तं तादृशं मत्वा, श्रुतौ स्नेहपरायणम् । बालिशं मधुरैर्वाक्यैः, स सङ्गः समभाषत ॥६५३॥
अत्यन्तसुन्दरो देव ! दैवेन हितकारिणा । देवेन सार्धं स्वामिन्याः, संयोगो घटितो ह्ययम् ॥६५४॥ तथाहि-
रूपं वयः कुलं शीलं, लावण्यं च परस्परम् । दम्पत्योः प्रेमसहितमनुरूपं सुदुर्लभम् ॥६५५॥
एतच्च युवयोः सर्वं, संपन्नं पुण्यकर्मणा । केवलं वर्धनीयोऽयं, प्रेमाबन्धो मनोहरः ॥६५६॥
ततः स बालिशेनोक्तः, शठात्मा दासदारकः । यथा कथं म वर्धेत ? स प्राह प्रियसेवनात् ।६५७॥
बालिशः प्राह किं तस्याः, प्रिय ? सङ्ग ! निवेद्यताम् । सङ्गेनोक्तं यथा देव ! प्रियोऽस्या मधुरो ध्वनिः ॥६५८॥
बालिशः प्राह यद्येवं, ततस्तस्य निषेवणम् । अश्रान्तः कारयाम्येनां, साधु साधु निवेदितम् ॥६५९॥
महाप्रसाद इत्येवं, ब्रुवाणः स च दारकः । स्नेहान्निवेशितस्तेन, हृदये बालिशेन भोः ! ॥६६०॥
ततश्च काकलीगीतवेणुवीणाकलस्वनम् । तां श्रुतिं श्रावयन्नेष, बालिशो हृदि मोदते ॥६६१॥
चिन्तयति च-अहो सुखमहो स्वर्गस्तथाऽहो मम धन्यता । यस्येदृशी श्रुतिर्भार्या, सततानन्ददायिका ॥६६२॥
ततश्च-हृदये दारकं कृत्वा, तं सङ्गं स्नेहनिर्भरः । श्रुतेः स लालनं कुर्वन्नास्ते नित्य कलस्वनैः ॥६६३॥
त्यक्तं तेनान्यकर्तव्यं, धर्माद्दूरेण स स्थितः । पिङ्गप्रायतया जातो, हास्यश्चासौ विवेकिनाम् ॥६६४॥

[कोविदेन सदागमप्रश्न]

इतश्च कोविदेनापि, प्रश्नितोऽयं सदागमः । मह्यमेषा हिता भार्या, किं वा नेति ? निवेद्यताम् ॥६६५॥
ततः सदागमेनोक्तं, न हिता ते नरोत्तम ! । ससङ्गेयं श्रुतिर्भार्या, तत्राकर्णय कारणम् ॥६६६॥
इयं हि प्रहिता पूर्वं, रागकेसरिमन्त्रिणा । इदं जगद्वशीकर्तुं, पश्चमानुपमध्यगा ॥६६७॥
इतश्च-स कर्मपरिणामस्य, भ्रातृव्यो रागकेसरी । प्रसिद्धश्चरटो लोके, तस्यामात्यो विशेषतः ॥६६८॥
स कर्मपरिणामाख्यः, सार्वभौमो नराधिपः । शुभाशुभकरत्वेन, लोके विश्वास्यतां गतः ॥६६९॥
एवं च स्थिते-इयं चरटकन्येति, मत्वा नाङ्गीकरिष्यति । अयं जनस्ततस्तेन, रागकेसरिमन्त्रिणा ॥६७०॥
दासं दत्त्वाऽग्रतः स्वीयं, सङ्गं सम्बन्धकारिणम् । महाराजसुतात्वेन, ख्यापितेयं श्रुतिः पुरा ॥६७१॥ युग्मम्।
स कर्मपरिणामोऽस्या, जनकस्तेन गीयते । सुतेयं परमार्थेन, रागकेसरिमन्त्रिणः ॥६७२॥
जगतो वञ्चकत्वेन, या च तेन दुरात्मना । प्रयुक्तेयं कुतस्तस्या, हितत्वं हन्त विद्यते ? ॥६७३॥
ततश्च-यद्यपीयं कृता भार्या, भवता भर्तृवञ्चिका । मा कार्षीर्भद्र ! विश्वासं, तथाप्यस्यां कदाचन ॥६७४॥
न चेयं शक्यतेऽद्यापि, विहातुं निजपत्निका । केवलं वर्जनीयोऽयं, सर्वथा दासदारकः ॥६७५॥
अनेन रहिताऽत्यन्तं, श्रुतिः सङ्गेन पापिना । इयं न विद्यमानापि, भद्र ! ते दोषकारिणी ॥६७६॥
यतः-अनिष्टशब्दविद्विष्टा, मधुरध्वनिलोलुपा । अस्मात्संजायते सङ्गाच्छ्रुतिरेषा न तु स्वयम् ।६७७॥
यावच्च प्रेरयत्येषा, रागद्वेषपरायणा । त्वां सङ्गसहिता तात ! तावत्ते दुःखमालिका ॥६७८॥
अतोऽस्मिन् वर्जिते सङ्गे, शब्दश्रवणतत्परा । भवन्त्यपीयं मध्यस्था, न ते तात ! विबाधिका ॥६७९॥
तदेष वटो दुष्टात्मा, सर्वथा दासदारकः । दुःखकारणभूतस्ते, सङ्गस्त्यजनमर्हति ।।६८०॥
ततः प्रपद्य नम्रेण, तत्सदागमभाषितम् । कोविदेन परित्यक्तः, स सङ्गः श्रुतिदारकः ॥६८१॥

ततः श्रुत्या युतोऽप्येष, शब्दौत्सुक्यविवर्जितः । श्रावयन्नपि तान् शब्दांस्तैः श्रान्तोऽभवत्सुखी ॥६८२॥
एवं च ललमानौ तौ, श्रुत्या कोविदबालिशौ । मनुष्यागमद्वारान्तौ, सुन्दरं सम्प्रवर्तितौ ॥६८३॥

[बालिशस्य श्रुतिसक्तत्वविपाकः]

अथास्ति तुङ्गशिखरो बहिरङ्गो महागिरिः । तत्रान्यदा समारूढौ, भूप ! कोविदबालिशौ ॥६८४॥
तत्रास्ति शिखरे रन्ध्रं, विशालं देवनिर्मितम् । अदृष्टपूर्वं सानुर्यगत्या भूपौ प्रतिष्ठितौ ॥६८५॥
इतश्च—एकं गान्धर्वमिथुनं, किन्नरं च तथापरम् । गेयं प्रारब्धवद्वा, तदा ज्ञानाऽनयोर्द्वयोः ॥६८६॥
ततः परीक्षकैर्युक्ते ते रन्ध्रे तत्र दैविके । एकान्तमिति विज्ञाय, परीक्षार्थमुपागते ॥६८७॥
अथ ताभ्यां समारब्धं, मधुरं कर्णपेशलम् । परस्परेर्ष्यया गीतं, परिपाट्या मनोरमम् ॥६८८॥
ततस्तौ शिखरारूढौ, भूप ! कोविदबालिशौ । रन्ध्रस्थमिथुनोद्गीतश्रुत्या गाढं प्रलोभितौ ॥६८९॥
ततश्च—हृदयस्थितसङ्गेन, बालिशेन दुरात्मना । सा श्रुतिः स्थापिता, द्वारे तस्या रन्ध्रस्य तत्परा ॥६९०॥
तस्यामर्पितसद्भावः, सोऽपि तादात्म्यमागतः । रसेन निर्भरीभूतो, न चेतयति किञ्चन ॥६९१॥
ततः स तेन सङ्गेन, स्ववीर्येण तथा कृतः । गण्डशैलसमो रन्ध्रे, द्वारेऽस्य पतितो यथा ॥६९२॥
बृहदास्फोटपातेन, तेन गान्धर्वकिन्नराः । गात्रघातादवष्टब्धा, बालिशे रोषमागताः ॥६९३॥
ततोऽभिहितमेतैस्तैः परस्परं अरे रे—
कस्कोऽयं लात लातेति, ततो बद्धश्च बालिशः । चूर्णितः सकलं सर्वैर्दुःखभारेण मारितः ॥६९४॥ इतश्च—
सदागमोपदेशेन, त्यक्तसङ्गः स कोविदः । तत्र गीते तदा मूर्च्छां, श्रुत्या युक्तोऽपि नो गतः ॥६९५॥
ततस्तं पतितं दृष्ट्वा, बालिशं हन्यमानकम् । तस्मात्तूर्णमपक्रान्तो, गिरेः शृङ्गात्स कोविदः ॥६९६॥
सद्धर्मघोषनामानं, सूरिमासाद्य सुन्दरम् । जातो बालिशवृत्तान्तं, दृष्ट्वा साधुः प्रवृद्धधीः ॥६९७॥
क्रमाच्च गुरुणा तेन, निजस्थाने निवेशितः । स एषोऽहं महाराज ! विज्ञेयः कोविदस्त्वया ॥६९८॥
तदेवं स कुमित्रेण, तेन सङ्गेन नाशितः । महादुःखभराक्रान्तो, भ्राता मे भूप ! बालिशः ॥६९९॥
अहं तु मोचितोऽनेन, सर्वथा हितकारिणा । सदागमेन निःशेषात्तादृशाद् दुःखजालकात् ॥७००॥
जातश्च सतताह्लादः, सांप्रतं लब्धसंयमः । अत एवास्य निर्देशमधुनाऽपि करोम्यहम् ॥७०१॥
तदेषोऽखिलभूतानां, हितकारी सदागमः । दुष्टान्तरङ्गलोकेन, मैत्री पर्यन्तदारुणा ॥७०२॥
एवं स्थिते महाराज ! पुरुषेण हितैषिणा । त्यक्तव्यो दुष्टसम्पर्को, न च त्याज्यः सदागमः ॥७०३॥
ततश्चेदं गुरोर्वाक्यमाकर्ण्यात्यन्तपेशलम् । भद्रेऽगृहीतसङ्केते ! तदा मे हृदि संस्थितम् ॥७०४॥

[घनवाहनेन पुनः सदागमसेवनं]

अये ! मां त्याजयत्येष, महामोहपरिग्रहौ । तथैष कारयत्युच्चैरादरं च सदागमे ॥७०५॥
एवं च स्थिते—अहं किं करवाणीति, यावच्चिन्तामुपागतः । तावन्ममाशयज्ञानादकलङ्केन जल्पितम् ॥७०६॥
यदुत बुद्धं भगवतो वाक्यं, किं वा नो घनवाहन ! । मयोक्तं सुष्ठु भो बुद्धं, स प्राह क्रियतामिदम् ॥७०७॥

ततो गाढरूढतयाऽकलङ्केन सार्धं प्रणयस्याचिन्त्यप्रभावतया भगवत्कोविदसूरिसन्निधानस्य प्रत्यासन्नवर्तितया कर्मग्रन्थिस्थानस्य प्रत्युत्तरदानसामर्थ्यविकलतया च प्रतिपन्नं तदाऽकलङ्कवचनं अभ्यर्णीभूतो भूयः सदागमः अनुशीलितं चैत्यवन्दनादिकं अनुगुणितं पूर्वपठितादिकं प्रवर्तितं पुनर्दानादिकं

ईषद्दूरीभूतौ महामोहपरिग्रहौ द्रव्यतोऽकलङ्कलज्जया न पुनर्भावसारतया। ततोऽहं विगतमूर्च्छ इव सांसारिक-पदार्थेषु संतुष्टचित्त इव विभवनिचयेषु तदाकलितोऽकलङ्केन । ततो गतः सोऽन्यत्र विहाराय सह सूरिणा—ततस्तं दूरगं मत्वा, महामोहपरिग्रहौ । भूयोऽप्युल्लसितौ भद्रे! दूरीभूतः सदागमः ॥७०८॥
ततः शिथिलितं कृत्यं, विस्मृता धर्मदेशना । संजातोऽहं पशोस्तुल्यस्तद्दोषास्ते पलाशकाः ॥७०९॥
ततो विषयमूर्च्छान्धो, धनसञ्चयतत्परः । भूरिकन्याहिरण्यार्थं, पीडयामि महीजनम् ॥७१०॥
अन्तःपुरसहस्राणि, भूरिभोगपिपासया । हिरण्यभृतकूपानां, मीलितानि शतानि च ॥७११॥
अहिरण्यीकृता पृथ्वी, महामोहवशेन च । तत्पापं न जगत्यस्ति, यत्तदा न कृतं मया ॥७१२॥
स च पुण्योदयोऽभीष्टं, सर्वं ढौकयते मम । मया तु तन्न विज्ञातं, ततोऽसौ कुपितो मनाक् ॥७१३॥
ततश्च मे महादेवी, नाम्ना **मदनसुन्दरी** । अत्यन्तवल्लभाऽभून्मा, मृता शूलेन विह्वला ॥७१४॥
अत्रान्तरे समायातः, स्वामिमूलं विनीतकः । प्रतिजागरको भद्रे! शोकनामा मनुष्यकः ॥७१५॥
स प्रणम्य महामोहं, स्वामिनं विहितादरः । ततश्चावसरं ज्ञात्वा, मामालिङ्गति मायया ॥७१६॥
ततोऽहं कृतपूत्कारो, दैन्याक्रन्दनरोदनम् । स्मृत्वा स्मृत्वा करोम्युच्चैर्देवीं मदनसुन्दरीम् ॥७१७॥
त्यक्तः शरीरसंस्कारो, राज्यकार्ये प्रमादितम् । जातो ग्रहगृहीताभस्ततोऽहं दुःखपूरितः ॥७१८॥

[पुनरकलङ्कागम देशनायामप्यप्रबोधः]

अथ मामकवृत्तान्तं, कथंचिज्जनवार्तया । श्रुत्वाऽकलङ्कः कृपया, मत्समीपमुपागतः ॥७१९॥
ततः स मां महाभागो, दृष्ट्वा शोकवशीकृतम् । विमुक्ताशेषसत्कृत्यं दययेदमभाषत ॥७२०॥
किमिदं भोः समारब्धं, भवता घनवाहन! । किं मे विस्मारितं वाक्यं, किं वा त्यक्तः सदागमः ॥७२१॥
किमेष दुष्टलोकेन, भवानेवं खिलीकृतः । कृतं च ज्ञाततत्त्वेन, किमिदं बालचेष्टितम् ? ॥७२२॥
यां च ते स्मरतो नित्यं, देवीं मदनसुन्दरीम् । शोकोऽयं बाधते चित्तं, तत्कार्यं किं न बुध्यसे? ॥७२३॥
तथाहि—सर्वेऽमी जन्तवो नित्यं, कृतान्तमुखकोटरे । वर्तन्तेऽतः क्षणं भूप! यज्जीवन्ति तदद्भुतम् ॥७२४॥
स हि नापेक्षतेऽवस्थां, प्रेमाबन्धनसुन्दराम् । दलयत्येव भूतानि, मत्तवद्गन्धवारणः ॥७२५॥
यद्यत्सज्जनसत्पद्मं, जननेत्रमनोहरम् । तत्तन्निपातयत्येष, कृतान्तहिमशीकरः ॥७२६॥
न मन्त्रा न धनं भूरि, न वैद्या न च भेषजम् । न बान्धवा न देवेन्द्रा, मृत्यो रक्षन्ति देहिनम् ॥७२७॥
इत्यदृष्टप्रतीकारे, जाते मरणविड्वरे । सिद्धोऽयं मार्ग इत्येवं, ज्ञात्वा को विह्वलो भवेत् ? ॥७२८॥
तदेवं कुरुते नित्यमश्रान्तो धर्मदेशनाम् । सोऽकलङ्को महाभागो, मत्तः शोकगमेच्छया ॥७२९॥
अहं पुनर्महामोहवशगस्तां न लक्षये । नष्टबुद्धिः प्रलापेन, तं शोकमनुवर्तयन् ॥७३०॥
कथं!—हा बाले हा प्रिये मुग्धे, हा चार्वङ्गि! वरानने हा पद्मनेत्रे! हा सुभ्रु, हा कान्ते वल्गुभाषिणि! ॥७३१॥
हा भर्तृवत्सले देवि! हा हा मदनसुन्दरि!। क्व गताऽसि विहायेमं, रुदन्तं घनवाहनम् ? ॥७३२॥
दीयतां दर्शनं तूर्णं, संभाषो मे विधीयताम् । लीयतां मामके देहे, वैक्लव्यमपनीयताम् ॥७३३॥
इत्येवं प्रलपन्नुच्चैरकलङ्कस्य धीमतः । भद्रे! तत्तादृशं वाक्यं, न जानामि विचेतनः ॥७३४॥
दयापरीतचित्तोऽसौ, ततो मां वीक्ष्य तादृशम् । अकलङ्कस्तदा भद्रे! पुनः प्राह महामतिः ॥७३५॥

[पुनर्देशनया शोकनाश]

यथा भो भो महाराज घनवाहन ! न युक्तमीदृशं भवादृशां विधातुं बालचरितं तत्परित्यज क्लीबतां उरीकुरु धीरतां स्वस्थतां नयान्तःकरणं स्मरात्मानं निरुद्धयेममेकान्तेनाहितं महामोहं मुञ्च शोकं शिथिलय परिग्रहं अनुवर्तय सदागमं समाचर तदुपदेशं जनय मम चित्तप्रमोदं, किं विस्मृतं भवताऽधुनैव तत्साधुनिवेदितं भवप्रदीपनकं ? किं न स्मरसि तत्संसारापानकं ? किं न चिन्तयसि तं भवारघट्टं ? किं न ध्यायसि तं सकर्मकजीवचट्टमठवृत्तान्तं ? किं न पर्यालोचयसि तां मनुष्यजन्मरत्नद्वीपदुर्लभतां ? किं न निर्विद्यसे वसंस्तत्र जन्मसन्तानहट्टमार्गे ? किं विस्मारयसि तां चित्तवानरलीलारूपतरलतां ? किं नानुशीलयसि तस्यैव सततं रक्षणं ? किं संभ्रमीषि तेषु विषयविषवृक्षेषु ? किं लुठसि तस्मिन्ननर्थनिचयगते पत्रकुसुमफलरजःकचवरे ? किं निपातयसि जानन्नपि मोक्षमार्गमात्मानं घोरेषु महानरकेषु ? किं नारोहयसि तेनोपायेनात्मानं तत्र सततानन्दे शिवालयमठे ? संसारे हि निवसतां महाराज ! देहिनां करतलस्थानि व्यसनानि सुलभाः प्रियजनविप्रयोगाः अदूरगा महाव्याधयः प्रत्यासन्नानि दुःखानि अवश्यंभावीनि मरणानि, ततः पुरुषस्य विमलविवेक एवात्र त्राणं नापरमिति । ततोऽहं भद्रेऽगृहीतसङ्केते ! गाढप्रसुप्त इव प्रतिबोधकध्वनिपरम्परया विषघूर्णित इव सस्फुरमन्त्रापमार्जनया मदिरामत्त इव शीघ्रभयदर्शनतया मूर्च्छित इव सलिलशीकरव्यजनक्रियया उन्मत्तक इव सुवैद्यप्रयुक्तभेषजमालिकया तयाऽकलङ्कवचनपद्धत्या संजातः प्रत्यागतचेतनः ॥

ततः शोकेन प्रणम्याभिहितो महामोहः--यथा देव ! व्रजाम्यहं नायमकलङ्को मयामिहासितुं ददाति, महामोहः प्राह--वत्स ! विषमोऽयमकलङ्कः प्रतारयति लग्नोऽमुं घनवाहनं, आवयोरपि यत्किमप्यत्र भविष्यति तन्नाद्यापि जानीमः तद्गच्छ तावत्त्वं, केवलं पुनः प्रतिजागरणं विधेयं केनापि भवताऽऽवयोरिति । शोकेनोक्तं--यदाज्ञापयति देवः, ततो गतः शोकः प्रतिपन्नं मयाऽकलङ्कवचनं वल्लभीकृतः सदागमः अवधीरितौ मनाङ् महामोहपरिग्रहौ उज्ज्वलितं पूर्वपठितं विहितोऽपूर्वश्रुतग्रहणादरः कारितानि जिनभवनबिम्बादीनि प्रवर्तितानि यात्रास्नात्रपात्रदानप्रभृतीनि, ततः कृतो मया तावदेष गुणभाजनमिति संतुष्टोऽकलङ्कः ।

[सागर-बहुलिका-कृपणताऽऽगमनं]

अत्रान्तरे प्रियमित्रपरिग्रहोन्माथकेन विधुरितहृदयः प्रवृत्तो मत्समीपागमनाय महामोहप्रतिजागरकः सागरः, पृष्टोऽनेन रागकेसरी, कृता तेनानुज्ञा, बहुलिकयोक्तं--तात ! यत्र सागरो गच्छति तत्र मयापि यातव्यं, यतो विदितमेवेदं तातस्य न खल्वेष सागरः क्षणमपि मया विना वर्तते, रागकेसरिणोक्तं--वत्से ! यद्येवं ततो गच्छतु भवती । किं च--इयमपि कृपणता सागरस्य शरीरभूता जीवितभूता च वर्तते तदेषाऽपि गच्छतु येनास्य धृतिः संपद्यते, सागरेणोक्तं--तात ! महाप्रसादः, ततः समागतानि तानि मदभ्यर्णे, हृष्टौ तद्दर्शनेन महामोहपरिग्रहौ, समालिङ्गितोऽहं कृपणतया, ततः प्रवृत्ता ममेच्छा--यदुत किमनेन ममादृष्टपरलोकसाधनेच्छया दृष्टसुखहेतुना धनेन व्ययितेन प्रयोजनं ? अयं चाकलङ्कः प्रतिदिनं मामुत्साहयति यथा यदि भावस्तवकरणे नाद्यापि तवोत्साहः ततो महाराज घनवाहन ! द्रव्यस्तवकरणे तावदादरं कुरुष्वेति । व्ययित च तद्द्वारेण बहुतमं धनं वर्तते तदत्र किं करवाणीति चिन्तयतो मे विहितं बहुलिकया-

ऽऽलिङ्गनं, ततः प्रादुर्भूता मे कुबुद्धिः--यथा प्रेषयामीतः केनचिद्वचनविन्यासेन तावदेनमकलङ्कं, ततो न भविष्यति ममायं धनव्ययः, ततोऽभिहितो मयाकलङ्कः--यथा भदन्त ! मदुपकारार्थमिहागता यूयं, अतः संपादितो ममोपकारः, संपूर्णो भवतां मासकल्पः ततस्ते युष्मदर्थमुन्मनीभविष्यन्ति भगवन्तः कोविदाचार्याः संजनिष्यतेऽस्माकमुपालम्भः ततो विहरत यूयं वयं च करिष्यामो युष्मदादेशं, न भगवद्भिश्चिन्ता कार्येति। तदाकर्ण्य विहृतोऽकलङ्कः प्राप्तो गुरुसमीपं--

ततो भूयोऽपि धर्मार्थं, विनिवार्य धनव्ययम् । संजातः सागरादेशादहं स्वतः परिग्रहे ॥७३६॥
ततः परिग्रहेणोक्तः, सागरो मित्रवत्सल ! । नीयमानः क्षयं साक्षादहं भो रक्षितस्त्वया ।७३७॥
त्वत्तोऽपि मे विशेषेण, संपन्ना भ्रातृवत्सला । एषा कृपणता मित्र ! मम जीवितदायिका ॥७३८॥
गाढं बहुलिकाप्येषा, ज्ञेया मदुपकारिणी । सोऽकलङ्को महाशत्रुर्यदिदं निर्वासितो यया ॥७३९॥
तच्चारु विहितं चारु, यदागत्य नरोत्तम ! । संदर्शिताऽऽर्यके भक्तिः ! पालितोऽयं त्वया जनः ॥७४०॥
एवं च भाषमाणं तं, महामोहः परिग्रहम् । प्रत्युवाच यथा वत्स ! साधु साधूदितं त्वया ॥७४१॥
अयं हि सागरो वत्स ! सर्वस्वं मम जीवितम् । मदीयवीर्यं निःशेषं, भावतोऽत्र प्रतिष्ठितम् ॥७४२॥
अयं निर्मिथ्यभक्तो मे, सागरो मामके बले । मत्पुत्रो राज्ययोग्योऽयमयं ते रक्षणक्षमः ॥७४३॥
एवं चोल्लासितस्तेन, महामोहेन सागरः । संजातो मां वशीकृत्य, स सदागमबाधकः ॥७४४॥
ततो विवर्धिताकांक्षो, दूरीकृतसदागमः । संजातस्त्यक्तकृत्योऽहं, यथा पूर्वं तथा पुनः ॥७४५॥

[*अकलङ्कस्यागमनेच्छा कोविदसूरिवारणहेतु*]

ततो मदीयवृत्तान्तं, समाकर्ण्य कृपापरः । भूयः प्रचलितो भद्रे ! सोऽकलङ्को मदन्तिकम् ॥७४६॥
ततः कृतप्रणामेन, तेन कोविदसूरयः । विज्ञापिता व्रजामीति, दीपयित्वा प्रयोजनम् ॥७४७॥
अथ निश्चित्य सद्भावं, प्राहुः कोविदसूरयः । निरर्थकोऽयं ते क्लेशस्ततो मा गास्तदन्तिकम् ॥७४८॥
तथाहि--यावत्तस्य समीपस्थौ, महामोहपरिग्रहौ । तावन्नाद्यापि कर्मण्यः, स तात ! घनगाहनः ॥७४९॥
यतः--आगच्छन्ति तयोः पार्श्वे, नियमात्सागरादयः । तेषामाश्रयभूतौ तौ, सर्वेषां मूलनायकौ ॥७५०॥
वशे च वर्तमानस्य, तस्य तेषां दुरात्मनाम् । क्वोपदेशाः क्व वा धर्मः, क्व सदागममीलकः ? ॥७५१॥
बधिरे कर्णजापोऽयमन्धे नृत्तप्रदर्शनम् । ऊषरे बीजनिक्षेपस्तस्य या धर्मदेशना ॥७५२॥
यतः--अत्यल्पस्तस्य संस्कारस्तावकीनेन जायते । वचनेन क्षतिर्गुर्वी, स्वाध्यायस्य भवादृशाम् ॥७५३॥
अन्यच्च--बोधितो बोधितो भूयः, स शेते भावनिद्रया । यावदेतौ समीपस्थौ, महामोहपरिग्रहौ ॥७५४॥
तदलं ते गतेनार्य ! घनवाहनसन्निधौ । स्वकार्यहानिदे कृत्ये, न वर्तन्ते विचक्षणाः ॥७५५॥

अकलङ्केनोक्तं--

भदन्तानर्थहेतुभ्यां, ताभ्यां सार्धं तपस्विनः । कदा पुनर्वियोगः स्याद्, घनवाहनभूभुजः ? ॥७५६॥

[*विद्या-निरीहताभ्यां घनवाहनभाव्युद्धार*]

गुरुणोक्तं विजानन्ति, तं प्रायेण भवादृशाः । चारित्रधर्मराजस्य, प्रसिद्धो यो महत्तमः ॥७५७॥
चारित्रधर्मयुक्तेन, स्ववीर्येण विनिर्मिता । तेनास्ति मानसी कन्या, विद्या नाम मनोहरा ॥७५८॥
सा सुरूपा विशालाक्षी, जगदाह्लादकारिणी । विज्ञातविश्वभावार्था, सर्वावयवसुन्दरी ॥७५९॥

विलसन्ती च सा कन्या, सततोद्दामलीलया । संमागतीतलावण्या, मुनीनामपि वल्लभा ॥७६०॥
सा सर्वसम्पदां मूल, सा सर्वक्लेशनाशनी । निरन्तानन्दसन्दोहदायिका सा निगद्यते ॥७६१॥
अतस्तां कन्यकां विद्यां, यदाऽसौ घनवाहनः । लप्स्यते भोस्तदाऽमुष्मान्महामोहो वियोक्ष्यते ॥७६२॥
यतः—सा कन्या निजवीर्येण, विरुद्धाऽनेन पापिना । न विद्यते महावस्था, अनयोस्तेन हेतुना ॥७६३॥
किं च—तथा निरीहता नाम, कन्याऽन्या विद्यतेऽनघा । चारित्रधर्मराजस्य, दुहिता सा मनोरमा ॥७६४॥
विरतेः कुक्षिसंभूता, भ्रात्रोरत्यन्तपूजिता । चारित्रधर्मराजीये, राज्ये सा सर्वमारिका ॥७६५॥
महत्तमस्य साऽभीष्टा, सद्बोधस्यातिवल्लभा । सन्तोषतन्त्रपालेन, स्वामिभक्तेन वर्धिता ॥७६६।
स्वभावसुन्दरा बाला, संपूर्णेच्छा न वाञ्छति । वस्त्रालङ्कारमाल्यादिर्गसपाद्यं सा विभूषणम् ॥७६७॥
स्वर्णेन विविधैर्भोगैर्विचित्रै रत्नराशिभिः । न शक्या लोभमानेतुं, कन्यका सा निरीहता ॥७६८॥
सा निःशेषजगद्वन्द्या, सा मुनीनां मनोहरा । सा दुःखोच्छेदिका धन्या, सा चित्तानन्ददायिका ॥७६९॥
तां कन्यां चारुलावण्यां, यदाऽसौ घनवाहनः । लप्स्यते विलयं यायात्तदा नूनं परिग्रहः ॥७७०॥
विरोधोऽस्ति तया सार्धं, यतस्तस्य दुरात्मनः । अतस्तां वीक्ष्य पापोऽसौ, गाढभीतो विलीयते ॥७७१॥
अकलङ्केनोक्तं—कदा पुनरसौ धन्ये, ते कन्ये परिणेष्यति । तयोर्दलनकारिण्यौ, भदन्त ! घनवाहनः ॥७७२॥
कोविदसूरिणोक्तं—
भूयसाऽद्यापि कालेन, तयोर्लाभो नरोत्तम ! । लब्धयोश्च भवेन्नूनं, स तयोः परिणायकः ॥७७३॥
अथाकलङ्कः प्रत्याह, युष्मभ्यं यदि रोचते । ततोऽहं लम्भयामीति, ते कन्ये घनवाहनम् ।७७४॥
गुरुराह महाभाग ! नाधिकारो भवादृशाम् । कन्ययोः प्रापणेऽद्यापि, तयोरेतेन हेतुना ॥७७५॥
स कर्मपरिणामाख्यस्ते कन्ये दापयिष्यति । घनवाहनराजाय, नोऽपरो दायकस्तयोः ॥७७६॥
दाप्यमाने पुनस्तेन, ते स्यातां कन्यके यदा । हेतुभावं भजन्त्येव, तदा युष्मादृशा अपि ॥७७७॥
एवं च स्थिते—
स एव योग्यतां मत्वा, क्वचित्ते दापयिष्यति । कन्ये सुखप्रदे धन्ये, घनवाहनभूभुजे ।७७८॥
अतो विहाय तच्चिन्तां, स्वाध्यायध्यानतत्परः । विमुक्तवस्तुनिर्बन्धस्तिष्ठार्य त्व निराकुलः ॥७७९॥
ततस्तथेति भावेन, प्रतिपद्य गुरोर्वचः । स्थितोऽकलङ्को निश्चिन्तस्तदा भद्रे ! निरातुरः ॥७८०॥

[*महामोहसेवकैर्घनवाहनकदर्थना*]

अहं तु तौ समाश्रित्य, महामोहपरिग्रहौ । आगत्यागत्य तद्भृत्यैरेकैकेन कदर्थितः ॥७८१॥ तथाहि—
एके गच्छन्ति तद्भृत्याः, प्रत्यागच्छन्ति चापरे । अन्ये तिष्ठन्ति मत्पार्श्वे, किंचिदासाद्य कारणम् ॥७८२॥
किं चात्र बहुनोक्तेन ! समासात्ते निवेद्यते । भूरिभाषितया त्वं मां, वाचाल माऽवजीगणः ॥७८३॥
चित्तवृत्तिमहाटव्यां, या नदी सा प्रमत्तता । तत्तद्विलसितं नाम, यत्तस्याः पुलिनं पुरा ॥७८४॥
वर्णितं तत्र चोद्दिष्टश्चित्तविक्षेपमण्डपः । तृष्णा च वेदिका तस्यां, विपर्यासाख्यविष्टरम् ॥७८५॥
तन्निषण्णो महामोहस्तस्याविद्या वपुर्लता । विमर्शेन प्रकर्षाय, या सा पूर्वं निवेदिता ॥७८६॥
स्मरसि त्वं विशालाक्षि ! चित्ते सर्वमिदं न वा ? । ततोऽगृहीतसङ्केता, प्राह बाढं स्मरामि भोः ॥७८७॥
चतुर्भिः कलापकम् ।

संसारिजीवस्तां प्राह, यद्येवं चारुलोचने ! । ततस्ते ये विमर्शेन, प्रकर्षाय विवर्णिताः ॥७८८॥
मिथ्यादर्शनसंज्ञाद्या, भूयांसो वेदिकास्थिताः । अन्ये सेनापरास्तत्र, स्थिता मुत्कलमण्डपे ॥७८९॥
ते सर्वे भूभुजो भद्रे ! सकलत्राः सबान्धवाः । सभृत्यपरिवाराश्च, प्रत्येकं समुपागताः ॥७९०॥
महामोहे समीपस्थे, तदा मे सर्वनायके । न सोऽस्ति कश्चित्तत्सैन्ये, येनाहं न निषेवितः ॥७९१॥
ततश्च—गृद्धो विमूर्च्छितस्तेषु, भावेषु भवभाविषु । कृतोऽहं नष्टसन्मार्गो, महामूढतया तदा ॥७९२॥
सदागमं परित्यज्य, विधाय मतिविभ्रमम् । मिथ्यादर्शनसंज्ञेन, भूयोऽहं बाधितस्तदा ॥७९३॥
तथा-पापानि धर्मबुद्ध्याऽहं, दारुणानि पुनस्तदा । भूरिशः कारितो भद्रे ? कुदृष्ट्या तन्महेलया ॥७९४॥
शब्दादिविषयग्रामे, निःसारे साधुनिन्दिते । विधापितो मनःप्रीतिं, रागकेसरिणा पुनः ॥७९५॥
तस्य भार्या पुनर्या सा, मूढता नाम विश्रुता । तद्वशेन मया नैव, विज्ञाता भवदुष्टता ॥७९६॥
तथा द्वेषगजेन्द्रोऽपि, सनिमित्तानिमित्तकम् । कुर्वन्नाप्रीतिसन्तापं, नितरां मे विजृम्भितः ॥७९७॥

[*अविवेकितादिविहिता कदर्थना*]

तथा—तस्याविवेकिता भार्या, कार्याकार्यविचारणम् । कुर्वन्तं वारयत्युच्चैस्तदा मां वशवर्तिनम् ॥७९८॥
तथाहि—शब्दे रूपे रसे गन्धे, स्पर्शे चात्यन्तलोलुपः । वशीकृतोऽहं संपन्नो, रागकेसरिमन्त्रिणा ॥७९९॥
प्राप्तेषु गाढमूर्च्छान्धोऽप्राप्ताकांक्षाविडम्बितः । कृतो भोगेषु तस्यैव, भार्यया भोगतृष्णया ॥८००॥
तथा—निर्वादितमुखो हा हा, हासितोऽहं निरर्थकम् । हासेन बहुशो भद्रे ! सद्गाम्भीर्यविरोधिना ॥८०१॥
मूत्रान्त्रक्लेदजाम्बालमलपूर्णेषु योषिताम् । गात्रेषु रमितो भद्रे ! रत्याऽहं विवशस्तदा ॥८०२॥
अरत्यापि महोद्वेगसन्तापाक्रान्तमानसः । कृतोऽहं भूरिशो भद्रे ! कारणैरपरापरैः ॥८०३॥
मरिष्यामीति विभ्रान्तो, राज्यं वा मे हरिष्यते । इत्यादि कारणं प्राप्य, भयेनाह विनाटितः ॥८०४॥
मरणं स्निग्धबन्धूनामर्थनाशादिकं तथा । हेतुं संप्राप्य शोकेन, भूयो भूयो विडम्बितः ॥८०५॥
तत्त्वमार्गवियुतात्मा, मिथ्याबुद्ध्या तिरोहितः । विवेकिहास्यतां नीतस्तदाऽहं हि जुगुप्सया ॥८०६॥
तथा— रागकेसरिणः पुत्रा, येऽष्टौ पूर्वं विवर्णिताः । सुता द्वेषगजेन्द्रस्य, ये चाष्टौ परिकीर्तिताः ॥८०७॥
तैस्तदा मे कषायाख्यैर्महामोहपितामहे । समीपस्थे कृतं यत्तु, तदाख्यातुं न पार्यते ॥८०८॥ युग्मम् ।
ज्ञानप्रकाशलेशेन, रहितो भावतस्तदा । ज्ञानसंवरणेनाहं, प्रचलेन कृतः पुनः ॥८०९॥
तथा—कुर्वन् घुरुघुरारावं, काष्ठवन्नष्टचेतनः । दर्शनावरणेनाहं, स्वापितो गतदर्शनः ॥८१०॥
तथा-क्वचिदाह्लादितोऽत्यन्तं, क्वचित्सन्तापविह्वलः । कृतोऽहं तेन चार्वङ्गि ! वेदनीयेन भूभुजा ॥८११॥
तथा-आयुष्कनामकेनापि, नरेन्द्रेण सुलोचने ! । घनवाहनरूपेण, तदाऽहं धारितश्चिरम् ॥८१२॥
तथा-तेन नामाभिधानेन, भूभुजा वरवीक्षणे ! । शरीरे मामके चित्रं, निजवीर्यं निदर्शितम् ॥८१३॥
तथा गोत्रान्तरायाभ्यां, स्वमाहात्म्यं वरानने ! । कृतमेव ममात्यर्थं, चरितार्थं तदा पुनः ॥८१४॥ तथा—
रौद्रार्तध्यानसंयुक्तः, पापात्मा पापचेष्टितः । विहितोऽहं विशालाक्षि ! तेन दुष्टाभिसन्धिना ॥८१५॥
तथाऽन्यैरपि तत्काले, महामोहे समीपगे । ममाविर्भावितं भद्रे ! स्वं स्वं वीर्यं महाभटैः ॥८१६॥
अकलङ्केन मुक्तत्वादनाथ इव निर्भयैः । इत्थं खलीकृतोऽत्यन्तं, तैरहं भावशत्रुभिः ॥८१७॥

[मकरध्वजसमागम]

अथान्यदा समायातो, मत्कृदर्शनकाम्यया । महामोहनरेन्द्रस्य, समीपे मकरध्वजः ॥८१८॥
स च स्वीयां रतिं भार्या, रागकेसरिमन्त्रिणम् । पञ्चमानुपमंयुक्तं, तच्च तस्य कुटुम्बकम् ॥८१९॥
एतां सर्वां समामाद्य, सामग्री कार्यसिद्धये । संनद्धबद्धकवचस्तदा प्राप्तो मृगेक्षणे ! ॥८२०॥
ततस्तुष्टो महामोहो, मकरध्वजमीलनात् । सोऽप्यामाद्य महामोहं, परं हर्षमुपागतः ॥८२१॥
ततस्तेन युतः साक्षात्, संनद्धो गन्धवारणः । संपन्नोऽसौ महामोहो, जातो मेऽत्यन्तबाधकः ॥८२२॥
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धलुब्धोऽन्धसन्निभः । गाढ निर्नष्टसद्बोधः, सजातोऽहं ततस्तदा ॥८२३॥
गर्ताशूकरसङ्काशो, विषयाशुचिकर्दमे । रात्रिंदिवं निमग्नात्मा, स्थितोऽहं विगतत्रपः ॥८२४॥
सुभूयसाऽपि कालेन, न भोगैस्तृप्तिमागतः । घृतपानेन किं जातः, पीनगण्डोऽत्र वानरः ? ॥८२५॥
भुञ्जानस्य च मे भोगान्, वर्धते भोगतृष्णिका । सुतरामुल्लसत्येव, जलेन वडवानलः ॥८२६॥
अकलङ्कोपदेशास्ते, शशाङ्ककरनिर्मलाः । तदा मे विस्मृताः सर्वे, महामोहघनावृताः ॥८२७॥

[अगम्यागमनेन जनोद्वेग]

ततो मां तादृशं दृष्ट्वा, भावशत्रुविचेष्टितम् । न मेऽवसर इत्येवं, गतो दूरं सदागमः ॥८२८॥
यथाभिमतकामांश्च, संपादयति मे तदा । असौ पुण्योदयोऽहं तु, विमूढस्तं न लक्षये ॥८२९॥
ततो विमुक्तनिःशेषराज्यकार्यो दिवानिशम् । अन्तःपुरगतः स्त्रैणं, भुञ्जानोऽहमवस्थितः ॥८३०॥
तथा–यां यां नारी प्रपश्यामि, नगरे चारुविग्रहाम् । कुलजामकुलजां वा, यां वा कश्चिन्निवेदयेत् ॥८३१॥
तां तां सर्वां समाकृष्य, जनेभ्यो बलवत्तया । अन्तःपुरे प्रवेश्याहं करोमि निजपत्निकाम् ॥८३२॥ युग्मम् ।
न जानामि महापापं, नापेक्षे कुललाञ्छनम् । गणयामि न चाभव्यां, वाक्यं मन्त्रिमण्डलम् ॥८३३॥
ततो विरक्ता सामन्ताः, पुरं चोद्वेगमागतम् । तादृशाधमशीलेन, लज्जिता मम बान्धवाः ॥८३४॥
पदातयोऽपि संपन्ना, मम निन्दाविधायकाः । गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते, सम्बन्धो नात्र कारणम् ॥८३५॥
अहं तु तादृशी लोकाज्ञानानोऽप्यात्मगर्हणाम् । महामोहवशीभूतो, निन्द्यकर्मरतः स्थितः ॥८३६॥
या नीचकुलसंजाता, याश्चागम्याः स्त्रियो नृणाम् । सर्वाः स्वेऽन्तःपुरे क्षिप्तास्ता मया पापकर्मणा ॥८३७॥

[घनवाहनस्य चारकनिवेश]

अथासीच्च कनिष्ठो मे, भ्राता नीरदवाहनः । लज्जापरो विनीतात्मा, प्रख्यातः सारपौरुषः ॥८३८॥
ततश्च–मत्तो विरक्तैः सामन्तैः, पौरमन्त्रिमहत्तमैः । एकवाक्यतया सर्वैः, स प्रोक्तो रहसि स्थितः ॥८३९॥
यदुत–अगम्यागमनासक्तो, निर्मर्यादो विमूढधीः । नष्टधर्मा पशोस्तुल्यो, य एवं कुलदूषणः ॥८४०॥
सोऽयं सिंहासनस्येव, सारमेयो नराधमः । अस्य योग्यो न राजस्य, कुमार ! घनवाहनः ॥८४१॥
अनेन हारितं राज्यं, वंश्यानां लाघवं कृतम् । न युज्यते ततोऽस्माकं, विनाशोऽयमुपेक्षितुम् ॥८४२॥
अतोऽयं प्रतिराज्येषु, वृत्तान्तो नावगम्यते । यावत्तावत्कुमारोऽत्र, राजा भवितुमर्हति ॥८४३॥
अन्यथा नैष ते भ्राता, न राज्यं न च भूतयः । न वयं न यशो नैव, नगरं भो भविष्यति ॥८४४॥
एवं चोक्तः स तैर्युक्तियुक्तं नीरदवाहनः । तथैव दृष्टतच्चेष्टः पर्यालोचमुपागतः ॥८४५॥
इतश्च मामको भद्रे ! वयस्यो दुष्टचेष्टितैः । गाढमुद्वेजितश्चित्ते, नष्टः पुण्योदयस्तदा ॥८४६॥

पापं चात्यर्गलीभूतं, प्रवृद्धा भावशत्रवः । द्राघीयसी च संजाता, भूयः सा कर्मणः स्थितिः ॥८४७॥
ततश्च वचनं तस्य, यल्लोकैर्मन्त्रितं पुरः । तच्चित्ते युक्तियुक्तत्वाल्लग्नं मे भ्रातुरुच्चकैः ॥८४८॥
ततश्च-एवं भवतु तेनोक्तैस्तैर्लोकैर्वैरिकैरिव । आगत्याहं दृढं बद्धो, मदिरामदविह्वलः ॥८४९॥
तावतः परिवर्गस्य, मध्ये जातो न कश्चन । मत्पक्षे स जनो भद्रे ! येन मा मेति जल्पितम् ॥८५०॥
ततो नरकपालाभैस्तैर्बद्ध्वा नरकोपमे । क्षिप्तोऽहं चारके सुभ्रु ! ज्ञातिमन्त्रिमहत्तमैः ॥८५१॥

[नीरदवाहनस्य नृपत्व]

स च संस्थापितो राज्ये, राजा नीरदवाहनः । महाकलकलेनोच्चैर्नृत्यद्भिस्तोषनिर्भरैः ॥८५२॥
हृष्टाः कुस्वामिनाशेन, तुष्टाः सुस्वामिनो गुणैः । ते पौरसैनिका लोकास्ततः किं किं न कुर्वते ॥८५३॥
अहं तु चारके तत्र, पुरीषमलपिच्छिले । मूत्रान्त्रक्लेदजाम्बालदुर्गन्धे गर्भसन्निभे ॥८५४॥
क्षुधा क्षामोदरो बद्धः, परिभूतो विगर्हितः । स्मृतदुश्चेष्टितैः क्रुद्धैर्बालकैरपि ताडितः ॥८५५॥
अनेकयातनास्थाने, स्ववर्गेणावधीरितः । प्राप्तः शारीरसंतापं, नरकेष्विव नारकः ॥८५६॥
महामोहवशीभूते, राज्यभ्रष्टे तथा मयि । यः संजातो मनस्तापः, स त्वाख्यातुं न पार्यते ॥८५७॥
तथाहि-ममेदं विपुलं राज्यं, मामकीना विभूतयः । अधुनाऽन्ये प्रभोक्तार इति शोकेन पीडितः ॥८५८॥
सुखलालितदेहोऽहमधुना त्वीदृशी गतिः । सर्वस्य परिभूतोऽहमित्यरत्या कदर्थितः ॥८५९॥
लुम्पन्ति मामकमिदं, रत्नस्वर्णादिकं जनाः । एते हा हा हतोऽस्मीति, बाधितो धनमूर्च्छया ॥८६०॥
तदेवं नरकाकारे, चारके दुःखपूरितः । तत्राहं संस्थितो भद्रे ! सुचिरं पापकर्मणा ॥८६१॥
परिवारसमेतस्य, महामोहस्य दोषतः । तथाप्यहं न निर्विण्णः, संसाराचारुलोचने ! ॥८६२॥
क्रोधान्धस्तेषु लोकेषु, चित्तकल्लोलदूषितः । रौद्रध्यानानुगो नित्यं, भूरिकालमवस्थितः ॥८६३॥

[चारके मरण नरके परिभ्रमण]

अथ जीर्णा क्रमेणैव, गुडिका मे चिरन्तनी । ततो वितीर्णा सा मह्यं, भवितव्यतयाऽपरा ॥८६४॥
गतः पापिष्ठवासायां पुरि सप्तमपाटके । अहं तस्याः प्रभावेण, जातः पापिष्ठरूपकः ॥८६५॥
गृहे तत्राप्रतिष्ठाने, निर्भिन्नो वज्रकण्टकैः । सागराणां त्रयस्त्रिंशद्भ्रमन् कन्दुकलीलया ॥८६६॥
तदन्ते गुडिकादानाद्भवितव्यतया तया । पञ्चाक्षपशुसंस्थानमानीय शफरीकृतः ।८६७॥
पुनर्नीतोऽप्रतिष्ठाने, समानीतस्ततोऽप्यहम् । कृतश्च गुडिकादानाच्छार्दूलाकारधारकः ॥८६८॥
भूयः पापिष्ठवासायां, नीतोऽहं तुर्यपाटके । ततोऽप्यानीय विहितो, मार्जाराकारधारकः ॥८६९॥
तदेवंविधरूपाणि, जनयन्त्या मुहुर्मुहुः । दुःखसागरविस्तारं, दर्शयन्त्या क्षणे क्षणे ॥८७०॥
तदसंव्यवहाराख्यं, विहाय नगरं परम् । प्रायः समस्तस्थानेषु, भ्रमितोऽहं महेलया ॥८७१॥
युक्तः सपरिवारेण, महामोहेन सुन्दरि ! । कुर्वाणो निजभार्याज्ञां, क्व क्वाहं न विनाटितः ? ।८७२॥
तया परिग्रहेणाहं, संज्ञया निजभार्यया । युक्तेन बहुशो भद्रे ! योनौ योनौ विडम्बितः ॥८७३॥
यतः—गृहकोकिलिकासर्पमूषिकाकारधारकः । हृष्टो निधानमासाद्य, तन्नाशे विह्वलो मृतः ॥८७४॥
एवं चानन्तकालं मे, भ्रमतो गजगामिनी ! घर्षणाघूर्णनन्यायात्प्रसन्ना भवितव्यता ॥८७५॥
अन्यच्च-श्रान्ता इव मया सार्धं, भ्रमतोऽनन्तवर्त्मनि । किंचित्ते दुर्बलीभूता, महामोहादयस्तदा ॥८७६॥

पापं च प्रतनुभूतमीपत्कर्मस्थितिस्तथा । पुनर्ग्रन्थिः समीपस्था, संजाता मे वरानने ! ॥८७७॥

[मनुजगति-द्रव्यश्रावकता-देवगतिदर्शन]

ततो मनुजगत्यन्तः, पाटके भरताभिधे । साकेतेऽहं पुरे नीतो, भवितव्यतया तया ॥८७८॥
वणिजस्तत्र नन्दस्य, भार्याऽस्ति धनसुन्दरी । जनितस्तत्सुतत्वेन, गुडिकादानयोगतः ॥८७९॥
प्रतिष्ठितं च मे नाम, यथाऽयममृतोदरः । अथ क्रमेण संप्राप्तो, यौवनं काममन्दिरम् ॥८८०॥
दृष्टः सुदर्शनो नाम, सुसाधुः कानने मया । कृपापगीतचित्तेन कृता मे तेन देशना ॥८८१॥
ततो भूयो मया भद्रे ! महात्माऽयं सदागमः । विलोकितः समीपस्थस्तस्य साधोर्महात्मनः ॥८८२॥
किंचिद्भद्रकभावत्वान्नमस्कारादिपाठकः । जातोऽहं श्रावकाकारधारको द्रव्यतस्तदा ॥८८३॥
ततस्तदनुभावेन, पुरेऽहं विबुधालये । भवचक्रस्थिते नीतो, गुडिकायाः प्रभावतः ॥८८४॥
तत्र च–[1]भावना व्यन्तरा ज्योतिश्चारिणः कल्पवासिनः । पाटकेषु व सन्त्येते, विबुधाः कुलपुत्रकाः ॥८८५॥
दशाष्टपञ्चभेदास्ते, त्रयः पूर्वे यथाक्रमम् । कल्पस्थास्तदतीताश्च, द्विभेदास्तुर्यपाटके ॥८८६॥
कल्पस्था द्वादशावाससंस्थिताः समुदाहृताः । नवपञ्चनिवासस्थास्तदतीताः प्रकीर्तिताः ॥८८७॥
तत्राद्ये पाटके भद्रे ! जातोऽहं भावनस्तदा । आद्यभेदस्थितेष्वेव, विबुधः कुलपुत्रकः ॥८८८। ततश्च–
गतस्य तत्र पद्माक्षि ! विस्मृतो मे सदागमः । स्थितोऽयमपि मां हित्वा, कुर्वाणः कालयापनाम् ॥८८९॥
ततो महर्द्धिसंपन्नः, सार्धं पल्योपमं मुदा । सुखं यथेष्टं भुञ्जानः, स्थितोऽहं चारुलीलया ॥८९०॥
तदन्ते गुडिकां दत्त्वा, भार्यया तुष्टचित्तया । पुरेऽहं मानवावासे, समानीतः पुनस्तया ॥८९१॥
तत्रास्ति बन्धुदत्तस्य, वणिजः प्रियदर्शना । भार्या तस्याः सुतत्वेन, जातोऽहं बन्धनामकः ॥८९२॥
संप्राप्तयुवभावेन, सुन्दराख्यो मुनीश्वरः । दृष्टो मया समीपस्थस्तस्य चायं सदागमः ॥८९३॥
शिक्षितं पुनरप्यस्य, सम्बन्धि ज्ञानमल्पकम् । जातश्चाहं तदा भद्रे ! श्रमणो भाववर्जितः ॥८९४॥
गतस्तदनुभावेन, भूयोऽहं विबुधालये । महर्द्धिर्विबुधस्तत्र, जातो व्यन्तरपाटके ॥८९५॥
न नीतो निस्मृतत्वेन, मया तत्र सदागमः । गतेन मानवावासे पुनश्च प्रविलोकितः ॥८९६॥

[अनन्तवार दृष्टविस्मृत सदागम]

एवं विचरताऽनन्ते, भवचक्रे पुनः पुनः । तथाऽनन्तेन कालेन, मया भार्यानियोगतः ॥८९७।
अयं सदागमो भद्रे ! महात्मा प्रविलोकितः । अनन्तवारा दृष्टोऽपि, विस्मृतश्च पुनः पुनः ॥८९८॥ युग्मम् ॥
विस्मृते च पुनर्भ्रान्तं, भवचक्रं निरन्तकम् । आसादितः कथंचिच्च, पुनरेप सदागमः ॥८९९॥
यतः—अनन्तवाराः संपन्नः, श्रावकोऽहं सुलोचने ! । द्रव्यतो यतिरूपश्च, तत्र दृष्टः सदागमः ॥९००॥
विमुच्येमं महाभागं, भूयो भूयोऽन्तरान्तरा । भ्रान्तः समस्तस्थानेषु, कृता नाना विडम्बनाः ॥९०१॥
कुतीर्थिकयतिश्चाहं सदागमविदूपकः । अनन्तवाराः संपन्नो, भवचक्रे निरन्तके ॥९०२॥
अन्यच्च भ्रमतस्तत्र, भवचक्रे ममाखिले । क्वचिद्दीर्घा क्वचिद्ध्रस्वा, संजाता कर्मणः स्थितिः ॥९०३॥
क्वचिच्च प्रबला जाता, महामोहादिशत्रवः । क्वचित्सदागमो जातः, प्रबलस्तन्निवारकः ॥९०४॥

(१) भवनपतिदेवाः ।

ततश्चानन्तवाराभिर्यावदभ्यासमागतः । अयं सदागमस्तावज्ज्ञातं यत्तन्निबोध मे ॥९०५॥
सा किंचिन्निर्मलीभूता, चित्तवृत्तिर्महाटवी । ततश्चावसरं ज्ञात्वा, प्रस्थितः स महत्तमः ॥९०६॥
उक्तश्चानेन सद्बोधो, मत्समीपागमेच्छया । आर्य ! विज्ञाप्यतां देवः, साम्प्रतं गम्यतां मया ॥९०७॥
यस्त्वया पूर्वनिर्दिष्टो, देवस्याग्रे नरोत्तम ! । सोऽधुना वर्तते लग्नः, प्रस्तावो हन्त मादृशाम् ॥९०८॥
सद्बोधेनोक्तं–

[सम्यग्दर्शनसमागम]

चारु चारूदितं तात ! सम्यक् संलक्षितोऽवधिः । ततो विज्ञापितस्तेन, सद्बोधेन नरेश्वरः ॥९०९॥ ततश्च–
चारित्रधर्मराजेन, वचनात्तस्य मन्त्रिणः । प्रहितो मत्समीपेऽसौ सम्यग्दर्शननामकः ॥९१०॥ तेन चोक्तं–
विद्येयं नीयतां देव ! प्राभृतं कन्यकाऽनघा । तस्य संसारिजीवस्य, येन तोषोऽस्य जायते ॥९११॥
सद्बोधः प्राह नाद्यापि, प्रस्तावोऽस्या महत्तम ! । नयने हन्त विद्यायास्तत्राकर्णय कारणम् ॥९१२॥
स हि संसारिजीवस्तां, मुग्धबुद्धिर्न भोत्स्यते । विशेषतस्ततस्तात्रत्सामान्येन प्रपत्स्यते ॥९१३॥ एवं च स्थिते–
यावन्न तात्त्विकं रूपं, तत्रानेनावधारितम् । तावन्न युज्यते दातुमेषा तस्मै सुकन्यका ॥९१४॥
अज्ञातकुलशीलो हि, कुर्यादस्याः पराभवम् । ततः स्याच्चित्तसंतापो, मादृशां तन्निमित्तकः ॥९१५॥
ततो गच्छ विना विद्यां, त्वं तावत्तस्य सन्निधौ । कालेन भूयसा रूपं, भोत्स्यते हि स तावकम् ॥९१६॥
ततश्च–यदा स्यात्तेन विज्ञातं, रूपं तव परिस्फुटम् । तदाऽहमागमिष्यामि, विद्यामादाय तेऽन्तिके ॥९१७॥
सदागमस्य सानाथ्यं, महामोहादितानवम् । तथा संसारिजीवस्य, सुखास्वादादिवेदनम् ॥९१८॥
देवे चाभिमुखीभावस्तस्य दर्शनकाम्यया । विद्यया रहितस्यापि, गच्छतस्तत्र ते गुणाः ॥९१९॥ युग्मम् ।
ततो यदादिशत्यार्यो, यच्चाऽऽज्ञापयति प्रभुः । इत्युक्त्वा प्रस्थितस्तूर्णं, मत्समीपं महत्तमः ॥९२०॥

[धर्मघोषमुनिदेशना]

इतश्चाहं तदा भद्रे !, नगरे जनमन्दिरे । सूनुरानन्दनन्दिन्योर्जातो नाम्ना विरोचनः ॥९२१॥
ततः संप्राप्ततारुण्यः, कानने चित्तनन्दने । गतस्तत्र मया दृष्टो, धर्मघोषो मुनीश्वरः ॥९२२।
इतश्च मे तदा ह्रस्वा, वर्तते कर्मपद्धतिः । महामोहादयो जातास्तनवो भावशत्रवः ॥९२३॥
ततश्च–प्रणम्य तं महाभाग, निषण्णः शुद्धभूतले । ज्ञातोऽहं भद्रकस्तेन, ज्ञानालोकेन धीमता ॥९२४॥
किं च–कुर्वता मानसानन्दममृतक्षरणोपमम् । ततो मे कर्तुमारब्धा, मुनिना धर्मदेशना । ९२५॥ कथम् ?

मनुजजन्म जगत्यतिदुर्लभं, जिनमतं पुनरत्र विशेषतः ।
तदिदमाप्य नरेण सुमेधसा, विढपनीयमतोऽपि परं पदम् ॥९२६॥
इतरथा पुनरेव निरन्तके, निपतितस्य सुभीमभवाध्वके ।
कुशलशम्बलमुत्कलसादनं, ननु विनाऽतुलदुःखपरंपराः ॥९२७॥
इदमवेत्य जनेन विजानता, कुशलकर्म भवोदधितारकम् ।
इह विधेयमहो विफलं मुधा, न करणीयमिदं नरजन्मकम् ॥९२८॥

अत्रान्तरे प्रत्यक्षीभूतो मे तस्य मुनेः समीपे भूयोऽपि भगवानयं सदागमः, ततो बुद्धं मया तस्य मुनेर्वचनं, अभिहितं च–यन्मया कर्तव्यं तदादिशन्तु भगवन्तः, मुनिनोक्तं–भद्राकर्णय, अवधीरणीयो

भवता भवप्रपञ्चः आराधनीयो विलीनरागद्वेषमोहोऽनन्तज्ञानदर्शनवीर्यानन्दपरिपूर्णः परमात्मा, वन्दनीयास्तदुपदिष्टमार्गवर्तिनो भगवन्तः साधवः प्रतिपत्तव्यानि जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणानि नव तत्त्वानि--सर्वथा पेयं जिनवचनामृतं--नेयं तदङ्गाङ्गीभावेन--अनुष्ठेयमात्महितं-उपचेय कुशलं--विधेयं निष्कलङ्कमन्तःकरणं हेयं कुविकल्पजल्पजालं अवसेयं भगवद्वचनसारं विज्ञेयं रागादिदोषवृन्दं लेयं सुगुरुसदुपदेशभेषजं देयं सततं सदाचरणे मानम अवगेयं दुर्जनप्रणीतकुमतवचनं निमेयं महापुरुषवर्गमध्ये स्वरूपं स्थेयं निष्प्रकम्पचित्तेनेति । एवं चोपदिशति मधुरभाषिणि भगवति धर्मघोषतपस्विनि संप्राप्तोऽसौ सम्यग्दर्शननामा महत्तमः । विलोकितो दुर्भेदकर्मग्रन्थिभेदद्वारेणागतो मया, ततः संजातं मे तत्र मुनिवचने स्वरुच्या श्रद्धानं प्रतिपन्नोऽसौ हितबन्धुबुद्ध्या महत्तमः, अभिहितो मुनिवरः--यदाज्ञापयति नाथस्तदेवाहं करिष्ये, ततोऽभिवन्द्य तं मुनिवरं गतोऽहं स्वभवने ।

[सम्यग्दर्शनजनित सामान्यबोध]

ततः प्रभृति जातोऽहं, सम्यग्दर्शनसंयुतः । तत्त्वश्रद्धानपूतात्मा विशिष्टज्ञानवर्जितः ॥९२९॥
तदेव सत्यं निःशङ्कं, यज्जिनेन्द्रैः प्रवेदितम् । एतावन्मात्रतुष्टोऽहं, तदा जातो वरानने ! ॥९३०॥
सदागमो हि विज्ञानं, स्वमावेदयते तदा । केवलं सूक्ष्मभावेषु, न मे बोधः प्रवर्तते ॥९३१॥
न संजातास्तदा सूक्ष्मविविक्तज्ञानहेतवः । गुरवः पटुवाचोऽपि, विना मे निजयोग्यताम् ॥९३२॥
यतः--स्वयोग्यतैव चार्वङ्गि ! श्रद्धानज्ञानकारणम् । गुरवः केवलं तस्यां, भवन्ति सहकारिणः ॥९३३॥
तथाहि--अकलङ्के तथा लग्ने, बोधार्थं मे सकोविदे । न श्रद्धानं ममोत्पन्नं, तदा यत्नशतैरपि ॥९३४॥
ततः परं पुनर्जातोऽनन्तवारा वरानने ! । सदागमेन सम्बन्धः, श्रद्धाशून्यस्तथाप्यभूत् ॥९३५॥
अतो यदा यदा पुंसो, यावती योग्यता भवेत् । तदा तदा भवत्यस्य तावानेव गुणोद्भवः ॥९३६॥
अतः श्रद्धानमात्रं मे, सूक्ष्मज्ञानविवर्जितम् । धर्मघोषोपदेशैस्तैः, संजातं योग्यतानुगम् ॥९३७॥ अन्यच्च--
पल्योपमपृथक्त्वे तु, क्षीणे कर्मस्थितेस्तदा । गृहिधर्मो मया दृष्टः, सामान्यान्न विशेषतः ॥९३८॥
पालितानि तदादेशाद्व्रतानि नियमास्तथा । केचित्तदा मया भद्रे ! श्रद्धासंशुद्धबुद्धिना ॥९३९॥
ततस्तदनुभावेन, सत्पुरे विबुधालये । कल्पवासिषु नीतोऽहं, गुडिकादानपूर्वकम् ॥९४०॥
अथ सौधर्मकल्पेऽहं, भास्वराकारधारकः । समुत्थितः क्षणार्धेन, शयनात्तच्च कीदृशम् ? ॥९४१॥

[सौधर्मदेवलोके जन्म]

दिव्यपल्यङ्कसत्तूलीरचित्तं स्पर्शपेशलम् । कोमलामलसच्चेलाच्छादितं चित्तनन्दनम् ॥९४२॥
सुमनोगन्धसद्धूपलसदामोदसुन्दरम् । दिव्यांशुकवरोल्लोचदृष्टिगोचरबन्धुरम् ॥९४३॥ युग्मम् ।
तत्र चोद्वेल्लमानेन, बाहुयुग्मेन विस्मितः । किरीटकटकेयूरहारकुण्डलभूषितः ॥९४४॥
भूषाङ्गरागताम्बूलवनमालाविराजितः । उपविष्टः क्षणाज्जातो द्योतिताखिलदिक्पथः ॥९४५॥
ततोऽलं जय नन्देति, जय भद्रेति भाषिणः । सलेखा ललनालोका, लोललोचनचारवः ॥९४६॥
स्तुवन्तो मां मनोहारिवचनैः कर्णपेशलैः । देवोऽसि स्वामिकोऽस्माकमिति किङ्करतां गताः ॥९४७॥ युग्मम् ।
ततोऽहं विस्मयोत्फुल्ललोचनः पर्यचिन्तयम् । तां समृद्धिं विलोक्येदं, किं मया सुकृतं कृतम् ? ॥९४८॥

ततः प्रादुरभूज्ज्ञानं, विमलं विमलेक्षणे ! । मया विरोचनावस्थाऽनेन सर्वाऽवधारिता ॥९४९॥
अत्रान्तरे समायातौ, महत्तमसदागमौ । तौ च दृष्ट्वा मया ज्ञातं, माहात्म्यमनयोरिदम् ॥९५०॥
ततस्तौ पूर्ववद्भद्रे ! प्रतिपन्नौ स्वबान्धवौ । कृतं चोत्थाय निःशेषं, कर्तव्यं विबुधोचितम् ॥९५१॥ तथाहि--

विविधरत्नसुदीधितिरञ्जिते, विकचनीरजखण्डसुमण्डिते ।
गुरुनितम्बपयोधरचारुभिः, सह वधूभिरमज्जि सरोवरे ॥९५२॥
तदनु निर्मलहाटकनिर्मितं, विशदरत्नविराजितकुट्टिमम् ।
लघु सलीलमवाप्य जिनालयं, सुदृढभक्ति कृतं जिनवन्दनम् ॥९५३॥
अथ सुनिर्मलपत्रकमक्षयं, मणिमयं जिनभाषितबन्धुरम् ।
पुलककारि रसेन तु वाचितं, लघु विघाट्य मनोरमपुस्तकम् ॥९५४॥

ततो यथेष्टशब्दादिसंभोगमुदिताशयः । सागरद्वितयं तत्र, किंचिदूनं व्यवस्थितः ॥९५५॥

[कलन्दाभिध आभीरभव]

तदन्ते मानवावासमानीय विहितस्तया । आभीरोऽहं कलन्दाख्यः, सूनुर्मदनरेणयोः ॥९५६॥
इतश्च-तत्रायातस्य चार्वङ्गि ! मम तौ चारुबान्धवौ । नागतौ विस्मृतत्वेन, महत्तमसदागमौ ॥९५७॥
सुतरां विस्मृतो भद्रे ! न दृष्टश्च तदा मया । गृहिधर्मो यतस्ताभ्यां, स निर्मुक्तो न दृश्यते ॥९५८॥
प्राचीनवासनाबन्धात् , केवलं पापभीरुकः । स्थितो भद्रकभावेन, तत्राहं हंसगामिनि ! ॥९५९॥
पुनस्तदनुभावेन, सत्पुरे विबुधालये । ज्योतिश्चारिषु नीतोऽहं, गुडिकादानपूर्वकम् ॥९६०॥
स्थितस्तत्रापि सद्भोगसम्पत्तिप्रीणितेन्द्रियः । सुचिरं किं तु तौ दृष्टौ, महामोहपरिग्रहौ ॥९६१॥
संजातश्च तयोर्भूयः, पक्षपातो बृहत्तरः । नितरां विस्मृतावेतौ, महत्तमसदागमौ ॥९६२॥
ततो जीर्णावसाने तां, वितीर्य गुडिकां पुनः । पञ्चाक्षपशुसंस्थाने, नीतोऽहं रुष्टया तया ॥९६३॥
विहितो दर्दुराकारधारकः केलिशीलया । ततः परं पुनर्भूरि, भ्रमतोऽदर्दवितर्दकम् ॥९६४॥
नानाविधेषु स्थानेषु, भ्रमयित्वा स्वभार्यया । आनीय मानवावासं, पुरे काम्पिल्यनामके ॥९६५॥
धराया वसुबन्धोश्च, सूनुर्वासवनामकः । कृतोऽहं कृतसत्कर्मा, राजपुत्रो मनोरमः ॥९६६॥

[भूयोभूय सदागमसम्यग्दर्शनगृहिधर्मसमागम]

तत्र चासाद्य शान्त्याख्यं, सूरिं सद्धर्मदेशकम् । दृष्टाविमौ पुनर्भद्रे ! महत्तमसदागमौ ॥९६७॥
ततः परिचयादाभ्यां, तनूभूताः पुनर्मम । शत्रवः सुहृदाभासा, महामोहादयस्तदा ॥९६८॥
अथाहमनयोः प्राप्य, माहात्म्यं चारुभाषिणि ! । द्वितीयकल्पे संप्राप्तः, सत्पुरे विबुधालये ॥९६९॥
तत्रस्थस्यापि संपन्नौ, ममेमौ स्मृतिगोचरौ । भुक्तं च सुचिरं दिव्यं, सुखं तत्र मयाऽतुलम् ॥९७०॥
ततो मनुजगत्यन्तः, पाटके काञ्चने पुरे । आगतस्य महामोहदोषतो विस्मृताविमौ ॥९७१॥

इत्थं सङ्ख्याधिका वारा, दृष्टो दृष्टः पुनः पुनः । सदागमयुतो भद्रे! नष्टोऽसौ मे महत्तमः ॥९७२॥
यतः–विना विरतिभावेन, सङ्ख्यातीतेषु धामसु । श्रद्धानमात्रसंतुष्टो, जातोऽहं श्रावकः पुरा ॥९७३॥
तथा–ऋजुत्वादुपरोधाद्वा, क्वचिच्छ्रद्धानसंयुतः । जातः श्रमणवेषोऽहं, विरत्या रहितो हृदि ॥९७४॥
अन्यच्च–सङ्ख्यातीता मया वारा, यत्र यत्र विलोकितः । महत्तमः पुनर्दृष्टस्तत्र तत्र सदागमः ॥९७५॥
गृहिधर्मेऽपि तन्मूले, दृष्टः सामान्यरूपतः । क्वचित्क्वचिन्न दृष्टोऽपि, स महत्तमपार्श्वगः ॥९७६॥
सम्यग्दर्शनयुक्तौ च, गृहिधर्मसदागमौ । सामान्यरूपौ तौ भद्रेऽसङ्ख्यवारा विलोकितौ ॥९७७॥
तदेते बहुशो दृष्टास्त्रयोऽपि वरबान्धवाः । जाताश्च सुखदास्तत्र, विमुक्ताश्चान्तरान्तरा ॥९७८॥ अन्यच्च–
दृष्टश्च केवलोऽप्येषोऽनन्तवाराः सदागमः । न त्वनेन विना दृष्टः, स सम्यग्दर्शनः क्वचित् ॥९७९॥
अन्यच्च–यत्र यत्र समीपस्थः, संजातो मे महत्तमः । तत्र तत्र वयस्यो मे, जातः पुण्योदयः पुरा ॥९८०॥
तेन चोत्पादिताः सर्वा, यथेष्टा भोगसम्पदः । वसतो मानवावासे, पुरे च विबुधालये ॥९८१॥ तथा–
स्थिता कर्मस्थितिर्लघ्वी, भीतभीताश्च शत्रवः । अन्तर्लीनाः स्थिता भद्रे! महामोहादयस्तथा ॥९८२॥
यत्र यत्र पुनर्जाताः, प्रबला भावशत्रवः । मत्तः पुण्योदयो नष्टस्तत्र तत्र वरानने! ॥९८३॥
नष्टे च तत्र जाता मे, सर्वा दुःखपरंपरा । भ्रमितोऽनन्तकालं च, भवितव्यतया तया ॥९८४॥ तथा–
स्थितिर्द्राघीयसी जाता, कर्मणः क्लिष्टतां गतम् । मानसं च पुनर्जातं, तत्त्वश्रद्धानवर्जितम् ॥९८५॥
अत एवोत्कटा जाता, यत्र यत्र महारयः । ते [1]मत्तस्तत्र तत्रैतौ, दूरीभूतौ सुबान्धवौ ॥९८६॥
विशेषः पुनरेषोऽत्र, कथ्यते ते निराकृतः । स मिथ्यादर्शनाख्येन, सम्यग्दर्शननामकः ॥९८७॥
ज्ञानसंवरणेनापि, दूरं नीतः सदागमः । क्वचित्तावपि निर्जित्य, ताभ्यामपि निराकृतौ ॥९८८॥
एवं चानन्तकालं ते, जयभङ्गपरायणाः । देशकालबलं प्राप्य, जाता भद्रे! परस्परम् ॥९८९॥ अन्यच्च–
मामकः पक्षपातोऽभूद्द्वयोरेव विशेषतः । तयोरेव तदा जातो, जयो भङ्गस्तदन्ययोः ॥९९०॥
अन्यदा मानवावासमध्यवर्तिनि सुन्दरे । पुरे सोपारके [2]पत्न्या, नीतोऽहं नीरजेक्षणे! ॥९९१॥
वणिजः शालिभद्रस्य, भार्याऽस्ति कनकप्रभा । जातस्तस्याः सुतोऽस्मीति, तत्र नाम्ना विभूषणः ॥९९२॥

[निदापायेन भवभ्रमणम्]

अथ सूरिं सुधाभूतमासाद्य शुभकानने । पुनर्दृष्टौ मया भद्रे! महत्तमसदागमौ ॥९९३॥ ततश्च–
तत्त्वश्रद्धानसंपन्नो, भावतो विरतिं विना । जातो गुरूपरोधेन, श्रमणोऽहं तदाऽनघे! ॥९९४॥
ततो गृहीतलिङ्गस्य, साधुमध्येऽपि तिष्ठतः । जातं मे कर्मदोषेण, [3]वैभाष्यनिरतं मनः ॥९९५॥
ततः प्रबलतां प्राप्ता, महामोहादयः पुनः । जातौ च भावतो दूरे, महत्तमसदागमौ ॥९९६॥

---

(१) मत्तः=मत्सकाशात् । (२) पत्न्या=भवितव्यतया । (३) वैभाष्य=परनिन्दा ।

ततो निमित्तमासाद्य, निमित्तविरहेण वा । स्वभावादेव सम्पन्नस्तदाऽहं परनिन्दकः ॥९९७॥
तपस्विनां सुशीलानां, सदनुष्ठानचारिणाम् । अन्येषामपि कुर्वाणो, निन्दां नो शङ्कितस्तदा ॥९९८॥
किं बहुना ?— तीर्थेश्वराणां सङ्घस्य, श्रुतस्य गणधारिणाम् ।
आशातनां दधानेन, मया पृष्ठं न वीक्षितम् ॥९९९॥ एवं च—
गृहीतयतिवेषोऽपि, पापात्मा गुणदूषकः । महामोहवशाज्जातो, मिथ्यादृष्टिः सुदारुणः ॥१०००॥
ततोऽतिघोरदुर्भेदकर्मसङ्घातपूरितः । संजातोऽहं पुनर्भद्रे ! तादृश्या पापचेष्टया ॥१००१॥
ततोऽनन्तं पुनः कालं, दुःखसागरमध्यगः । प्रायः समस्तस्थानेषु, भ्रमितोऽहं स्वभार्यया ॥१००२॥
समस्तद्रव्यराशेश्च, भुवनोदरचारिणः । तदा स्पृष्टं मयोपार्धं, भ्रमता वर्गणेक्षया ॥१००३॥
न सा विपद् न तद्दुःखं, न सा गाढविडम्बना । लोकेऽस्ति पद्मपत्राक्षि ! या न सोढा तदा मया ॥१००४॥

[प्रज्ञाविशालामानसचिन्ता]

एवं वदति संसारिजीवे विस्मितमानसा । जाताऽगृहीतसंकेता, किंचिद्भावार्थकोविदा ॥१००५॥
तथा प्रज्ञाविशालापि, श्रुत्वा तत्तादृशं वचः । अत्यन्तजातसंवेगा, चिन्तयामास मानसे ॥१००६॥
यदुत--अहो संसारिजीवस्य, महामोहपरिग्रहौ । मन्येऽहं सर्वपापेभ्यः, सकाशादतिदारुणौ ॥१००७॥
तथा-क्रोधादिभ्यो यदा जातमस्यानर्थकदम्बकम् । तदा नानेन कथितः, सम्यग्दर्शनमीलकः ॥१००८॥
ततस्तैर्निर्गुणस्यास्य, यत्तादृक्षं विजृम्भितम् । आलोच्यमानं तन्मेऽद्य, नाश्चर्यं प्रतिभासते ॥१००९॥
आभ्यां पुनरिदं सर्वं, सम्यग्दर्शनमीलके । संजातेऽपि कृतं दीर्घसंसारपतनादिकम् ॥१०१०॥
तदेतौ सगुणस्यापि, यावनर्थविधायकौ । तावेव दारुणौ नूनं, महामोहपरिग्रहौ ॥१०११॥
अथवा--यत्रेमौ तत्र ते सर्वे, सन्ति क्रोधादयः स्फुटम् । समुदायात्मकस्तेषां, महामोहो हि वर्णितः ॥१०१२॥
परिग्रहोऽपि सर्वेषां, तेषामाधारतां गतः । स हि लोभसखो लाभो, महामोहबलाधिकः ॥१०१३॥
तदेतौ गुणघाताय, सर्वेषां मूलनायकौ । जातौ संसारिजीवस्य, यत्तन्नाश्चर्यमीदृशम् ॥१०१४॥ किं च—
सद्भूतगुणघाताय, सन्ति क्रोधादयोऽप्यलम् । अनयोस्तु विशेषार्थमनेनेत्थमुदाहृतम् ॥१०१५॥ अन्यच्च--
तेऽप्याभ्यां हन्त निर्मुक्ता, न सन्त्येव कदाचन । किं तु प्रवर्तकावेतौ, ते तु ज्ञेयाः पदातयः ॥१०१६॥
अस्यैव च विशेषस्य, सिद्ध्यर्थममुना कृता । दोषसन्दर्शिकाऽमीषां, क्रमेणेत्थमुदाहृतिः ॥१०१७॥
समस्तानर्थसार्थस्य तदित्थं जनकाविमौ । अस्य संसारिजीवस्य, महामोहपरिग्रहौ ॥१०१८॥
तथापि लोकः पापात्मा, गुरुवाक्यशतैरपि । नाचरत्यनयोस्त्यागं, तत्र किं बत कुर्महे ? ॥१०१९॥
एषापि दुष्टा व्याख्याता, श्रुतिः कोविदसूरिणा । तथापि रज्यतेऽत्यर्थमस्यामेष जडो जनः ॥१०२०॥
अथ प्रज्ञाविशालां तां, गाढं संवीक्ष्य भाविताम् । स भव्यपुरुषोऽवादीदम्ब ! किं चिन्तितं त्वया ? ॥१०२१॥

तयोक्तं पुत्र ! ते सर्वं, कथयिष्ये निराकुला । दत्तावधानस्त्वं तावदस्य वाक्यं निशामय ॥१०२२॥

किं च -वत्स ! मोत्तालतां कार्षीः, किलेदं न समाप्यते । कथितप्रायमेतेन, सर्वमात्मविचेष्टितम् ॥१०२३॥

[आत्मकथानिकाशेष.]

ततस्तूष्णींस्थिते तत्र, राजपुत्रे स सादरम् । संसारिजीवः प्रोवाच, शेषामात्मकथानिकाम् ॥१०२४॥

उक्तं च तेन—

अन्यदा भार्यया भद्रे ! नीतोऽहं भद्रिले पुरे । सुतः स्फटिकराजस्य, जातोऽहं विशदस्तदा ॥१०२५॥

विमलानन्दनश्चारुस्तारुण्ये वर्तमानकः । सुप्रबुद्धमुनिं दृष्ट्वा, प्रबुद्धो जिनशासने ॥१०२६॥

अतो भूयो मया दृष्टौ, महत्तमसदागमौ । गृहिधर्मयुतौ भद्रे ! पालिताश्च व्रतादयः ॥१०२७॥

तत्त्वश्रद्धानशुद्धात्मा, स्थितश्चाहं चिरं तदा । किं तु सूक्ष्मपदार्थेषु, विविक्तज्ञानवर्जितः ॥१०२८॥

ततस्तदनुभावेन, जातः पुण्योदयोऽनघः । नीतस्तृतीयकल्पेऽहं, सत्पुरे विबुधालये ॥१०२९॥

तथाभिमतशब्दादिभोगसम्मर्दसुन्दरे । धारयित्वा सुखेनोच्चैस्तत्र सागरसप्तकम् ॥१०३०॥

ततोऽपि मानवावासे, ततश्च विबुधालये । इत्थं च कारितो भद्रे ! भूरिवारा गमागमम् ॥१०३१॥ किं बहुना ?—

बान्धवत्रययुक्तेन, द्वादशापि विलोकिताः । प्रत्येकं ते मया कल्पाः, क्वचिन्मुक्तश्च बान्धवैः ॥१०३२॥

एवं च स्थिते—

ततो द्वादशकल्पस्थो, मानवावाससम्मुखम् । प्रस्थानं कारितो भद्रे ! भवितव्यतया तया ॥१०३३॥ इति ।

विमलमपि गुरूणां भाषितं भूरिभव्याः ! प्रबलकलिलहेतुर्यो महामोहराजः ।
स्थगयति गुरुवीर्योऽनन्तसंसारकारी, मनुजभवमवाप्तास्तस्य मा भूत वश्याः ॥१०३४॥

सकलदोषभवार्णवकारणं, त्यजत लोभसखं च परिग्रहम् ।
इह परत्र च दुःखभरकरे, सजत मा व्रत कर्णसुखे ध्वनौ ॥१०३५॥

एतन्निवेदितमशेषवचोभिरत्र, प्रस्तावने तदिदमात्मधिया विचिन्त्य ।
सत्यं हितं च यदि वो रुचितं कथंचित्तूर्णं तदस्य करणे घटनां कुरुध्वम् ॥१०३६॥

॥ इत्युपमितिभवप्रपञ्चकथायां महामोहपरिग्रहश्रवणेन्द्रियविपाकवर्णनो नाम सप्तमः प्रस्तावः समाप्तः ॥



॥ अष्टमः प्रस्तावः ॥

[गुणधारणतया संसारिजीवजन्म]

अथास्ति मानवावासे, सत्पुरं सततोत्सवम् । सप्रमोदमिति ख्यातमचिन्त्यगुणभूषितम् ॥१॥
दानवारिकृताह्लादो, महेभगतिविभ्रमः । पुरंदरसमो यत्र, नरवर्गो विराजते ॥२॥
रूपलावण्यनेपथ्यनिर्विशेषोऽमरीजनैः । विलासिनीजनो यत्र, नेत्रोन्मेषैर्विशिष्यते ॥३॥
तत्रारिकरिसङ्घातविपाटितकटस्थलः । निर्व्याजपौरुषख्यातो, राजाऽस्ति मधुवारणः ॥४॥
सर्वसाधारणं कृत्वा, वितीर्णं येन नो धनम् । रूपरक्षितदारेण, सौविदल्ला न धारिताः ॥५॥
तस्यास्ति पद्मपत्राक्षी, रूपलावण्यशालिनी । प्रधानवंशसंभूता, महादेवी सुमालिनी ॥६॥
या हृदि न्यस्तराजाऽपि, राज्ञो हृदयवर्तिनी । इत्थं दर्शितचित्रापि, विचित्रगुणयोगिनी ॥७॥
अथ पुण्योदयेनाहं, संयुक्तो निजभार्यया । भद्रेऽगृहीतसङ्केते ! तस्याः कुक्षौ प्रवेशितः ॥८॥
निष्क्रान्तः कालपर्यायात्सर्वावयवसुन्दरः । छन्नः सोऽपि मया सार्धं, जातः पुण्योदयोऽनघे ! ॥९॥
जाते च मयि संजातमानन्दरसनिर्भरम् । उद्दामनृत्तसंगीतं, मधुवारणमन्दिरम् ॥१०॥ तथा—
विहितं च नरेश्वरतोपकरं, वररासरसलासविलासधरम् । बहुवादनखादनगानपरं, मदिरामदघूर्णितचारुनरम् ॥११॥

विलयाजननर्तितवामनकं, कृतकुब्जककञ्चुकिहासनकम् ।
विहितार्थिमनोरथपूरणकं, कृतलोकचमत्कृतिवर्धनकम् ॥ १२ ॥

ततः समुचिते काले, महानन्दपुरःसरम् । जनकेनैव मे नाम, स्थापितं गुणधारणः ॥१३॥
पञ्चभिश्चारुधात्रीभिर्लालितोऽमरवद्दिवि । ततोऽहं वृद्धिमायातः, सुखसागरमध्यगः ॥१४॥
इतश्च—सगोत्रो मत्पितुर्मित्रं, जीवितादपि वल्लभः । नरेन्द्रोऽस्ति विशालाक्षस्तस्य सूनुः कुलंधरः ॥१५॥
सप्रमोदे स तत्रैव तातस्नेहेन संस्थितः । ततो ममापि संपन्नः, स वयस्यः कुलंधरः ॥१६॥
स च स्वच्छाशयो धन्यः, सुरूपः सुभगः कृती । समस्तगुणसंपन्नः, सत्य एव कुलंधरः ॥१७॥
ततः संवर्धमानोऽहं, तेन सार्धं सुमेधसा । संजातोऽर्पितसद्भावः, स्नेहनिर्भरमानसः ॥१८॥
ततश्च—समं कृतकलाभ्यासौ, क्रीडारसपरायणौ । संप्राप्तौ चारुतारुण्यमावां मदनमन्दिरम् ॥१९॥
इतश्च नन्दनाकारं, पुराद्दूरे मनोरमम् । आह्लादमन्दिरं नाम, तत्रास्ति वरकाननम् ॥२०॥
तच्च चित्तचमत्कारि, लोचनाह्लाददायकम् । अत्यन्तमावयोर्जातं, सेवितं च दिने दिने ॥२१॥

[मदनमञ्जरीदर्शनेन मनोविस्मय]

अन्यदा गतयोस्तत्र, दूरवर्ति परिस्फुटम् । योषितोर्द्वितयं किंचिद्दृष्टिगोचरमागतम् ॥२२॥
तत्रैका रूपलावण्यविलासैः कामगेहिनीम् । हसन्तीव विशालाक्षी, द्वितीया ननु तादृशी ॥२३॥
अथ सा सुन्दरी दूराच्चक्षुर्गोचरचारिणम् । मां भ्रूलताधनुर्मुक्तैर्दृष्टिबाणैरताडयत् ॥२४॥
तथा—चूतशाखां समालम्ब्य, लीलयोल्लासितस्तनी । आजिहीर्षद्विलासेन, चार्वङ्गी मामकं मनः ॥२५॥
तथा—चकितं विस्मितं स्निग्धं, साकूतमतिलज्जितम् । बहिर्लिङ्गैः क्षणाच्चित्तं, तत्स्वरूपं मयेक्षितम् ॥२६॥
ततस्तां तादृशीं वीक्ष्य, मनोनयननन्दनीम् । निर्मिथ्यार्पितसद्भावां, रञ्जितं मम मानसम् ॥२७॥

ततो मया चिन्तितं—

क्रिमियं सा रतिः साक्षात्किं पुरंदरकामिनी ? । किं वा लक्ष्मीरमुत्रेत्थं, वर्तते तनुधारिणी ॥२८॥

एवं च चिन्तयन्नीपदशरीरशरेरितः । यावद्विकारलेशेन, युक्तो जातः शुभानने ! ॥२९॥

तावन्निरीक्षितस्तेन, साकूतं ज्ञातचेतसा । वयस्येन मयाऽप्युच्चैराकारवरणं कृतम् ॥३०॥ युग्मम् ।

चिन्तितं च मया हन्त, लज्जाकारि विवेकिनाम् । इदं सकामया दृष्ट्या, यत्परस्त्रीनिरीक्षणम् ॥३१॥

तदस्यां दृष्टिपातं मे, दृष्ट्वा निर्मलचेतसा । अहो कुलंधरेणात्र, न जाने किं विचिन्तितम् ? ॥३२॥

ततो लज्जाभरेणाहं, मुखं तस्य पुनः पुनः । अपश्यतः परीक्षार्थं, तदाऽत्यर्थं निभालये ॥३३॥

अथ विज्ञातसद्भावः, कालकौशलकोविदः । निगूढं काकलीं कृत्वा, मामाह स कुलंधरः ॥३४॥

कुमार ! किं स्थितेनात्र, गम्यतामधुना गृहे । क्रीडितं बृहतीं वेलामपराह्णो हि वर्तते ॥३५॥

मयोक्तं रोचते यत्ते, तदेव क्रियतामिति । ततो गृहे गतावावां, कृतं च दिवसोचितम् ॥३६॥

अथ रात्रौ विविक्तायां, शय्यायां मम तिष्ठतः । सा चेतसि कुरङ्गाक्षी, खाटूकृत्य पुनरागता ॥३७॥

नाभविष्यच्च नेदिष्ठो, यदि पुण्योदयोऽनघः । तथा मे वर्तमानस्य, तदा भद्रे ! सहायकः ॥३८॥ ततः—

सा शल्यभूता मे चित्ते, विलगन्ती मुहुर्मुहुः । अकरिष्यदवस्थां यां, साऽऽख्यातुं नैव पार्यते ॥३९॥

केवलं निकटस्थायी, यतः पुण्योदयोऽनघः । ममाभूत्तेन सा जाता, नात्यर्थं बत बाधिका ॥४०॥ त्रिभिर्विशेषकम् ।

अनघः स करोत्येव, यतः पुण्योदयो नृणाम् । सांसारिकपदार्थेषु, निराबाधमिदं मनः ॥४१॥

तथापि तामनुस्मृत्य, मनाक् चिन्तामहं गतः । यथा कस्य पुनः सा स्यान्नीलनीरजलोचना ? ॥४२॥

चिन्तयित्वा गतो निद्रां, विभाता च विभावरी । प्रभाते च समायातो, मत्समीपं कुलंधरः ॥४३॥

[परीक्षाय पुनरुद्याने गमनम्]

ईषद्दर्शनलोभेन, तस्याः सोऽभिहितो मया । वयस्य ! किं व्रजावोऽद्य, पुनराह्लादमन्दिरे ? ॥४४॥

ततः कुलधरेणोक्तं, स्मितबन्धुरया गिरा । किमिदं गम्यते ? किं ते विस्मृता तत्र कुञ्चिका ? ॥४५॥

अये ! ज्ञातो ममानेन, भाव इत्यवधार्य च । मया सोऽभिहितो मित्र ! परिहासो विमुच्यताम् ॥४६॥

गम्यतां पुनरुद्याने, का कस्येति च वीक्ष्यताम् । उचिता कन्यका चेति, नेति वा सा परीक्ष्यताम् ॥४७॥

अन्यच्च—परभार्यां ग्रहीष्येऽहं, विकल्पमिति मा कृथाः । कन्यका चेन्न मुञ्चामि, तामिन्द्रस्यापि धावतः॥४८॥

ततः कुलंधरः प्राह, मित्र ! मोत्तालतां गमः । गच्छावः क्रियते सर्वं, यद्वयस्याय रोचते ॥४९॥

ततो गतौ पुनस्तत्र, कानने तन्निरूपितम् । स्थानं यत्र पुरा दृष्टं, योषितोर्द्वितयं परम् ॥५०॥

अथादृष्ट्वा पुनस्तत्र, तां कुरङ्गमवीक्षणाम् । अहं तल्लिप्सया किंचिच्चित्तोद्वेगेन पीडितः ॥५१॥

ततश्च—वने पर्यट्य तां नून, वीक्षमाणो मुहुर्मुहुः । कुलंधरयुतो यावन्निषण्णस्तस्य भूतले ॥५२॥

तावत्तूर्णपदन्यासैः, पत्रमर्मरनिस्वनम् । आकर्ण्य कस्यचित्पृष्ठे, वलिता मम कन्धरा ॥५३॥

[मदनमञ्जरीमात्रा व्यतिकरनिरूपणं]

अथैका मध्यमावस्था, दृष्टा नारी सुविग्रहा । द्वितीया सा समायाता, याऽऽसीत्तस्या द्वितीयिका ॥५४॥

ततः सकुलंधरेण मया कृतमभ्युत्थानं नामितमुत्तमाङ्गं, ततः सविशेषं विलोकितोऽहं तया प्रौढनार्या, कृतमानन्दोदकबिन्दुपरिप्लुतनयनयुगलं, अभिहितं च—वत्स ! चिरं जीव मदीयजीवितेनापि,

कुलंधरोऽप्युक्तः—पुत्र ! दीर्घायुर्भव त्वं, अस्ति भवद्भ्यां सह किंचिद्वक्तव्यं अतो राजपुत्रमुपवेशयितुमर्हति वत्सः । कुलंधरेणोक्तं—यदादिशत्यम्बा, ततः प्रमृष्टमनेन भूतलं उपविष्टानि वयं, ततो मामुद्दिश्य तयाऽभिहितं—वत्साकर्णय—अस्ति विद्याधरालयो वैताढ्यो नाम महागिरिः, तत्र गन्धसमृद्धं नाम नगरं, तदधिपतिर्विद्याधरचक्रवर्ती कनकोदरो नाम राजा, तस्याहं कामलता नाम महादेवी । न चाभूत्तस्यापत्यं गतो भूरिकालः विषण्णोऽसौ निरपत्यतयाऽहं च, ततोऽपत्यार्थं प्रयुक्तानि भेषजानि विहिता ग्रहशान्तयः दत्तान्युपयाचितशतानि पृष्टा नैमित्तिकाः उपचरिता मन्त्रवादिनः विन्यासितानि तन्त्राणि पीतानि मूलजालानि कृतानि कौतुकानि निःसारिता अवश्रुतयः शोधितानि जातकानि अवतारिताः प्रश्नाः प्रार्थिताः प्रशस्तस्वप्नाः अभ्यर्थिता योगिन्यः कृतं सर्वं यदुक्तं किंचित्केनापीति । ततो मध्यमे वयसि प्रादुर्भूतो मे गर्भः प्रहृष्टो राजा क्रमेण च प्रसूताऽहं जाता देहप्रभया दिक्चक्रवालमुद्भासयन्ती दारिका निवेदिता राज्ञे परितुष्टोऽसौ कारितं महावर्धनकं प्रतिष्ठितं प्रशस्तदिने नाम मदनमञ्जरीति । वर्धिता सा सुखसन्दोहेन, संजातेयमत्यन्तमभीष्टा जनकप्रियपदातिनरसेनवल्लरिकादुहिता तस्याः प्रियसखी लवलिका, ग्राहिता सार्धमनया सा सकलाः कलाः प्राप्ता यौवनं, ततः कलासौष्ठवेन रूपातिशयेन च न ममोचितः पुरुषोऽस्तीति बुद्ध्या संजाता पुरुषद्वेषिणी सा वत्सा मदनमञ्जरी, तच्च लवलिकावचनेन विज्ञाय तदाकूतं विषण्णाऽहं निवेदितं महाराजाय संजातोऽसौ सचिन्तः 'कथमियं करिष्यत' इति ।

[मदनमञ्जरीस्वयंवरामण्डप]

ततः समुत्पन्नाऽस्य बुद्धिः कारितोऽनेन स्वयंवरामण्डपः समाहूताः सर्वे विद्याधरनरेन्द्राः समागता वेगेन कृतास्तत्प्रतिपत्तयः विरचिता मञ्चाः स्थिताः सर्वे यथास्थानं उपविष्टः स्वयंवरामण्डपमध्ये सपरिकरो राजा प्रविष्टाऽहं विरचितवरनेपथ्यालङ्काराङ्गरागमाल्यादिविच्छित्तिचर्चनां गृहीत्वा वत्सां मदनमञ्जरीं सह लवलिकया । तां चापहसितामरसुन्दरीलावण्यां कन्यामुपलभ्य प्रबलचित्तकल्लोलैरलमुल्ललमाना अपि तस्यां विनिविष्टदृष्टिचेष्टाः स्थिताश्चित्रन्यस्ता इव निश्चलाः सर्वेऽम्बरचराः, वर्णिता मया नामतो गोत्रतो विभवतो निवासतो रूपतो गुणतश्चिह्नतश्च प्रत्येकमेते, तद्यथा—वत्से मदनमञ्जरि !—

एषोऽमितप्रभो नाम, विद्युद्दन्तस्य नन्दनः । अतुलर्द्धिश्च वास्तव्यः, पुरे गगनवल्लभे ॥५५॥
सुराकारधरोऽशेषकलाकौशलकोविदः । केतौ चारुमयूरेण, लमत्तालं विराजते ॥५६॥ तथा—
एष भानुप्रभो नाम, नागकेसरिनन्दनः । महर्द्धिको महावीर्यो, गान्धर्वपुरनायकः ॥५७॥
कमनीयाकृतिर्वत्से ! भूरिविद्याविशारदः । आकरो गुणरत्नानां, प्रसिद्धो गरुडध्वजः ॥५८॥ तथा—
अयमपि च रतिविलासो रतिमित्रसुतो महर्द्धिसंपन्नः ।
तदधिपतिरेष निवसति रथनूपुरचक्रवालपुरे ॥५९॥
कनकावदातवपुरेष निखिलविज्ञानगुणगणोपेतः । ननु पश्य मदनमञ्जरि ! वरवानरकेतुयष्टियुतः ॥६०॥
तदेवं यावदेकैकं, वर्णयामि नरेश्वरम् । तावद्विषादमापन्ना, वत्सा मदनमञ्जरी ॥६१॥

[स्वयंवरतिरस्कार.]

तथाहि—दृष्टा सा तदा मया दुर्भगनारीव सपत्नीगुणेषु विपद्गतसुभट इव शत्रुवीर्येषु समत्सरवादीव प्रतिवादिसौष्ठवेषु सेर्ष्यवैद्य इव प्रतिवैद्यकौशलेषु सोत्सेकविज्ञानिक इव प्रतिविज्ञानिकनैपुणेषु केनचित्सादर-

मुपवर्ण्यमानेषु तेषु विद्याधरनरेश्वरेषु मया तथा श्लाघ्यमानेषु दृष्टी अपातयन्ती संजाता गाढं विद्राणवदना वत्सा मदनमञ्जरी। ततो हा किमेतदिति विचिन्त्य मयाऽभिहिता सा--यथा वत्से! मदनमञ्जरि किमभिरुचितः कश्चिदेतेषां मध्ये वत्सायै विद्याधरनरेन्द्रः ? तयोक्तं-अम्ब! तूर्णमपक्रमामो वयमितः स्थानात् अलमेतेषां दर्शनेन शिरो दुष्यति ममानेन युष्मदुपवर्णितालीकतद्गुणश्रवणेन। तदाकर्ण्य विपण्णाऽहं निवेदितं राज्ञे गतोऽसौ चिन्तां अभिहितमनेन नीयतां भवने वत्सा मा भूत्किंचित्तदुःखासिकयाऽस्याः शरीरापाटवमिति। ततस्तां गृहीत्वा निर्गताऽहं स्वयंवरमण्डपात् प्राप्ता स्वभवनं विपण्णेयं लवलिका, अभिहितमनया--यथाऽम्ब! कः पुनर्भर्तृदारिकायाः परिणयनोपायो भविष्यति ? मयोक्तं--वत्से लवलिके! वयमपि न जानीमः अतिदुष्कररोचिकेयं तव प्रियसखी प्रष्टव्येयमेव भवत्या यदत्र करणीयं समाप्तोऽस्माकमिदानीं मन्दभाग्यानां पर्यालोचगोचर इति वदन्ती स्थूलमुक्ताफलकलापकल्पैर्नयनसलिलबिन्दुसन्दोहै रोदितुं प्रवृत्ताऽहम्। लवलिकयोक्तं--स्वामिनि! मुञ्च विषादं प्रश्नयिष्याम्यहं भर्तृदारिकां, न खल्वेषा विनयसर्वस्वं स्वजननीजनकयोः सन्तापकारिणी भविष्यति, कथयिष्यति यदत्र करणीयम्, ततश्चैवं स्वस्थीकृताऽहमनया लवलिकया॥

[कनकोदरनरेन्द्रेण स्वप्नदर्शनम्]

इतश्च ते विद्याधराः स्वयंवरमण्डपादवृतवरामेव निर्गच्छन्तीमवलोक्य तां वत्सां मदनमञ्जरीं हृतसर्वस्वा इव नष्टरत्ननिधाना इव मुद्गरताडिता इव विगलितविद्या इव सर्वथा भ्रष्टच्छाया विलक्षीभूताः सकोपाः सन्तः कनकोदरनरेन्द्रमसंभाष्य निर्गताः स्वयंवरमण्डपाद्गता गृहीत्वैकां दिशं, ततो राजा प्राप्तः शोकातिरेकं लङ्घितं वर्षमिव तद्दिनं समागता रजनी न दत्तं च प्रादोषिकमास्थानं, सुप्तः केवलं तया गमितप्राया चिन्तया विनिद्रेणैव राज्ञा विभावरी ततोऽतिभरेण लब्धोऽनेन निद्रालवः जातं तत्र स्वप्नदर्शनं, दृष्टानि जाग्रतेव चत्वारि मानुषाणि -द्वौ पुरुषौ द्वे ललने, तैरभिहितं--महाराज! कनकोदर किं सुप्तस्त्वं उत जागर्षि ? नृपतिराह जागर्मि, तैरुक्तं--यद्येवं ततो मुञ्च विषादं निरूपितोऽस्माभिः पूर्वमेव वरो मदनमञ्जर्याः स एव भविष्यति अलं भवतामन्यवरान्वेषणेन अस्माभिरेव च द्वेष्याः संपादिताः खल्वस्यास्ते विद्याधरनरेन्द्राः यतो न प्रयच्छामो वयमेनामन्यस्मै वरायेति ब्रुवाणानि गतान्यदर्शनम्। अत्रान्तरे संजातः प्राभातिकतूर्यनिर्घोषः प्रबुद्धो राजा स्मृतः स्वप्नार्थः प्रहृष्टश्चेतसा, पठितं कालनिवेदकेन—

उद्गच्छन्नेष भो लोका! भास्करः कथयत्यलम्।
मा कृढ्वं चित्तसन्तापं, मा हर्षं मा च विक्लवम्॥६२॥
यथैवानादिसिद्धोऽयमस्माकं भो दिने दिने। उदयास्तक्रमः सर्वस्तथा वोऽपि भवे भवे॥६३॥

[प्रियगवेषणाय स्वयं प्रवासः]

एतच्चाकर्ण्य चिन्तितं नरपतिना--अये युक्तमुक्तमनेन समर्थितः स्वप्नार्थः। तथाहि--यथा देवरूपैः 'पूर्वनिरूपित एवास्माभिर्मदनमञ्जरीवर' इत्युक्तं तथाऽनेनापि पठता भास्करस्य प्रतिदिनमुदयप्रतापास्तमयादर्शनपुनरुदयादिवद्देहिनां जन्मनि जन्मनि सुखदुःखलाभादिकं सर्वं चिरनिरूपितमेवोपनमते, तदलं तत्र विषादादिनेत्यावेदितमिति। अतः सुतन्त्रितमेवेदं सर्वमास्ते किं नश्चिन्तयेत्याकलय्य निराकुलीभूतो राजा। इतश्च किमधुना कर्तव्यमिति पृष्टा लवलिकया मदनमञ्जरी, तयोक्तं--यदि तातोऽम्बा च मामुत्संकलयति ततोऽहं

स्वयमेव पर्यट्य वसुन्धरामात्माभिरुचितं वरं वृणोमीति । ततः कथितं मे लवलिकया तद्वचनं निवेदितं मया राज्ञे, चिन्तितमनेन-सुन्दरमेवेदं मन्त्रितं वत्सया, अयमेव तस्य देवनिर्दिष्टस्य वरस्य लाभोपाय इति विचिन्त्यानुज्ञाता वत्सा मदनमञ्जरी । ततो गृहीत्वेमामात्मसहचरीं लवलिकां निर्गता सा वरार्थं सकलभूतलावलोकनाय गतानि कतिचिद्दिनानि, स्थितौ राजाऽहं च वत्सास्नेहेन सोन्माथकौ दिशो निभालयन्तौ. अन्यदा समागतेयं सविषादा लवलिका, दृष्ट्वा चेमां द्राटकृत्य पतितमावयोर्हृदयं हा किमितीयमेकाकिनी सविषादा चोपलभ्यत इति भावनया, कृतोऽनया प्रणामः । मयोक्तं-अयि भद्रे ! लवलिके कुशल वत्सायाः, अनयोक्तं-अम्ब ! कुशलं, मयोक्तं क्व पुनरिदानीं वर्तते वत्सा ? अनयोक्तं-आकर्णयत्वम्बा-अस्ति तावदितो निर्गत्य विलोकितमावाभ्यामनेकग्रामनगरादिविभूषितं विविधवृत्तान्तभूरि भूमण्डलं प्राप्ते सम्प्रमोदपुरं दृष्टं ततो बहिराह्लादमन्दिरमुद्यानं संजातमावयोस्तद्विलोकनकुतूहलं स्थिते तस्योपरिष्टात् दृष्टौ सुरवरकुमाराकारधारकौ तत्र द्वौ राजपुरुषौ तयोश्चैकमवलोकयन्ती प्राप्ताऽत्यन्तमशरीरशरप्रहारगोचरं प्रियसखी ततस्तद्वेदनाभरनिःसहेवावतीर्णा मया सार्धं भूतले स्थिता तयोर्दृष्टिगोचरे मनागदूरवर्तिनि चूतवने तमेव राजकुमारमनिमिषिताक्षी निरीक्षमाणा ततः पातिता तेनापि तदभिमुखं दृष्टिः-

[गुणाधारयोः प्रीतिसमुद्भवः]

ततः साऽमृतसिक्तेव, क्षिप्तेव सुखसागरे । तस्मिन्नवसरे दृष्टा, मया यान्ती रमान्तरम् ॥६४॥
प्रावृट्काले यथाऽऽकर्ण्य, मेघशब्दं मयूरिका । विजृम्भते तथा बाला, तं दृष्ट्वाऽम्ब ! विजृम्भिता ॥६५॥
विलासबन्धुरं वक्त्रं, सरसं च शरीरकम् । क्वचित्कदम्बपुष्पाभं, धारयन्ती मयेक्षिता ॥६६॥
नृत्यन्तीव रसाक्षेपाल्लज्जतीव मुहुर्मुहुः । हसन्तीव विशालाक्षी, दृष्टिं ददति वल्लभे ॥६७॥
ततस्तां तादृशीं वीक्ष्य, तत्र निक्षिप्तमानसाम् । कर्तुं प्रवृत्ता सङ्कल्पमहं हर्षमुपागता ॥६८॥
यदुत-अहो विदग्धा निर्मिथ्यमहो दुष्कररोचिका । तथापि तोषिताऽनेन, सूनुना भर्तृदारिका ॥६९॥
अहो अस्य सुरूपत्वमहो लावण्यपूर्णता । अहो युक्तोऽनयोर्योगो, रतिमन्मथयोरिव ॥७०॥
अहो घटितमेवेदं, मिथुनं ननु वेधसा । सद्भावमीलनादेव, संपन्नं नः समीहितम् ॥७१॥
अथ क्षणात्स केनापि, कारणेन ससम्भ्रमः । सार्धं तेन वयस्येन, ततः स्थानाद्गतो युवा ॥७२॥
गते च तत्र सा बाला, शून्या तरलतारिका । संजाता विह्वलाऽत्यन्तं, यथा नष्टनिधानिका ॥७३॥

ततो मयोक्तं-भर्तृदारिके ! यद्यभिरुचितस्तुभ्यमेष तरुणस्ततो गम्यतां तातानाम्बासमीपे निश्चितमेषोऽस्यैव सम्प्रमोदपुराधिपतेर्मधुवारणराजस्य सूनुर्भविष्यति कस्यान्यस्येदृशो रूपातिशयः ? ततो दाप्यतामस्मै तातेनात्मा किमधुना विलम्बितेनेति, तयोक्तं -सखि लवलिके ! रुचितोऽयं मे जनः केवलं साशङ्कं मम हृदयं न रुचिता प्रायेणाहमस्मै कथमन्यथा तूर्णमपक्रमणं ? मयोक्तं-स्वामिनि ! मा मैवं वोचः, तथाहि--

किं न ते प्रहिता दृष्टिः, किं न जातः सतोषकः ? । स राजपुत्रस्त्वां दृष्ट्वा, येनेत्थमभिधीयते ॥७४॥
अत्यर्थं रुचितासि त्वं, शङ्कां मुञ्च वरानने ! । मधौ मधुकरायेव, सरसा चूतमञ्जरी ॥७५॥
वैदग्ध्यादेव तेनेदं, हन्तापक्रमणं कृतम् । ततोऽनुष्ठीयतामेतत्स्वामिन्या मम भाषितम् ॥७६॥

[लवलिकया पितृसमीपगमनम्]

ततः स्वस्थीभूता किंचिद्राजदुहिता तथाप्युक्तमनया-सखि ! लवलिके नाहं गन्तुं पारयामि अस्वस्थं मे शरीरं न च मोक्तव्य मयेदमुद्यानं, ततो गच्छतु तूर्णं भवती संपादयितुं ताताम्बयोर्वार्तामिति। ततो लक्षयित्वाऽनिवर्तकं तस्या निर्बन्धं स्थापयित्वा तां गुल्मतरुगहनमध्ये रचयित्वा शिशिरपल्लवशयनीय कारयित्वा न चलितव्यमितः स्थानान्न विधेयमन्यदपि किंचिदसमञ्जसमित्यत्रार्थे शपथशतानि समागताऽहं क्षणान्निर्धूतामिश्यामलं गगनमुत्पतन्ती वेगेन इत्येतदाकर्ण्य देवोऽम्बा च प्रमाणम्। ततो गदितं-देवि ! तावत् त्वं त्वरया गच्छ तत्समीपं संधीरय वत्सां मदनमञ्जरीं अहं तु सामग्रीं विधायागमिष्यामि यतः साशङ्कं मे मनः सकोपा निर्गतास्ते विद्याधराः प्रयुक्तश्च तद्वृत्तान्तोपलम्भाय मया चटुलः, ततः कृत-सामग्रीकस्यैव मे तत्र गन्तुं युक्त, नेतव्यं च तत्र गच्छद्भिः किंचित्प्राभृतं अतस्तद्गृह्णतो भविष्यति मे कालविलम्बः तत्तूर्णं गच्छतु देवी। मयोक्तं-यदाज्ञापयत्यार्यपुत्रः। ततः पुरस्कृत्येमां लवलिकां गृहीत्वा चात्मवल्लभां दासदारिकां धवलिकां समागताऽहं वेगेन, दृष्टा तत्रैव शिशिरपल्लवशयनीये निषण्णा परमयोगिनीव निरालम्बनं किंचिद्ध्यायन्ती वत्सा मदनमञ्जरी तया तु न लक्षितमस्मदागमनं उपविष्टा वयं निकटे, लवलिकयोक्तं-भर्तृदारिके ! समागतेयमम्बा किमेवं तिष्ठसि ? ततो लब्धा वत्सया चेतना मोटितमनया शरीरकं व्यापारिते लोचने विलोकिताऽहं, ततः ससम्भ्रममुत्थाय निपतिता मा मच्चरणयोः। मयोक्तं-वत्से ! मदीयजीवितेनापि चिरं जीव तूर्णमाप्नुहि हृदयवल्लभं अविधवा भव सुभगा संपद्यस्वेति। ततश्चोत्थाप्य समालिङ्गिता समाघ्राता मूर्धदेशे स्थापिता निजोत्सङ्गे चुम्बिता वदनकमले, अभिहिता च--वत्से मदनमञ्जरि ! धीरा भव मुञ्च विषादं सिद्धमेव पश्य समीहितं अयमागत एव वर्तते ते जनकः घटिकाः खल्वत्र प्रयोजने जल्पन्तीति। ततः कुतो ममेयन्ति भागधेयानीति शनैर्वदन्ती स्थिताऽधोमुखी वत्सा,

अत्रान्तरे गतोऽस्तं दिनकरः समुल्लसितं तिमिरं विस्फुरितस्तारकानिकरः वियुक्तश्चक्रवाकाः मुकुलितं कमलवनं निलीनाः शकुनयः प्रसरिताः कौशिकाः प्रहृष्टा भूतवेतालाः समुद्गतः शशधरः विलसिता चन्द्रिका, ततश्चित्तप्रमोदकारिणीभिः कथाभिर्विनोदयन्तीभिस्तां वत्सां मदनमञ्जरीमतिवाहिताऽस्माभिः कथंचिद्रजनी समुद्गतो दिनकरः, मयोक्तं-हले लवलिके ! स्थिता गगनमार्गे निरूपय निजस्वामिवर्तनीं किमसौ चिरयति ? ततो यदाज्ञापयति स्वामिनीति वदन्ती स्थितेव नभस्तले लवलिका स्थित्वा च क्षणमात्रं समवतीर्णा सहर्षा, मयोक्तं -हले ! किं सहर्षाऽसि किं समागतस्ते स्वामी ? अनयोक्तं--अम्ब ! नाद्यापि समागतः स्वामी किं तु समागतौ तौ राजकुमारौ निरीक्षितं च ताभ्यां भर्तृदारिकादर्शनार्थं समस्तमुद्यानं केवलमतिगहनतयाऽस्य प्रदेशस्य न दृष्टा भर्तृदारिका, ततोऽसौ भर्तृदारिकाहृदयदयितः सविषादः सन्नुक्तस्तेन द्वितीयेन यथा-कुमार ! गुणधारण ! स्थीयतां तावत् तत्रैव चूतवने तस्यैव च चूतस्याधो यत्र दृष्टाऽऽसीद्भवता सा चटुलपवनचलितकुवलयललोललोचना हृदयतस्करी किमन्यत्र पर्यटितेन ? कदाचिद्दैवयोगात्पुनस्तत्रैवोपलभ्यत इति। तेनोक्तं-एवं भवतु, ततो गतौ तौ तदभिमुखं, इदमम्ब मे हर्षकारणम्। वत्सयोक्तं-भवतु मातः ! किमेवं मां प्रतारयसि ? ततोऽनया तत्प्रत्यायनार्थं कृतानि शपथशतानि तथापि न प्रत्यायिता वत्सा मदनमञ्जरी। मयोक्तं- हले लवलिके ! किमनेन बहुना ? दर्शय तावन्मे कुमार येन तं स्वयमेवेहानीय वत्सामाह्लादयामि, अनयोक्तं- एषा सज्जाऽस्मि प्रवर्ततामम्बा, ततो निमुच्य

वत्सासमीपे तां धवलिकां प्रवृत्ताऽहं, ततश्च नीताऽहमेवमनया लवलिकया भवतः समीपं, तदेषोऽत्र कुमार ! परमार्थः--

वत्सां कण्ठगतप्राणां, तां मे दुष्कररोचिकाम् । उत्थायानुग्रहं कृत्वा, कुमारो द्रष्टुमर्हति ॥७७॥

[मदनमञ्जरीसमीपे गमन]

ततो विलोकितं मया कुलंधरवदनं, तेनोक्तं--कुमार ! गम्यतां कोऽत्र विरोधः ? ततः कृतमस्माभिस्तत्र गमनं, दृष्टा यथानिर्दिष्टा मदनमञ्जरी, ततोऽहं निमग्न इव सुखामृतमये महाह्रदे अवतीर्ण इव रतिरसमये महासमुद्रे वर्तमान इव सर्वानन्दसन्दोहे परिपूर्ण इव सर्वमनोरथभरेण प्रीणिताशेषेन्द्रियग्राम इव सर्वोत्सवसमुदये संजातस्तद्दर्शने सतीति । तथा सापि मामवलोक्य प्राप्तः स एवायमिति हृष्टा चिराद्दृष्ट इत्युत्कण्ठिता कुतस्तस्यागमनमिति सवितर्का स्वप्नोऽयं भवेदिति सविषादा स्थिरः प्रत्यय इति जातनिर्णया विरहेऽपि जीवितेति सलज्जा कथं मामेष प्रतिपद्यत इति सोद्वेगा निरीक्षते मामयमिति सप्रमोदेति संपन्ना संकीर्णरसनिर्भरहृदया । अत एव चालंकृता पुलकजालकेन विभूषिता स्वेदबिन्दुमौक्तिकनिकरेण बन्धुरा समुत्तालश्वसितपवनेन हृदयहारिणी सुललितलतेव कम्पमाना सर्वथा-

अनाख्येयं रसं कंचिदत्यन्तप्रीतिनिर्भरा । मया सा स्निग्धलोलाक्षी, भजन्ती प्रविलोकिता ॥७८॥

ततोऽभिहिता कामलतया-वत्से ! किं जातस्तेऽधुना लवलिकावचने संप्रत्ययः ? ततः स्मितेन रञ्जयन्ती मम हृदयमिव सुधाधवलेनापि विमलकपोलौ स्थिता साऽधोमुखी, जातः सर्वेषां प्रमोदः.

[मदनमञ्जर्या पाणिग्रहणम्]

अत्रान्तरे--लसद्भूषणरत्नौघप्रभाजालैः समन्ततः । प्रकाशितनभोभागैर्देवाकारानुकारिभिः ॥७९॥
भूरिविद्याधरैः सार्धं, शक्रवच्चारुलीलया । रत्नैर्भृत्वा विमानौघमागतः **कनकोदरः** ॥८०॥ युग्मम् ।
सप्रमोदपुरं वीक्ष्य, सोऽवतीर्णः सखेचरः । आह्लादमन्दिरं प्राप्तो, दृष्टोऽस्माभिः सविस्मयम् ॥८१॥

ततः कृतमस्माभिरभ्युत्थानं नामितमुत्तमाङ्गं विहिता प्रतिपत्तिः उपविष्टाः सर्वे यथास्थानं विलोकितोऽहं स्निग्धदृष्ट्या सुचिरं कनकोदरेण, नून स एवायमिति निश्चित्य तुष्टश्चेतसा पृष्टा कामलता कथितोऽनया वृत्तान्तः । कनकोदरेणोक्त-देवि ! निर्वहितमेव वत्साया दुष्कररोचिकात्वमीदृशपुरुषरत्ने यथाऽनया कृतो मनोनिर्बन्धः, न खलु शची पुरंदरादन्यत्र स्वचित्त निवेशयते, कामलतयोक्तं-एवमेतन्नास्त्यत्र सन्देहः ॥ अत्रान्तरे समागतो वेगेन चटुलः, तेन च निवेदितं किमपि कनकोदराय कर्णाभ्यर्णे । ततोऽलमत्र कालविलम्बेनेति कामलतां प्रति वदता समालोच्य सह कुलन्धरेण तत्रैव स्थाने संक्षेपतः कारितोऽहं पाणिग्रहणं मदनमञ्जर्याः कनकोदरेण निर्वर्तितो विवाहानन्दः प्रकटितानि तानि वज्रवैडूर्येन्द्रनीलमहानीलकर्केतनपद्मरागमरकतचूडामणिपुष्परागचन्द्रकान्तरुचकमेचकाद्यनर्घेयरत्नराशिपरिपूरितानि विमानानि, ततोऽभिहितः कुलन्धरः कनकोदरेण-भद्र ! राजपुत्र कोशार्थमेतेषामिहानयनं, ततो यथाऽस्माकं हर्षवृद्धये स्वीकृता मदनमञ्जरी वत्सा तथैतान्यपि स्वीकर्तुमर्हति राजपुत्रः । कुलंधरेणोक्तं-यूयमेव प्रमाणं किमत्र राजपुत्रस्य ? न खलु गुरवो यथेष्टं कारयन्तो राजपुत्राभ्यर्थनां कर्तुमर्हन्ति, ततः परितुष्टः कनकोदरः कृतकृत्योऽहमिदानीं, निश्चिन्तीभूता वत्सा मदनमञ्जरीति भावनया गता परमपरितोषं कामलता हृष्टो लवलिकादिः परिजनः, तथाहि--

कन्या शोककरी जाता, चिन्ताकृद्वर्धमानिका। वितर्ककारिणी दाने, दौर्गत्ये गाढदुःखदा॥८२॥
सानुरूपाय रूच्याय, धार्मिकाय धनैर्युता। किल निश्चिन्नताहेतुः, सद्भर्त्रे प्रतिपादिता॥८३॥
अतस्तां रत्नपूगाढ्या, दत्त्वा मदनमञ्जरीम्। मह्यं स हृष्टः संपन्नः, सबन्धुः कनकोदरः॥८४॥ अत्रान्तरे--

[विद्याधराणां मत्सरोदय]

सप्रमोदपुरस्याग्रे, मेघजालमिवातुलम्। विद्याधरबलं दूराद् दृश्यते स्म नभस्तले ॥८५॥
तच्च चक्रासितूणीरकुन्तनाराचभीषणम्। शक्तिप्रासधनुर्दण्डगदाशूलभयानकम् ॥८६॥
प्रेह्वद्वेतिप्रभाजालकरालं दर्पनिर्भरम्। असह्यवल्गदुद्दामखेचराधिपसङ्कुलम् ॥८७॥
सिंहनादमहोत्कृष्टिनिध्वानभृतदिक्पथम्। संनद्धबद्धकवचक्रोधान्धभटदारुणम् ॥८८॥
अथ सङ्ग्रामशौण्डीरं, स्पर्धमानं तदुच्चकैः। क्षणादागमदभ्यर्णे, दृष्टमस्माभिरुन्मुखैः॥८९॥ त्रिभिर्विशेषकम्।
ततः कनकोदरेणोक्तं--
भो भो विद्याधरास्तूर्णं, सज्जीभवत सम्मुखाः। सोऽयं चटुलवृत्तान्तः, साम्प्रतं स्फुटतां गतः ॥९०॥
तथाहि- सकोपा ये गताः पूर्वं, मामसंभाष्य मण्डपात्। स्थितास्ते मीलकेनैव, मत्सराध्मातचेतसः॥९१॥
त एते खेचराः सर्वे, पर्यालोच्य परस्परम्। समागताश्चरैर्ज्ञात्वा. दत्तां मदनमञ्जरीम ॥९२॥
एतेषामिदमाकूतं, किलायं गुणधारणः। हीनो भूगोचरोऽस्मत्तो, वयं विद्याधरोत्तमाः ॥९३॥
तदेते निपतन्त्यत्र, यावदाह्लादमन्दिरे। प्रेरयामः क्षणात्तावद्गरुडा इव वायसान् ॥९४॥
अपसारयत वेगेन, भूमिगोचरभृत्यकाः। सन्तो यूयममीषां हि, मिथ्यामानं स्वगोचरम् ॥९५॥
अथ तत्स्वामिनो वाक्यमाकर्ण्य रणशालिनः। समुत्पतितुमारब्धास्ते भूमिष्ठा नभश्चराः ॥९६॥
अत्रान्तरे मया चिन्तितं--

[सैन्यद्वयस्तम्भन]

अहो न सुन्दरं जातमिदमेतेन हेतुना। यतो मत्कारणेऽमीषां, प्रलयोऽत्र भविष्यति ॥९७॥
अथोत्पतितुकामेषु, तेषु तत्सम्मुखं तदा। नभःस्थिते परानीके, यज्जातं तन्निबोध मे ॥९८॥
निर्व्यापारं गताटोपं, निःशब्दं स्थिरलोचनम्। केनचिल्लेप्यतां नीत, स्तम्भित्वा तद्बलद्वयम् ॥९९॥
ततो निष्पन्दमन्दाक्षं, तत्सैन्यद्वितयं तदा। भूम्याकाशस्थमन्योऽन्यं, चित्रन्यस्तमिवेक्षते ॥१००॥
अथ तेषां नभःस्थानां, गतोऽहं दृष्टिगोचरम्। समं मदनमञ्जर्या, निविष्टो वरविष्टरे ॥१०१॥
ततोऽस्मद्दर्शनात्तेषां, सर्वेषां मनसि स्थितम्। अहो रूपमहो मूर्तिरहो कान्तिरहो गुणाः ॥१०२॥
अहो धैर्यमहो स्थैर्यं, नरस्यास्य महात्मनः। अहो मदनमञ्जर्याः, पर्यालोचितकारिता ॥१०३॥
ययाऽयमीदृशो भर्ता, गृहीतः स्वपरीक्षया। अमुनैव वयं नूनं, स्तम्भिता निजतेजसा ॥१०४॥
तथाहि समं मदनमञ्जर्या, दृश्यते मुत्कलः स्वयम्। अयं सह वयस्येन, राजपुत्रो न शेषकाः ॥१०५॥
तदुष्टं कृतमस्माभिर्नररत्नं यदीदृशम्। जिघांसितं महापापैः, प्राप्तमेतद्धि तत्फलम् ॥१०६॥
तदेष स्वामिकोऽस्माकं, वयमस्य पदातयः। एवं चिन्तयतां तेषां, प्रशान्तो मत्सरानलः ॥१०७॥
ततस्ते तत्क्षणादेव, केनचिन्मुत्कलीकृताः। आगत्य पादयोस्तूर्णं, पतिता मे नभश्चराः ॥१०८॥
अथाभिधातुमारब्धा ललाटे कृतकुड्मलाः। क्षन्तव्यं दुष्कृतं नाथ! भृत्यास्ते ह्यधुना वयम् ॥१०९॥

ततस्तच्चेष्टितं दृष्ट्वा, संपन्नो गतमत्सरः । जातश्च मुत्कलो भद्रे ! ससैन्यः कनकोदरः ॥११०॥
ततो नभश्चराः सर्वे, क्षमयन्तः परस्परम् । आनन्दोदकपूर्णाक्षाः, संजाता बान्धवाधिकाः ॥१११॥

[मधुवारणसमागम]

तं च वृत्तान्तमाकर्ण्य, स राजा मधुवारणः । जनको मे समायातस्तत्रैवाह्लादमन्दिरे ॥११२॥
ततश्च—मयाऽम्बरचरैः सर्वैः, कृत्वाऽभ्युत्थानमादरात् । समं मदनमञ्जर्या, नतं तातांह्रिपङ्कजम् ॥११३॥
ततोऽम्बाऽन्तःपुरैः सार्धं, शेषलोकाश्च ते मया । खेचरैश्च प्रणामादिविधिना बहुमानिताः ॥११४॥
तदनन्तरं च—आनन्दपुलकोद्भेदसुन्दरं दधता वपुः । हर्षनीरप्लुताक्षेण, तातेनालिङ्गनं कृतम् ॥११५॥
ततः कुलधरेणास्मै, वृत्तान्तो निखिलस्तदा । स्फुटो विनयनम्रेण, यथावृत्तो निवेदितः ॥११६॥
अथ ते खेचराः सर्वे, तातस्याग्रे प्रभाषिताः । देवोऽयं स्वामिकोऽस्माकं, त्वत्पुत्रो जीवदायकः ॥११७॥
अयं धन्यः कृतार्थोऽयं, भूषिताऽनेन मेदिनी । अचिन्त्यवरवीर्योऽयं, नास्ति लोकेऽप्यमूदृशः ॥११८॥
ततोऽम्बरचरैरेवं, स्तूयमानं विलोक्य माम् । तातः प्रह्लादमापन्नो, जननी च सुमालिनी ॥११९॥
तथाहि–अन्तःपुरं पुरं सैन्यं, बालवृद्धैः समाकुलम् । मद्भूतिं तादृशीं दृष्ट्वा, संजातं हर्षनिर्भरम् ॥१२०॥
ततः सर्वे प्रमोदेन, सप्रमोदे तदा पुरे । प्रवेष्टुकामास्तोषेण, जनाः किं किं न कुर्वते ॥१२१॥
तथाहि— गगनचारिगणे वियति स्थिते, मयि च तातयुते जयकुञ्जरे ।
कश्चिदन्तरवर्तिकुलंधरे, करिणिकानिहिते दयिताजने ॥१२२॥
विविधलासविलासपरायणे, प्रमदनिर्भरगायनबन्धुरे ।
वरविभूषणमाल्यमनोहरे, विबुधवृन्दसमे निखिले जने ॥१२३॥
ननु परिस्फुटमेव तदा नरैः, प्रमुदिताशयसौख्यभरोद्धुरैः ।
अमरलोकसमानमिदं वनं, पुरवरं च मुदेति विनिश्चितम् ॥१२४॥
पृथुनितम्बपयोधरचारुभिः, प्रमदनृत्तपरैः प्रमदाजनैः ।
इति विलासशतैर्वरलोचने, प्रविशति स्म स सर्वजनः पुरे ॥१२५॥
ततो विद्याधरैः सार्धं, सबन्धुः कनकोदरः । तातेनाह्लादितोऽत्यर्थं, दानसन्मानपूजनैः ॥१२६॥ किं बहुना ?–
सर्वरत्नमयं किं वा, किं वाऽमृतविनिर्मितम् । किं वा सुखरसापूर्णं, किं वा वाग्गोचरातिगम् ? ॥१२७॥
गाढाह्लादकरं चित्ते, पूर्णसर्वमनोरथम् । भद्रेऽगृहीतसङ्केते ! लङ्घितं मम तद्दिनम् ॥१२८॥
तथाहि–संप्राप्तं कामसर्वस्वं, लब्धा मदनमञ्जरी । लाभाच्च रत्नराशीनां, सपूर्णोऽर्थमनोरथः ॥१२९॥ तथा
तातास्बाचित्ततोषेण, बन्धुपौरसुखेन च । रिपूणां प्रतिघातेन, जातश्चित्तोत्सवो महान् ॥१३०॥
ततश्चाह्लादसन्दोहपरिपूरितमानसः । स्थित्वा प्रदोषे तातादिसहितोऽहं यथेच्छया ॥१३१॥
ततः सकलसामग्रीसनाथे देववद्दिवि । सार्धं मदनमञ्जर्या, स्थितः संगमसद्मनि ॥१३२॥
तत्रावगाहितो दिव्यः, सुरतामृतसागरः । केवलं लौल्यमुक्तत्वान्नासञ्जि नितरां मया ॥१३३॥
लब्धनिद्रासुखोऽत्यन्तं, प्रबुद्धः सह कान्तया । कृतं प्रभातकर्तव्यं, तातास्बावन्दनादिकम् ॥१३४॥

[कुलधरेण स्वप्नदर्शन]

अथायातः प्रभातेऽसौ, मत्समीपं कुलंधरः । स मां प्रत्याह दृष्टोऽद्य, मया स्वप्नः स कीदृशः ? ॥१३५॥

मानुषाणि मया पञ्च, भो दृष्टानि परिस्फुटम् । त्रयः पुमांसो द्वे नार्यौ, तैश्चेदं तत्र भाषितम् ॥१३६॥
यदुत—य एष सुखमन्दोहसागरो गुणधारणे । संजातोऽयं कृतोऽस्माभिः, स सर्वो नात्र संशयः ॥१३७॥
तथाऽन्यदपि यत्किंचिदस्य पूर्वं परत्र च । संपद्येत तदस्माभिस्तन्त्रितं भो कुलन्धर ! ॥१३८॥
एवं तानि त्रुवाणानि, मानुषाणि ममाग्रतः । गतान्यदर्शनं बुद्धस्ततोऽहं गुणधारण ! ॥१३९॥
न जाने कानि तान्यत्र, मानुषाणि विशेषतः । तन्त्रयन्ति सदा यानि, कार्याणि तव भावतः ॥१४०॥
मयोक्तं कथ्यतामेष, तातादिभ्यस्त्वयाऽधुना । स्वप्नो विज्ञायते येन, भावार्थोऽस्य परिस्फुटः ॥१४१॥
ततो निवेदितस्तेन. विद्वत्सङ्घातपूरिते । ताताऽऽस्थाने निजस्वप्नो, मद्वयस्येन धीमता ॥१४२॥
ततस्तातादिभिः सर्वैरेकवाक्यतया तदा । निजबुद्ध्या विनिश्चित्य, स्वप्नार्थोऽयं प्रभाषितः ॥१४३॥
अनुकूलानि वर्तन्ते, देवरूपाणि कानिचित् । यैरीदृशी कुमारस्य, कृता कल्याणमालिका ॥१४४॥
तैरेव प्रियमित्राय, कुमारस्य निवेदितम् । तोपात्स्वप्नान्तरे सर्वं, यथाऽस्माभिरिदं कृतम् ॥१४५॥
एतच्चाकर्ण्य मे चित्ते, पूर्वापरविरोधतः । स्मृत्वा कामलतावाक्यं, सन्देहः समजायत ॥१४६॥ ततो मया चिन्तितं-

[स्वप्नविशेषार्थोहापोह.]

कनकोदरराजेन, किं चत्वारि पुरा तथा । किं वा कुलंधरेणाद्य, पञ्च दृष्टानि तानि वै ? ॥१४७॥
कानि वा देवरूपाणि, ममैवं कार्यचिन्तनम् । अनुकूलानि कुर्वन्ति, किं वोरीकृत्य कारणम् ? ॥१४८॥
सर्वथा सर्वमेवेदं, गहनं प्रतिभासते । ममाद्यापि न जानेऽहं, किमत्र बत कारणम् ? ॥१४९॥ एवं च स्थिते—
यद्यतीन्द्रियवेत्तारं, कंचित्पश्यामि सन्मुनिम् । ततः पृष्ट्वाऽऽत्मसन्देहमेनं कुर्यां विनिर्णयम् ॥१५०॥
तदेवंविधसङ्कल्पात्सन्देहकलितोऽप्यहम् । तदा तातादिनिर्दिष्टं, स्वप्नार्थं तं न दूषये ॥१५१॥
अथ ते खेचराः सर्वे, दिनानि कतिचित्तदा । कनकोदरसंयुक्ताः, संस्थिता मम मन्दिरे ॥१५२॥
अथाह्लादामृतक्षोदप्रीणितास्ते यथेच्छया । स्वस्थानमन्यदा प्राप्ताः, भृत्यभावं प्रपद्य मे ॥१५३॥
ततो मदनमञ्जर्या, सार्धं मे रतिसागरे । निमग्नस्यामरस्येव, लीलया यान्ति वासराः ॥१५४॥
वर्धते च तया सार्धमाह्लादोऽमृतदायकः । सद्भावमीलनासारः, प्रेमाबन्धो मनोहरः ॥१५५॥
तातचिन्तितकार्यस्य, प्रणताखिलभूभुजः । न मे तदा विशालाक्षि ! चिन्तागन्धोऽपि विद्यते ॥१५६॥
किं च—विद्याधरोपनीतैश्च, माल्यभूषादिभिर्मम । संपूर्णसर्वकामत्वाज्जाता तृप्तिसुखासिका ॥१५७॥
तदेवं लौल्यहीनात्मा, प्रविष्टः सुखसागरे । स्थितोऽहं तत्र चार्वङ्गि ! सभार्यः सकुलंधरः ॥१५८॥

[कन्दमुनीश्वरदर्शनम्]

अन्यदा मित्रयुक्तेन, गतेनाह्लादमन्दिरे । सभार्येण मया दृष्टः, कन्दनामा मुनीश्वरः ॥१५९॥
ततो विनयनम्रोऽहं, प्रणिपत्य यतीश्वरम् । तस्याग्रे भूतले शुद्धे, निषण्णो धर्मकाम्यया ॥१६०॥
अथ प्रह्लादजननी, चेतसः कर्णपेशला । विहिता मे यतीन्द्रेण, तेन सद्धर्मदेशना ॥१६१॥
तां चाकर्णयता भद्रे ! विशुद्धेनान्तरात्मना । आविर्भूतौ मया दृष्टौ, पुनस्तौ वरबान्धवौ ॥१६२॥
ततश्च प्रत्यभिज्ञातौ, यथाऽयं स सदागमः । अयं चासौ महाभागः, सम्यग्दर्शननामकः ॥१६३॥
अथ प्रपन्नौ भावेन, तौ मया वरलोचने ! । गुरुवाक्यप्रबुद्धेन, हितकारितया नरौ ॥१६४॥ इतश्च—
वेदनीयनरेन्द्रस्य, पदातिः परिकीर्तितः । यः सातनामा राजेन्द्रः, सत्पुरे विबुधालये ॥१६५॥

सोऽत्यन्तं मयि रक्तात्मा, मित्रभावविधित्सया । पूर्वमेव मया सार्धं, सप्रमोदेऽप्युपागतः ॥१६६॥
प्राक् केवलं तिरोभूतः, सोऽकार्षीन्मे सुखासिकाम् । आविर्भूतस्तदा जातो, यदा जातौ सुबान्धवौ ॥१६७॥
ततश्च—या सत्कलत्ररत्नौघभोगजन्या सुखासिका । तदानीं गुरुमूले मे, साऽनन्तगुणतां गता ॥१६८॥
अन्यच्च—तदा कुलंधरेणापि, महत्तमसदागमौ । तथा मदनमञ्जर्या, तौ प्रपन्नौ यथा मया ॥१६९॥
ततोऽधिकतरं तुष्टस्तदाऽहं स च मे मुनिः । विशेषतः करोत्येव, भूयः सद्धर्मदेशनाम् ॥१७०॥ अत्रान्तरे—

[*चारित्रधर्मराजेन सद्बोधप्रेरणम्*]

चित्तवृत्तिमहाटव्यां, लीनलीनाः प्रकम्पिताः । भयेन रोधकं हित्वा, महामोहादयः स्थिताः ॥१७१॥
ततश्च—चारित्रधर्मराजेन, मन्त्री सद्बोधनामकः । इदमुक्तस्तदा भद्रे ! मनाक् संतुष्टचेतसा ॥१७२॥
यदुत-सुन्दरोऽवसरो गन्तुं, विद्यामादाय तेऽधुना । आर्य ! संसारिजीवस्य, पार्श्वे गाढं फलप्रदः ॥१७३॥
तथाहि—शुभ्रीभूताऽधुना किंचिच्चित्तवृत्तिमहाटवी । निवृत्तो रोधकोऽस्माकमीषद्दूरे च शत्रवः ॥१७४॥
तं कर्मपरिणामाख्यं, ततः पृष्ट्वा नरेश्वरम् । गच्छ त्वं शीघ्रमादाय, विद्यामेनां सुकन्यकाम् ॥१७५॥
कन्दसाधुसमीपस्थः, साम्प्रतं स चरैर्मया । विज्ञातस्तत्र चावश्यं, भवन्तं प्रतिपत्स्यते ॥१७६॥
सद्बोधेनोदितं देव ! युक्तमेतन्न संशयः । किं तु कालविलम्बोऽत्र, युक्तोऽद्यापि प्रयोजने ॥१७७॥
स हि पुण्योदयस्तस्य, स च सातो वयस्यकः । कियन्तमपि तत्कालमेतौ भोगफलप्रदौ ॥१७८॥
अतोऽद्यापि बलादेतौ, गृहे तं गुणधारणम् । शब्दादिसुखसंपूर्णं, वात्सल्याद्धारयिष्यतः ॥१७९॥
एवं च स्थिते—अध्यास्ते स गृहं यावदनुवर्तनया तयोः । शब्दादिविषयग्रामं, सुखहेतुं च मन्यते ॥१८०॥
तावन्न युज्यते देव ! मम गन्तुं तदन्तिके । नयनं न च विद्याया, जाघटीति कथंचन ॥१८१॥ युग्मम् ।

[*गृहिधर्मप्रेषणावसरः*]

केवलं प्रेष्यतामेष, देवेन निजदारकः । तदन्तिकेऽधुना तूर्णं, गृहिधर्मः सभार्यकः ॥१८२॥
प्रस्तावोऽस्याधुना देव ! तत्समीपेऽतिसुन्दरः । गन्तुं सपरिवारस्य, वर्तते कार्यसाधकः ॥१८३॥
गतमात्रमिमं देव ! स भावेन प्रपत्स्यते । भविष्यतीष्टा तस्यास्य, भार्या सद्गुणरक्तता ॥१८४॥
किं च—यदा सदागमस्तावत्तस्य पार्श्वे गतः पुरा । तदाऽयं द्रव्यतस्तेन, भूरिवारा विलोकितः ॥१८५॥
यदा तु तत्पार्श्वगतः, सम्यग्दर्शननामकः । महत्तमोऽतिवात्सल्यान्नीतस्तेनाप्ययं तदा ॥१८६॥
पल्योपमपृथक्त्वे च, लङ्घिते तेन भावतः । प्रपन्नो गृहिधर्मोऽयं, पूर्वमासीत्ततः परम् ॥१८७॥
यदा यदा पुनर्दृष्टौ, महत्तमसदागमौ । असङ्ख्या भावतो वाराः, प्रपन्नोऽयं तदा तदा ॥१८८॥
अधुना केवलं देव ! यतोऽभ्यर्णे सदागमः । तेनैष हन्त तत्पार्श्वे, विशेषेण प्रहीयते ॥१८९॥
तत्तूर्णं यातु तत्पार्श्वे, रञ्जयत्वेष तं गुणैः । प्रस्तावो मादृशां तत्र, ततो याने भविष्यति ॥१९०॥

[*गृहिधर्मस्वीकारे गुणाः*]

अन्यच्च—महामोहादिसन्त्रासश्चित्तवृत्तेर्विशुद्धता । गृहिधर्मेऽपि तत्रस्थे, भवेद्देव ! विशेषतः ॥१९१॥
तथा—स स्यादभिमुखोऽस्माकमक्षेपेण दिदृक्षया । अनेन गृहिधर्मेण, पार्श्वस्थेन प्रचोदितः ॥१९२॥
चेतःसुखासिका गुर्वी, सन्तुष्टिः कर्मतानवम् । भवभीतेरभावश्च, गृहिधर्मेण ते गुणाः ॥१९३॥
तस्मात्प्रस्थाप्यतामेष, गृहिधर्मस्तदन्तिके । यास्यामोऽवसरं ज्ञात्वा, पश्चात्सर्वे वयं पुनः ॥१९४॥

तदिदं मन्त्रिणो वाक्यं, श्रुत्वा सन्नीतिनिर्मलम् । चारित्रधर्मराजेन, प्रहितो निजदारकः ॥१९५॥
स कर्मपरिणामस्य, गत्वा मूलं तदाज्ञया । समागतो ममाभ्यर्णे, तत्रैवाह्लादमन्दिरे ॥१९६॥
अथ कन्दमुनेश्चार्वी, शृण्वतो धर्मदेशनाम् । आविर्भूतो ममाग्रेऽसौ, मुनिना च प्रकाशितः ॥१९७॥
गुणरक्ततया युक्तस्तथा द्वादशमानुपैः । मयाऽतः प्रतिपन्नोऽसौ, बन्धुबुद्ध्या नरोत्तमः ॥१९८॥
तथा कुलंधरेणापि, कान्तया च सबान्धवः । प्रपन्नो गृहिधर्माख्यो, जाताऽत्यन्तं सुखासिका ॥१९९॥

[कन्दमुन्यग्रे स्वप्नार्थजिज्ञासा]

अथ कन्दमुनिः पृष्टः, सन्देहं पूर्वचिन्तितम् । तं मया स्वप्नमंबद्धं, सद्भावार्थबुभुत्सया ॥२००॥
ततः कन्दमुनिः प्राह, स्वप्नार्थस्य विनिर्णयः । अस्यातीन्द्रियवेत्तारं, विना नैवोपलभ्यते ॥२०१॥
सन्ति मे केवलालोकभास्करा वरसूरयः । गुरवो निर्मला नाम, दूरदेशविहारिणः ॥२०२॥ एवं च—
तत्पादमूलं यास्यामि, वन्दनार्थमहं यदा । तदा तान् प्रश्नयिष्यामि, भद्र ! तावकसंशयम् ॥२०३॥
यतः—योऽयं स्वप्नद्वयाज्जातः, सन्देहस्ते मनोगतः । विविक्तं तस्य भावार्थं, विज्ञास्यन्ति महाधियः ॥२०४॥
मयोक्तं—भदन्त ! यदि तेऽत्रैव, गुरवस्ते कथंचन । आगच्छेयुस्ततस्तत्स्यात्सुन्दरादपि सुन्दरम् ॥२०५॥
मुनिराह महाभाग ! गतोऽहं वचनेन ते । गुरून् विज्ञाप्य ते नूनं, पूरयिष्ये मनोरथम् ॥२०६॥
अथवा केवलालोकालोकिताखिलचेतसः । विज्ञाय भवतश्चित्तमागमिष्यन्ति ते स्वयम् ॥२०७॥
केवलं गृहिधर्मेऽत्र, सम्यग्दर्शनसंयुते । सदागमे च कर्तव्यो, भवता तावदादरः ॥२०८॥ ततश्च—
इदं कन्दमुनेर्वाक्यमाकर्ण्य श्रुतिपेशलम् । महाप्रसाद इत्येवं, ब्रुवाणोऽहं सभार्यकः ॥२०९॥
समित्रश्च तदा भद्रे ! विनयानम्रमस्तकः । प्रणम्य तं महाभागं, काननाद्भवने गतः ॥२१०॥ युग्मम् ।
ततः सोऽपि महाभागो, मुनिर्मुनिवरैर्युतः । गतो निर्मलसूरीणां, गुरूणां पादवन्दकः ॥२११॥
अथ कालक्रमाद् भद्रे ! स राजा मधुवारणः । तदा लोकान्तरीभूतः, पिता मे लब्धधर्मकः ॥२१२॥

[गुणधारणराज्याभिषेक]

ततो राज्येऽभिषिक्तोऽहं, बन्धुमन्त्रिमहत्तमैः । महानन्दविमर्देन, हर्षनिर्भरमानसैः ॥२१३॥
ततः परिणतं राज्यं, रक्तं मे राजमण्डलम् । शत्रवः किङ्करीभूता, वशीभूताश्च खेचराः ॥२१४॥ किं बहुना ?—
मरुतोऽपि ममाज्ञायां, वर्तन्ते नतमस्तकाः । वर्धेते कोशदण्डौ च, जायन्ते सर्वसम्पदः ॥२१५॥ किं च—
नाकुञ्चितं क्वचिच्चाप, न कृता कोपदारुणा । दृष्टिस्तथापि मे जातं, राज्यं कण्टकवर्जितम् ॥२१६॥
तथाप्येवंविधेऽनल्पसुखसन्दोहकारणे । विद्यमानेऽपि नो जात, मम लौल्याकुलं मनः ॥२१७॥ किं तर्हि ?
सदागमे सदोद्योगी, सम्यग्दर्शनतत्परः । पुण्योदयेन संयुक्तो, गृहिधर्मे कृतादरः ॥२१८॥
सातेनाह्लादितो नित्यं, स्थितोऽहं सकुलंधरः । समं मदनमञ्जर्या, देववद्दिवि लीलया ॥२१९॥ युग्मम् ।

[निर्मलसूरिसमागमन]

एवं च तिष्ठतस्तत्र, मग्नस्यानन्दसागरे । साम्राज्ये मम चार्वङ्गि ! भूरिकालोऽतिलङ्घितः ॥२२०॥
अथान्यदा ममास्थाने, प्रविश्य प्रियदारकः । कल्याणो नाम मामेवं, प्रणिपत्य व्यजिज्ञपत् ॥२२१॥ यदुत—
आह्लादमन्दिरे देव ! देवदानवपूजिताः । समागता महाभागा, निर्मला नाम सूरयः ॥२२२॥
तच्छ्रुत्वाऽहं तदा भद्रे ! कल्याणवचनं मुदा । न मामि देहे नो गेहे, न पुरे न जगत्त्रये ॥२२३॥

ततोऽङ्गलग्नसंयुक्तं, तस्मै संतुष्टचेतसा । दीनाराणां मया लक्षं, दापितं प्रियभाषिणे ॥२२४॥
ततः सर्वादरेणाहं, सवयस्यः सभार्यकः । निर्गतो नगराद्भद्रे ! सूरीणां पादवन्दकः ॥२२५॥
अथामरकृते दिव्ये, सत्कार्तस्वरभास्वरे । ते सूरयो मया दृष्टाः, कमले स्थितमूर्तयः ॥२२६॥
वेष्टिता मुनिवृन्देन, देवदानवखेचरैः । तेभ्यो नम्रोत्तमाङ्गेभ्यः, कुर्वाणा धर्मदेशनाम् ॥२२७॥
ततश्च-बृहदानन्दरोमाञ्चभूषितः सह राजकैः । अहं भक्त्या विहायेदं, नारेन्द्रं चिह्नपञ्चकम् ॥२२८॥
तद्यथा-छत्रं खड्गं किरीटं च, वाहनं च सचामरम् । ततः कृतोत्तरासङ्गः, प्रविष्टः सूर्यवग्रहे ॥२२९॥
ततो भगवतः सम्यग्, द्वादशावर्त्तवन्दनम् । दत्त्वा यथाक्रमं शेषान्, प्रणम्य मुनिपुङ्गवान् ॥२३०॥
लब्धाशीर्वादतुष्टात्मा, भूयो नत्वा मुनीश्वरम् । प्रीतः सपरिवारोऽहं, निषण्णः शुद्धभूतले ॥२३१॥

[निर्मलकेवलिदेशना]

अथ कर्मविषोत्तारकारिणी भव्यदेहिनाम् । अमृतश्राविवाक्येन, गुरुणाऽऽरम्भि देशना ॥२३२॥
कथं ?-भो भव्याः शरणं धर्मो, नास्त्यन्यत्सततभ्रमे । लसदुद्दामदुःखौघसङ्कुले भवचक्रके ॥२३३॥

मरणाय भवे जन्म, कायो रोगनिबन्धनम् ।
तारुण्यं जरसो हेतुर्वियोगाय समागमः ॥२३४॥
निमित्तं विपदां लोके, देहिनां सर्वसम्पदः ।
तन्नास्ति यन्न दुःखाय, वस्तु सांसारिकं जनाः ! ॥२३५॥

एवं च स्थिते-
अमूर्ताः सर्वभावज्ञास्त्रैलोक्योपरिवर्तिनः । क्षीणसङ्गा महात्मानः, केवलं सुखमासते ॥२३६॥
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्ताः, सर्वाबाधाविवर्जिताः । सर्वसंसिद्धसत्कार्याः, सुखं तेषां किमुच्यते ॥२३७॥
किं च-जन्माभावे जरामृत्योरभावो हेत्वभावतः । तदभावे च निःशेषदुःखाभावः सदैव हि ॥२३८॥
परमानन्दभावश्च, तदभावे हि शाश्वतः । व्याबाधाभावसंसिद्धं, सिद्धानां सुखमिष्यते ॥२३९॥
अथवा-त्यक्तबाह्येतरग्रन्था, निःस्पृहा भवचारके । संतुष्टा ध्यानयोगेन, प्रशमामृतपायिनः ॥२४०॥
निःसङ्गा निरहङ्कारा, निर्मलीभूतचेतसः । सुखिनः केवलं लोके, देहिनोऽपि सुसाधवः ॥२४१॥
सुखमेव च वाञ्छन्ति, सर्वे जगति जन्तवः । तच्च नास्त्येव संसारे, विहायैकां सुसाधुताम् ॥२४२॥
तदिदं भो महासत्त्वा ! विनिश्चित्य विधीयताम् । विमुच्यासारसंसारं, भवद्भिः सा सुसाधुता ॥२४३॥
ततो भद्रे ! तदा मह्यं, प्रलघूभूतकर्मणः । इदं भगवतो वाक्य, चित्तेऽत्यन्तं सुखायितम् ॥२४४॥
चिन्तितं च मया—
करोमीदं यदादिष्टं, भदन्तैः सुखकारणम् । ततः कृतं मया भद्रे ! प्रव्रज्याभिमुखं मनः ॥२४५॥

[स्वप्नसंशयप्रकाशनम्]

अत्रान्तरे विरतवचसि भगवति वचनसुधासेकवर्षिणि निर्मलसूरिकेवलिनि कन्दमुनिना बद्धकरकमलमुकुलं विधाय ललाटपट्टेऽभिहितमनेन-भगवन्निह जगति कस्य दुःशकः कालविलम्बः कर्तुम् ? भगवतोक्तं-जिज्ञासोर्गुरुमूले स्वसन्देहस्य। कन्दमुनिराह-यद्येवं ततो गुणधारणमहाराजस्येदानीं संशयमपनेतुमर्हन्ति भगवन्तः, भगवतोक्तं-एवं क्रियते, मयोक्तं-महाप्रसादः, तदा कन्दमुनिं प्रत्यभिहितं-भदन्तानुगृही-

तोऽहं भगवता भगवन्तं प्रश्नयता सुतरामनेन वचनविन्यासेन, कन्दमुनिनोक्तं–महाराजानुग्रहार्हा एव यूयं साम्प्रतं भगवद्वचनमाकर्ण्यतां, स्थितोऽहं प्रह्वतरो नतोत्तमाङ्गः। ततो भगवतोक्तं–महाराज! गुणधारणायं ते सन्देहः, 'यथा यानि कनकोदरराजेन स्वप्ने दृष्टानि चत्वारि मानुषाणि, यानि कुलधरण पश्चोपलब्धानि–कतमानि तानि कथं वा मदीयकार्यपरंपरानिर्वर्तकानि किमिति चैकेन चत्वारि अपर्ण पश्च तानि विलोकितानि, तथा किं देवरूपाणि तानि किं वाऽर्थशून्यं स्वप्नमात्रं तद्द्वयमपी'ति संशयः। मयोक्तं–भगवन्नेवमिदं यदादिष्टं भगवता। भगवानाह महाराज! यद्येवं ततो महतीयं कथा कथं निवेद्यतां कथं वा श्रूयते? मयोक्तं–तथापि ममानुग्रहेण कथयन्तु भगवन्तः। ततः कथिता भगवताऽसंव्यवहार नगरादारभ्य सर्वा सर्वसंविधानकोपेता संक्षेपेण मदीयवक्तव्यता।

[संशयापनयन पुण्योदय स्वप्नसम्पादक]

अभिहितं च–तदेवमस्ति ते महाराज! त्वच्चित्तवृत्तौ विविधनगराकराद्याकुलमन्तरङ्गमहाराज्यं, केवलमभिभूय तान् युष्मद्धितकरणशीलांश्चारित्रधर्मराजादीन् बहिष्कृत्य च भवन्तं महामोहादिभिस्तदियन्तं कालमुद्दालितमासीत्, असावपि कर्मपरिणामो भवतः प्रतिकूलतया तदेव महामोहादिबलं पुष्णाति स्म, साम्प्रतं पुनरसौ भवतोऽनुकूलो वर्तते, तेनैव च भवन्तं प्रति प्रगुणीकृताऽऽत्मीयमहादेवी कालपरिणतिः प्रसादिता ते भार्या भवितव्यता प्रह्वीकृतो निजमहत्तमस्तेऽङ्गभूतः स्वभावः प्रोत्साहितस्तव सहचरः पुण्योदयः तथाऽवधीरिताः किंचिन्महामोहादयः आश्वासिताश्चारित्रधर्मराजादयः दर्शिता ते पूर्वमत्यन्तसुरममालिका। यतः प्रभृति पुनस्ते वल्लभीभूतः सदागमो ऽभीष्टीभूतः सम्यग्दर्शनाख्यो महत्तमः तत आरभ्यानुकूलतरोऽसौ कर्मपरिणामो वर्तते, ततो जनिता सपरिवारेण [1]तेन विबुधालये निवसतस्ते विशिष्टतरा सुखपद्धतिः, अधुना **मधुवारण**राजमन्दिरमवाप्तस्य ते सुखसन्दोहसिद्धये सुतरां प्रोत्साहितोऽसौ तव वयस्यः पुण्योदयः ततस्तेन संपादितेयं तव बहिरङ्गभार्या **मदनमञ्जरी** तेनैव च 'महापुरुषतया किलाहं कोऽत्र कार्यसम्पादनस्य? नूनमेतान्येव सकलकार्याणि घटयन्ती'ति मन्यमानेन कामरूपितया दर्शितानि स्वप्ने कनकोदरराजस्य तान्येव कर्मपरिणामकालपरिणतिस्वभावभवितव्यतालक्षणानि निरूपितोऽस्माभिरेव वरो मदनमञ्जर्याः ततोऽलं भवतामन्यवरान्वेषणेनेति ब्रुवाणान्येव चत्वार्यपि मानुषरूपतया, तेषु च विद्याधरेषु वैमुख्यमस्या मदनमञ्जर्यास्तेनैव तव वयस्येन पुण्योदयेन जनितं, किं तु महानुभावतया तदपि कर्मपरिणामादिभिर्विहितमिति स्वप्ने तन्मुखेनैवानेन प्रकाशितम्।

[स्वदर्शनवितरणा पुण्योदयेन]

ततोऽभिहितः कर्मपरिणामेन पुण्योदयः–यदुतार्य! न सुन्दरमाचरितं भवता यदेवं कृत्वा स्वयमेव प्रयोजनं तथापि त्वयाऽऽत्मा प्रच्छादितो वयं पुनरेवं तत्कर्तृतया प्रकाशितानि, पुण्योदयः प्राह–देव! मा मैवमाज्ञापयत यूयं, आदेशकारी खल्वेष किङ्करजनो यूयमेवात्र परमार्थतः कर्तृणि तान्येव च मया कनकोदरराजाय प्रकटितानि ततः किमत्रानुचितं? कर्मपरिणामेनोक्तं–आर्य? सत्यमेवमिदं, तथापि त्वमेवात्र परमो हेतुः यतो न सुखसाधनानि सुन्दरकार्याणि भवद्विरहे वयमपि कर्तुं पारयामः ततः प्रकाशनीयः खल्वात्माऽपि भवता नान्यथा मे चित्तनिर्वृतिरिति। पुण्योदयेनोक्तं यदाज्ञा-

[1] पुण्योदयेन।

पयति देवः, ततः कुलंधराय स्वप्ने प्रकाशितानि पुनरात्मपञ्चमानि तान्येव पुण्योदयेन, ख्यापिता च सकलकार्यसाधकता । तदेवमेतानि महाराज ! मानुषाणि तथैव तेषां चतुर्णां पञ्चानां च दर्शने कारणमेतान्येव वा ते सम्बन्धीनि निःशेषप्रयोजनानि तन्त्रयन्ति, मा कार्षीः सन्देहमिति ।

[पुण्योदयेन वर्धित सर्वोऽपि सुखसागर.]

मयोक्तं—भगवन्निदानीं योऽयं मदनमञ्जरीलाभादारात्संपन्नो मम निरुपमः सुखामृतसागरावगाहः किमेषोऽपि तेनैव कर्मपरिणामादिभिरुत्साहितेन पुण्योदयेन जनितः ? भगवानाह—बाढं, अपि च—महाराज ! न केवलमेष एव जनितस्तवानेन, किं तर्हि ? पूर्वमप्यमुना पुण्योदयेन विहितानि भवतो भूयांसि सुन्दरप्रयोजनानि, तथाहि—नन्दिवर्धनावस्थायां जनितस्तवानेन कनकमञ्जरीसम्बन्धः, रिपुदारणकाले विहितो नरसुन्दरीमीलको, वामदेवदशायां घटिता सद्गुणनिर्मलेन निर्मिथ्यवत्सलेन विमलेन सह मैत्री, धनशेखरावसरे संपादिता नानाविधविचित्रा रत्नराशयो, घनवाहनभवे समुत्पादितो निर्व्याजविमुक्तकलङ्कस्य तवोपर्यकलङ्कस्य तादृशः स्नेहभावः आविर्भावितं तत्तादृशं महाराज्यं तथा विरचिताः सर्वस्थानेषु सुखपद्धतयः, केवलं न विज्ञातं वयस्यपुण्योदयस्य तदा भवता माहात्म्यं, भवताऽऽरोपितो हिंसावैश्वानरमृषावादशैलराजस्तेयबहुलिकामैथुनसागरपरिग्रहमहामोहादिषु निःशेषदोषपुञ्जेष्वपि गुणसन्दोहः । मयोक्तं-भदन्त ! यदि ममायं सुखपरंपराहेतुः पुण्योदयो वयस्यः प्रागप्यासीत् ततः किमिति मे तावन्ति दुःखकदम्बकानि संजातानि किमिति वाऽनन्तकालमित्थमदर्दवितर्दक परिभ्रमणं मे संपन्नमिति ? भगवानाह महाराज ! यद्येवं ततः समूलमेमत्ते कथयिष्ये येन समस्तस्ते सन्देहो विद्गलतीति । मयोक्तं भगवन्ननुग्रहो मे ।

[भवभ्रमण-दुःखजनकः पापोदयः]

भगवतोक्तं—महाराज ! कथितं तावत्तुभ्यमिदं यथा असंव्यवहारनगरे संसारिजीवाभिधानो वास्तव्यः कुटुम्बिकस्त्वमसि, तत्र चेदमनादिरूढमन्तरङ्गं चित्तवृत्तौ महाराज्यमिदं च चारित्रधर्मराजादिक महामोहनरेन्द्रादिकं च, तत्र सैन्यद्वयं परस्परविरुद्धमपि सकलकालमवस्थितमेवाभूत् । स तु कर्मपरिणामो राजा तावकीनं वीर्यमुपलक्षयन्नेव निजवर्गतया महामोहादिवत्सलोऽपि भवतोऽत्र बलद्वये साधारणमात्मान दर्शयति । ज्वलद्वितापकः खल्वेष स्वरूपेण यदा यदेव तयोर्बलवत्सैन्यमुपलभते तदा तदेवोपबृंहयति । तस्य च कर्मपरिणामस्य द्वौ सेनापती—एकः पापोदयो द्वितीयोऽयमेव पुण्योदय इति । स च पापोदयस्ते गाढं प्रतिकूलः स्वरूपेण, अत एव कर्मपरिणामस्य सम्बन्धि यत्तव वैरिभूतमेकान्तेनासुन्दरं सैन्यं तदेवासावधिकुरुते, पुण्योदयस्तु तवानुकूलः अत एव कर्मपरिणामस्य सत्कं यत्ते बन्धुभूतं सुन्दरमनीकं तदेवायमधिकुरुते, स च पापोदयस्तवानादिरूढोऽसंव्यवहारनगरादारभ्याभिव्यक्तरूपः सखाऽभूदेव, ततः सुप्रसिद्धत्वान्न दर्शितस्ते कचिदप्यसौ विशेषतो भवितव्यतया, ततस्तवेदं महाराज ! गुणधारण समस्तं माहात्म्यं यत्ते संपन्नमनन्तकालमेवं परिभ्रमणं संभूता भूरिदुःखसन्ततयः परिकल्पितं हिंसादिषु हितत्वं न लक्षितोऽयं हितकरणशीलः पुण्योदयः, अन्यच्च —तेनैव पापोदयेन बहिष्कृतस्त्वं तस्माच्चित्तवृत्तिवर्तिनः स्वकीयादन्तरङ्गमहाराज्यात् तेनैव चाभिभूय प्रच्छादितं तव स्वाङ्गिकमेकान्तहितं चारित्रधर्मराजादिकमन्तरङ्गबलं तेनैव चानवरतं पारितोषिकमेकान्ताहितमपि बन्धुभूतं च दर्शितं महामोहादिसैन्यं बष्टतया च प्रकटितस्ते पुरतो वत्सलमित्ररूपतयाऽऽत्मा, तथाऽयमपि पुण्योदयस्तदा तेन पापोदयेनानुबद्धो यद्यपि ते सुखकारणमभूत्

तथापि न कल्याणपरंपराहेतुतां प्रतिपन्न इति, तन्नास्य वराकस्य दोषोऽसौ, किं तर्हि ? तस्यैव दुरात्मनः सर्वोऽप्ययं दोष इति ।

[पुण्योदयप्रबलता]

मयोक्तं—भगवन्निदानीं किमित्यसौ पापोदयस्तूष्णीमास्ते ? भगवतोक्तं- महाराज ! न स्वतन्त्रः खल्वसौ, किं तर्हि ? सोऽप्यमीषां कर्मपरिणामकालपरिणतिस्वभावभवितव्यतादीनामायत्तो वर्तते, ततोऽमीभिरेव साम्प्रतं भवतः सकाशाद्दूरीकृतोऽसौ दुरात्मा, तथाहि--यतः प्रभृति भवत्समीपममीभिरनुज्ञातः समागतः सदागमस्तत एवारभ्य निवर्तिता तस्यामीभिः प्रबलता, ततः--

ईषद्दूरस्थितस्तेऽसौ, न जातो दुःखकारणम् । पापोदयोऽवकाशस्तु लब्धः पुण्योदयेन च ॥२४६॥
ततः सदागमे प्रीतिः, संजाता तेऽन्तराऽन्तरा । संपन्नं च सुखं भूप ? तन्माहात्म्येन किंचन ॥२४७॥
क्वचित्पापोदयो भूयस्तैरेव निकटीकृतः । ततस्त्वं दुःखितो जातः, परित्यक्तः सदागमः ।२४८॥ एवं च—
आलोच्याऽऽलोच्य यत्कृत्यमेकवाक्यतया पुरा । अमीभिर्भूप ! निःशेषभवत्कार्यविचिन्तकैः ॥२४९॥
अनन्तवाराः संसारे, पुण्योदयसमन्वितः । पापोदयं तिरोधाय, मीलितस्ते सदागमः ॥२५०॥
यदा तु गृहिधर्मेण, सम्यग्दर्शननामकः । युक्तः पार्श्वे तवानीतोऽमीभिरेव स्वतेजसा ॥२५१॥
तदा पुनरसौ त्वत्तोऽमीभिर्दूरतरीकृतः । पापोदयः सैन्ययुतस्तव चोत्पादितं सुखम् ।।२५२॥ युग्मम् ।
यतः पुण्योदयोपेतो, नीतस्त्वं विबुधालये । आनीतो मानवावासे, कृता कल्याणमालिका ॥२५३॥
पुनश्च सर्वैः संभूय, तैरेव निकटीकृतः । पापोदयः ससैन्यस्ते, त्याजिताश्च सुबान्धवाः ।२५४॥
एवं चासङ्ख्यवारास्ते, कृतौ विरहमीलकौ । अमीभिर्यावदानीतस्त्वमत्र नृपमन्दिरे ॥२५५॥
ततोऽधुनाऽस्ति दूरस्थो, गाढं पापोदयस्तव । ससैन्यो वर्तते तेन, तूष्णीमास्ते नरोत्तम ! ॥२५६॥
तैः कर्मपरिणामाद्यैरेते तु निकटीकृताः । साम्प्रतं ते महाभागाः, सातपुण्योदयादयः ॥२५७॥
किं च--न विद्यतेऽनुबन्धोऽस्य, तेन पापोदयेन भोः । तेनायं तेऽधुना भूप ! जातः पुण्योदयोऽनघः ॥२५८॥
अनेन तेऽधुना शस्या, लौल्यनिर्मुक्तमानसा । ईदृशीयं महाराज ! जनिता सुखमालिका ॥२५९॥
किं बहुना ?--चेष्टन्ते सर्वकार्येषु, सुन्दरासुन्दरेषु ते । तान्येव स्वप्नदृष्टानि, मानुषाणि न संशयः॥२६०॥
यदा हि प्रतिकूलानि, वर्तन्ते तानि ते तदा । पापोदयं पुरस्कृत्य, दुःखमुत्पादयन्त्यलम् ॥२६१॥
अनुकूलानि तान्येव, कारणैरपरापरैः । पुण्योदयेन ते तात ! कारयन्ति सुखासिकाम् ॥२६२॥
यत्प्राप्तं प्राप्स्यते यच्च, भवताऽत्र शुभाशुभम् । नित्यं तत्रोपयुक्तानि, तान्येव ननु कारणम् ॥२६३॥

[निजयोग्यता प्रधान कारणम्]

मयोक्तं भगवन्नत्र, विधातव्ये शुभाशुभे । किमकिंचित्करो वर्ते, सर्वथाऽहं स्वनाऽऽत्मना ? ॥२६४॥
सूरिराह महाराज ! मैवं मंस्थाः कदाचन । परिवारस्तवामूनि, भवानेवात्र नायकः ।२६५॥ तथाहि--
भवतो योग्यताऽपेक्षं, चेष्टन्ते सर्वकर्मसु । ते कर्मपरिणामाद्यास्त्वच्छुभाशुभहेतवः ॥२६६॥
ततस्ते निजयोग्यत्वं, प्रधानं भूप ! कारणम् । सुन्दरेतरवस्तूनां, ते पुनः सहकारिणः ॥२६७॥
राजन्ननादिरूढा सा, विद्यते तव योग्यता । यया सम्पादितः सर्वः, प्रपञ्चोऽयममूदृशः ॥२६८॥
तया विना पुनः सर्वे, सुन्दरेतरवस्तुषु । ते कर्मपरिणामाद्याः, किं कुर्वन्तु वराककाः ? ॥२६९॥

ततस्त्वमत्र प्राधान्यात्कारणत्वेन गीयसे । सुन्दरेतरकार्याणां, सर्वेषामात्मभाविनाम् ॥२७०॥
मयोक्तं नाथ ! यद्येवं, मम कार्यप्रसाधनम् । ततः किमियदेवात्र, कारणानां कदम्बकम् ? ॥२७१॥
किंचान्यदपि विद्येत, मम कार्यप्रसाधकम् ? । सूरिराह महाराज ! समाकर्णय साम्प्रतम् ॥२७२॥

[परमेश्वराज्ञाप्रभाव]

याऽस्त्यसौ निर्वृतिर्नाम, नगरी सुमनोहरा । निरन्तानन्दसन्दोहपरिपूर्णा निरामया ॥२७३॥
तस्यामनन्तवीर्याढ्यः, सर्वज्ञः सर्वदर्शनः । अनन्तानन्दसंपूर्णः, सुस्थितः परमेश्वरः ॥२७४॥
यो विद्यते महाराज ! सर्वस्य जगतः प्रभुः । सुन्दरेतरकार्याणां, स ते परमकारणम् ॥२७५॥
अनेकोऽप्येकरूपोऽसौ, गीयते परसूरिभिः । अचिन्त्यवीर्ययुक्तात्मा, परमात्मा स गद्यते ॥२७६॥
स बुद्धः स विरिञ्चाख्यः, स विष्णुः स महेश्वरः । निष्कलः स जिनः प्रोक्तो, दृष्टतत्त्वैर्महात्मभिः ॥२७७॥
न चेच्छया करोत्येष, तत्र कार्यपरम्पराम् । वीतरागो गतद्वेषो, निरिच्छोऽय यतो मतः ॥२७८॥
यथा तु कुरुते तात ! तवायं सुन्दरेतरम् । कार्यजातं तथा वच्मि, साम्प्रतं विशदाक्षरैः ॥२७९॥
सिद्धा भगवतस्तस्य, निश्चला सुप्रतिष्ठिता । अस्त्याज्ञा सर्वलोकानामाकाल करणोचिता ॥२८०॥ यदुत--
निरन्धकारा कर्तव्या, चित्तवृत्तिः प्रभास्वरा । गोक्षीरहारनीहारकुन्देन्दुविशदा सदा ॥२८१॥
गृहीत्वा रिपुबुद्ध्या च, महामोहादिकं बलम् । अनुक्षणं निहन्तव्यं, घोरसंसारकारणम् ॥२८२॥
बन्धुबुद्ध्याऽवधार्येदं, पोषणीयं च सर्वदा । चारित्रधर्मराजाद्य, सैन्यं कल्याणकारणम् ॥२८३॥
इयमेतावती तस्य, सर्वलोकसमाश्रया । वर्तते नृपतेराज्ञा, विधातुर्हितकारिणी ॥२८४॥
संपूजनेन ध्यानेन, स्तवेन व्रतचर्यया । इयमेव विधातव्या, तदाज्ञा तस्य सेवकैः ॥२८५॥
निषिद्धाचरणैः सर्वैरियमेव विराध्यते । तदुक्तद्वादशाङ्गार्थः, सर्वोऽप्यस्यां व्यवस्थितः ॥२८६॥
तां च यो यावतीं लोके, विदधाति नरः सदा । अजानन्नपि तद्रूप, तस्य तावद्भवेत्सुखम् ॥२८७॥
केवलं-यस्तु तां लङ्घयन्नाज्ञां, विपरीतं विचेष्टते । जानन्नपि च तद्रूपं, स भवेद्दुःखभाजनम् ॥२८८॥
यो यावत्कुरुते मोहात्तदाज्ञालङ्घनं जनः । तस्य तावद्भवेद्दुःखं, यथा तत्करणे सुखम् ॥२८९॥ एवं च स्थिते-

[आज्ञया सुख दुःख च]

तदाज्ञालङ्घनाद्दुःखं, तदाज्ञाकरणात्सुखम् । यतः संपद्यते सर्वं, सर्वेषामपि देहिनाम् ॥२९०॥
अणुमात्रमपि तन्नास्ति, भुवनेऽत्र शुभाशुभम् । तदाज्ञानिरपेक्षं हि, यज्जायेत कदाचन ॥२९१॥
तेनेच्छारागविद्वेषरहितोऽपि स भूपतिः । निर्वृतिस्थोऽपि कार्याणां, ज्ञेयः परमकारणम् ॥२९२॥
स एव परमो हेतुस्तस्ते गुणधारण ! । सुन्दरेतरकार्याणां, सर्वेषां नात्र संशयः ॥२९३॥
तदाज्ञालङ्घनात्पूर्वं, जाता ते दुःखमालिका । अधुना तत्करत्वेन, सुखलेशोऽयमीदृशः ॥२९४॥
यदा तु तस्य संपूर्णामाज्ञसि तां करिष्यसि । तदा यः सुखसन्दोहस्तस्य विज्ञास्यसे रसम् ॥२९५॥
तदेवं परमार्थेन, सर्वेऽमी तत्र हेतवः । प्रधानगुणभावेन, विज्ञेयाः सर्वकर्मसु ॥२९६॥
एकेनापि विना भूप ! कार्यसिद्धिर्न विद्यते । अमीषां प्रोक्तहेतूनां, समाजः कार्यकारकः ॥२९७॥
मयोक्तं कारणग्रामः, किं पूर्णोऽयं निवेदितः ? । एतावानेव किंवाऽस्ति, नाथान्यदपि कारणम् ? ॥२९८॥
सूरिराह महाराज ! प्रायशः प्रतिपादितः । एतावानेव हेतूनां, मीलकः कार्यसाधकः ॥२९९॥

अत्रैव शेषहेतूनामन्तर्भावो हि विद्यते । यथा यदृच्छानियती, प्रविष्टे भवितव्यताम् ॥३००॥

[अम्बरचरानीकस्तम्भनहेतुजिज्ञासा]

ततो निर्नष्टसन्देहस्तदाऽहं वरलोचने ! । प्रतिपद्य गुरोर्वाक्यं, तत्तथेति कृताञ्जलिः ॥३०१॥

पृष्टवानपरं सूरिं, सन्देहं मानसे स्थितम् । गाढमद्भुतहेतुत्वात्पूर्वकाले वितर्कितम् ॥३०२॥

यदुत भगवन् !—

एकं भूमौ तथाऽऽकाशे, वर्तमानं द्वितीयकम् । तदाऽम्बरचरं सैन्यं, स्तम्भितं केन हेतुना ? ॥३०३॥

सूरिराह महाराज ! तत्रापि परकारणम् । सैव पुण्योदयो ज्ञेयः, शेषकारणचोदितः ॥३०४॥

केवलं तस्य वीर्येण, प्रसन्ना वनदेवता । तत्रोपरि तया सर्वं, स्तम्भितं तद्बलद्वयम् ॥३०५॥

रक्षितं मरणं तेषां, खेचराणां तवेच्छया । विमुक्तास्त्वदभिप्रेता, जनिता बान्धवोपमाः ॥३०६॥

तयाऽपि च कृतं कार्यं, कृतं तेनाभिधीयते । यतः प्रचोदकस्तस्याः, सैव पुण्योदयोऽनघः ॥३०७॥

अयं हि कार्यं कुर्वाणः, सुन्दरं ते नरोत्तम ! । संप्रेर्य कारयत्यन्यैर्हेतुभिर्न पुनः स्वयम् ॥३०८॥

पापोदयोऽपि कुर्वाणस्तव कार्यमसुन्दरम् । प्रचोद्य कारयत्यन्यैर्हेतुभिर्न पुनः स्वयम् ॥३०९॥

तदन्ये हेतवो भूप ! सुन्दरेतरवस्तुषु । अप्रधानास्त्वया ज्ञेयास्तावेव परमौ यतः ॥३१०॥

तथाहि—पूर्वं पापोदयेनैव, कारणैरपरापरैः । कारितानि विचित्राणि, दुःखानि बहुशस्तव ॥३११॥

इदानीं कारयत्येष, स्वसामर्थ्येन ते सुखम् । **निमित्तमात्रं बाह्यानि, वस्तूनि गुणधारण !** ॥३१२॥

[गुणधारणस्वावगम]

मयोक्तं—भगवन्नष्टो मेऽधुना समस्तसन्देहः, अवधारितमिदं मया भगवद्वचनेन यदुत—यदाऽहमज्ञानात्तिष्ठामि निर्वृतिनगरीपरमेश्वरमहाराजसुस्थिताज्ञालङ्घने करोमि भावान्धकारमलिनां चित्तवृत्तिं पोषयामि महामोहादिबलं तदा तत्तादृशं मदीयस्वरूपमालोक्य प्रतिकूलतां गतानि कर्मपरिणामकालपरिणतिस्वभावभवितव्यतादीनि तेन कर्मपरिणामसेनापतिना पापोदयेन मत्प्रतिकूलात्मीयानीकसहितेन मम विविधदुःखपरंपरां तत्सम्पादकपरापरबाह्याभ्यन्तरवस्तुप्रेरणद्वारेण जनयन्ति । यदा पुनरहं स्वयोग्यतामपेक्ष्य तस्यैव भगवतः सुस्थितमहानृपतेः प्रसादेनावाप्तसंज्ञानो भवामि, ततस्तदाज्ञाया वर्ते, विदधामि भावतमःक्षालनेन निर्मलां चित्तवृत्तिं प्रीणयामि चारित्रधर्मराजादिकं सैन्यं तदा तत्तादृशं मदीयचरितमाकलय्यानुकूलतां गतानि कर्मपरिणामकालपरिणतिस्वभावभवितव्यतादीनि अनेन द्वितीयेन कर्मपरिणामसेनापतिना पुण्योदयेन मदनुकूलात्मीयसैन्यसहितेन मम सुखपरंपरां तज्जनकान्यबाह्याध्यात्मिकवस्तुप्रचोदनमुखेनैव संपादयन्ति। तदेषां **'सामग्री जनिका न पुनरेकं किंचित्कस्यचिज्जनकमस्ती'** ति, केवलं यदादिष्टं भगवद्भिर्यथा'ऽयं तवामुना पुण्योदयेनेदानीमीदृशः **सुखलेशः** संपादित' इत्यनेन वाक्येन जनितो मे कुतूहलातिरेकः ।

[सम्पूर्णसुखजिज्ञासा]

यतश्चिन्तितं मया—अये यस्मिन्नहनि मया लब्धा मदनमञ्जरी तथाऽवाप्ता अनर्घेया भूरिरत्नराशयः प्रशमितं चिन्तितमात्रेण खेचराणां रणविड्वर समुत्पन्नस्तेषां परस्परं बन्धुभावः गताः सर्वेऽपि मम भृत्यतां जनितस्तातानम्बादिपरितोषः प्रादुर्भूतो महोत्सवः समुत्पादितो नागरकानन्दः प्राप्ता मद्वचनेऽम्बर-

चराः विहितं तातेन तत्सन्मानादिकं श्लाघितोऽहं सर्वैः उल्लासितो यशःपटहः—तदहर्मम सुखनिर्भरतयाऽमृतमयमिव प्रतिभासितमासीत् । तथा वर्धमाने मदनमञ्जर्या सह प्रेमाबन्धे जाते कन्दमुनिदर्शने मित्रतामुपगतेषु सातसदागमसम्यग्दर्शनगृहिधर्मेषु परिणते महाराज्ये विलसतो यथेच्छया सुखसन्दोहपरिपूर्णतया संजाता मम देवलोकसुखेऽप्यवज्ञा, तथाऽधुना दृष्टे भगवति वन्दिते सविनयं नष्टे सन्देहे पश्यतो भगवद्वदनकमलमाकर्णयतो वचनामृतं मम सुखातिरेको वाग्गोचरातीतो वर्तते तत्कथं भगवद्भिरादिष्टं यथाऽधुना संपादितस्तवानेन पुण्योदयेनायं सुखलेश इति ? तथाहि—यद्ययमपि सुखलवस्तर्हि कीदृशं पुनस्तत्संपूर्णं सुखं स्यादिति संजातो मे मनसि वितर्कः, ततः कथयन्तु भगवन्तः कीदृशं पुनः शरीरिणस्तत्संपूर्णं सुखमिति ? निर्मलसूरिणोक्तं—महाराज ! गुणधारण स्वानुभवेनैव विज्ञास्यसि त्वं तत्स्वरूपं किं तस्य कथनेन ? मयोक्तं—भदन्त ! कथं ? भगवानाह महाराज ! यदा परिणेष्यसि त्वं दश कन्यकाः भविष्यति ताभिः सह सद्भावसारस्ते प्रेमाबन्धः ततस्तदोद्दामलीलया विलसतस्ते तन्मध्ये यत्सुखं संजनिष्यते तदपेक्षया सुखलव एवायमधुनातनो वर्तते । मयोक्तं—भगवन्नवधारितमिदानीं मया यथाऽहमेनामपि मदनमञ्जरीं परित्यज्य भगवत्पादमूले प्रव्रजितको भविष्यामि, तत्कथमहं कन्यकादशकं परिणेष्ये ?

[दशकन्यापरिणयनेन सुखोत्कर्ष]

भगवतोक्तं---अवश्यं त्वया परिणेतव्यास्ताः कन्यकाः, किं च---युक्तमेव ताभिः प्रव्राजयिष्यामो भवन्तं, न विरुध्यते ताभिः सार्धं प्रव्रज्या, किं वा तद्रहितस्य ते प्रव्रजितेन ? न वलते हि प्रव्रजितो विरहितस्तादृशकुटुम्बिनीभिः, ततस्ताः परिणीय नियमाद्भवता प्रव्रजितव्यमिति । एतच्चाकर्ण्य किमेवं भगवान् भाषत इति विमर्शेन स्थितोऽहं विस्मितः, कन्दमुनिनोक्तं—भदन्त ! कतमास्ताः कन्यकाः याः परिणेतव्या महाराजेन ? भगवानाह—यास्ताः पूर्वं निवेदिता मयाऽस्यैव चिरन्तनवृत्तान्तं कथयता ता एव ताः कन्यका नान्याः । कन्दमुनिराह—भदन्त ! विस्मृतास्ता मेऽधुना अतो ममानुग्रहेण यत्र ता वर्तन्ते यस्य वा सम्बन्धिन्यो यन्नामिका वा सर्वमिदं निवेदयितुमर्हन्ति भगवन्तः । भगवतोक्तं—आकर्णय, अस्ति **चित्तसौन्दर्य** नाम नगरं तत्र **शुभपरिणामो** राजा तस्य **निष्प्रकम्पताचारुते** द्वे भार्ये तयोर्यथाक्रमं **क्षान्तिदये** (१ २) कन्यके विद्येते, तथाऽपरमस्ति **शुभ्रमानस** नाम नगरं तत्र **शुभाभिसन्धिर्नरेन्द्रः** तस्य **वरतावर्यते** देव्यौ तयोर्**मृदुतासत्यते** (३-४) कन्यके संजाते इति । तथाऽन्यदस्ति **विशदमानसं** नगरं तत्र **शुद्धाभिसन्धिर्नरेश्वरः** तस्य **शुद्धतापापभीरुते** गृहिण्यौ तयोश्च **ऋजुताऽचौरते** (५-६) नाम द्वे कन्यके संभूते इति । तथा **शुभ्रचित्तपुरेऽस्ति सदाशयो** नरपतिः तस्य **वरेण्यता** देवी तस्या द्वे कन्यके तद्यथा—**ब्रह्मरतिमुक्तता** (७-८) चेति, तथाऽन्याऽस्ति तेनैव सम्यग्दर्शनेन स्ववीर्येण निर्वर्तिता **मानसीविद्या** (९) नाम कन्यका, तथाऽपरा चारित्रधर्मराजस्य विरतेर्महादेव्याः कुक्षेः संभूता **निरीहता** (१०) नाम कन्येति, तदेतानि तान्यार्य कन्दमुने ! तासां दशानामपि कन्यकानां वासाभिजननामानि तेऽस्ति निवेदितानि । कन्दमुनिनोक्तं—नाथ ! महाप्रसादः, केवलं कथं पुनरेताः कन्यकाः प्राप्तव्या महाराजेन ? भगवतोक्तं—आलोच्य सह कालपरिणत्यादिभिर्गृहीत्वा तदनुमतिं कृत्वा पुरतः पुण्योदयं गत्वा तेषु पुरेषु अनुकूल्य तज्जननीजनकान् स एव कर्मपरिणामो दापयिष्यति समस्ता अपि ताः कन्यका महाराजायेति, केवलमनेनाप्यभ्यसनीयाः सद्गुणाः करणीयाऽऽत्मयोग्यता येनानुकूलतरो भवत्येनं प्रति स कर्मपरिणामः तद्दानाभि

मुग्धा जायन्ते स्वयमेव तासां पितरः ताश्च स्वत एवानुरज्यन्तेऽस्य ततो भवति निष्कृत्रिमः प्रेमाबन्धः न खलु राजाक्रान्त्या प्रेमाबन्धो घटितः सुघटितो भवति, न च घटयितुं शक्यत इति ।

[कन्याद्शकपरिणयनोपाय]

कन्दमुनिराह–भदन्त ! किमत्र वक्तव्यमधुनैवायं भगवद्वचनकरणेन यथार्थो भविष्यति गुणधारणः, तत्करोत्येवैष यदाज्ञापयन्ति भगवन्तः, केवलमादिशन्तु विशेषेण नाथाः के पुनरनेन तासां कन्यकानां लाभाय सद्गुणाः सततमनुशीलनीयाः ? भगवतोक्तं–आर्य ! (१) क्षान्तिमभिवाञ्छता तावदनेन भावनीया समस्तजन्तुषु मैत्री सहनीयः परविहितः परिभवः–अनुमोदनीयस्तद्द्वारेण परप्रीतियोगः-चिन्तनीयस्तत्सम्पादनेनास्मानुग्रहः–निन्दनीयः परिभावकदुर्गतिहेतुतयाऽऽत्मा-श्लाघनीयाः परकोपकारणभावरहिता धन्यतया भगवन्तो मुक्तात्मानः–ग्रहीतव्याः कर्मनिर्जरणहेतुतया न्यक्कारकर्तारो हितबुद्ध्या–प्रतिपत्तव्याः संसारासारत्वदर्शितया त एव गुरुभावेन, सर्वथा विधेयं निष्प्रकम्पमन्तःकरणमिति ॥

(२) दयां पुनः परिणिनीषताऽनेन सर्वथा वर्जनीयः स्तोकोऽपि परोपतापः-दर्शनीयः सर्वदेहिनां बन्धुभावः-प्रवर्तितव्यं परोपकारकरणे-नोदासितव्यं परव्यसनेषु-सर्वथा भवितव्यं समस्तजगदाह्लादकरामृताशयधारिणेति ॥

(३) मृदुतां पुनरार्य ! विवाहयिषता महाराजेन मोक्तव्यो जातिमदः परित्याज्यः कुलाभिमानः वर्जनीयो बलोद्रेकः रहयितव्यौरूपोत्सेकः परिहर्तव्यस्तपोऽवष्टम्भः निराकरणीयो धनगर्वः निर्वासनीयः श्रुताहङ्कारः अपक्षेप्तव्यो लाभमदः शिथिलयितव्यो वाल्लभ्यकानुशयः सेवनीया नम्रता अभ्यसनीयो विनयः सर्वथा कर्तव्यं नवनीतपिण्डोपमं हृदयमिति ॥

(४) तथा परिहरतः परेषां मर्मोद्घट्टनं वर्जयतः पैशुन्यं विमुञ्चतोऽवर्णवादं शिथिलयतो वाक्पारुष्यं गर्हयतो वक्रोक्तिं अनाचरतः परिहासं अवदतोऽलीकवचनं त्यजतो वाचाटतां विदधतो भूतार्थोद्भावनं प्रगुणीभविष्यति गुणानुरक्ता महाराजस्य स्वयमेव सा सत्यतेति ।

(५) तथा निर्भर्त्सयता कौटिल्यं दर्शयता सर्वत्र सरलभावं परित्यजता परवञ्चनं विमलयता मानसं समनुशीलयता प्रकटाचारतां अनुवर्तयता सद्भावप्रधानतां सर्वथा कुर्वता प्रगुणदण्डोपममात्मान्तःकरणं महाराजेन सा ऋजुता वशीकर्तव्येति ।

(६) तथा धारयति परपीडाभीरुतां निराकुर्वति परद्रोहबुद्धिं वर्जयति परधनहरणं लक्षयति तदपायहेतुतां गृह्णति दुर्गतिभयं महाराजे संजातानुरागाऽऽगमिष्यति स्वयंवरा सा नूनमचौरतेति ।

(७) मुक्ततां पुनरभिलषताऽऽर्य ! महाराजेन सात्मीभावमानेतव्यो विवेकः द्रष्टव्यो बाह्याभ्यन्तरग्रन्थाच्छिन्नः खल्वात्मा शमनीया ग्रन्थपिपासा धारणीयं भावतो बहिरन्तश्चालग्नमन्तःकरण सर्वथा पङ्कजलाभ्यामिवार्थकामाभ्यामश्लिष्टः पद्मवज्जनयितव्यो निजभाव इति ।

(८) ब्रह्मरतिं पुनः पाणौ जिघृक्षता कन्दमुने ! महाराजेन प्रतिपत्तव्याः समस्ता अपि मातर इव सुरनरतिरश्चां नार्यः न वस्तव्यं तद्वसतौ न कार्या तत्कथा न भजनीया तन्निषद्या न विलोकनीयानि तदिन्द्रियाणि न स्थातव्यं रतिस्थमिथुनकुड्याभ्यर्णे न स्मरणीयं पूर्वललितं नाहरणीयः प्रणीताहारः रक्षणीया तदतिमात्रा न करणीया शरीरराढा सर्वथोद्दलनीया रताभिलाषितेति ।

तथा सर्वपुद्गलद्रव्याणां देहधनविषयादीनां भावयते सततमनित्यतां चिन्तयते गाढमशुचिरूपतां ध्यायते दुःखात्मकतां लक्षयते चात्मभिन्नस्वभावतां विरहयते सकलं कुवितर्कजालं विमृशते समस्तवस्तुतत्त्वमस्मै महाराजाय गुणधारणाय स सद्बोधः समानीय दास्यति तां सम्यग्दर्शनात्मजां विद्याकन्यकामिति ।

तथा चित्तसन्तापायेच्छा मनोदुःखाय भोगाभिलाषो मरणाय जन्म वियोगाय प्रियसङ्गमः कोशकारकीटस्येव तन्तुसन्तानरचना निबिडात्मबन्धनाय जीवस्य सङ्ग्रहपरता क्लेशायासाय सकल सङ्गजालं प्रवृत्तिर्दुःखं निवृत्तिः सुखमित्येवमनवरतं भावयतो महाराजस्य भविष्यति गाढमनुरक्ता सा निरीहतेति ।

[षण्मासेन प्रयोजनसिद्धि]

तदेते सद्गुणास्तासां दशानामपि कन्यकानामवाप्तये महाराजेनाभ्यसनीयाः, अन्यच्च—एवं कुर्वतोऽस्यानुकूलतयैवावसरं विज्ञाय दर्शयिष्यति समस्तं चारित्रधर्मराजादिकं निजबलं स कर्मपरिणामः । ततः प्रत्येकमनुरूपगुणाभ्यासेनैवात्मन्यनुरागमानेतव्यास्ते महाराजेन सुभटाः, ततः स्वाम्यनुरक्तास्ते निराकरिष्यन्ति तन्महामोहादिसैन्यं, ततोऽयमवाप्तभावराज्यः स्वबलकलितो विनिर्जितभावशत्रुस्ताभिः प्रियकामिनीभिः सार्धं ललमानोऽत्यन्तसुखितो भविष्यति महाराजः, तदिदमेवानेन तावदनुष्ठेयमिति । कन्दमुनिराह—भदन्त ! कियता पुनः कालेन महाराजस्येदं सेत्स्यति प्रयोजनं ? भगवतोक्तं—आर्य ! षण्मासमात्रेण । ततो मयोक्तं—नाथ ! त्वरयति मामतीव प्रव्रज्याग्रहणायान्तःकरणं भूयांश्चैष कालविलम्बः तत्कथमिदं ? भगवानाह—राजन्नलमत्र त्वरया, इयमेव हि परमार्थतः प्रव्रज्या यदस्य मदुपदिष्टस्यानुष्ठानं, द्रव्यलिङ्गं हि भवता गृहीतं पूर्वमप्यनन्तवाराः न चैतद्व्यतिकरव्यतिरेकेण भवतस्तेन द्रव्यलिङ्गेन कश्चिद्विशिष्टतरः सम्पादितो गुणः, तदलं तावत्ते तदर्थमुत्त्वरितेनेदमेव मदुपदिष्टं कुर्वाणस्तिष्ठेति । कन्दमुनिनोक्तं—भदन्त ! केन पुनः क्रमेण महाराजेन ता कन्यकाः परिणेतव्याः ? भगवतोक्तं—आर्य ! मदुपदेशमनुतिष्ठतोऽस्य समीपमागमिष्यत्यसौ विद्यामादाय सद्बोधो मन्त्री, विवाहयिष्यत्यनेन तां कन्यकां स्थास्यत्यस्य समीपस्थः, ततः किमनेन बहुना ? यदसौ किमपि ब्रूते तदेवानेनानुष्ठेयं, जानात्येवासौ प्राप्तकालं सर्वं कारयितुं, तस्यागमने हि समाप्यतेऽस्मादृशामुपदेशावकाशः, तस्मात्स एव सद्बोधः सर्वत्र महाराजेन प्रमाणीकर्तव्य इति । मयोक्तं—नाथ ! महाप्रसाद इच्छामोऽनुशास्तिं, ततोऽभिनन्द्य सपरिवारः सपरिकरं भगवन्तं प्रविष्टोऽहं नगरे प्रारब्धोऽनुष्ठातुं भगवदुपदेशं, गच्छन्ति दिनानि भगवत्पर्युपासनया ॥

[सद्बोधागमो विद्याविवाहश्च]

अन्यदा भावयतो भगवदुपदिष्टास्ता भावनाः रात्रौ समागता मे निद्रा प्रबुद्धस्तयैव वासनया ततः प्रवृद्धा गाढतरं भावनाः, ततो रात्रिशेषे संजातो मे प्रमोदातिरेकः, ततः किमेतदिति विस्मितोऽहं यावत्समागतो मत्समीपं सद्बोधो मन्त्री विलोकितोऽसौ मया, तदभ्यर्णे च—

आनन्ददायिका दृष्टेः, सर्वावयवसुन्दरा । आस्तिक्यचारुवदना, धवलामललोचना ॥३१३॥
तत्त्वावगमसंवेगनामकं स्तनमण्डलम् । धारयन्ती नितम्बं च, प्रशमाख्यं मनोहरम् ॥३१४॥ सर्वथा—
स्पृहणीयगुणोपेता, चित्तनिर्वाणकारिका । सा चिरं स्तिमिताक्षेण, मया विद्याऽवलोकिता ॥३१५॥ ततश्च—
सा सद्बोधेन मे दत्ता, परिणीता मयाऽनघा । जातः सदागमादीनामानन्दो लङ्घिता निशा ॥३१६॥
प्रभाते तु समुत्थाय, परिवारविवेष्टितः । गतोऽहं भगवन्मूलं, वन्दिताः सर्वसाधवः ॥३१७॥

ततो विनयनम्रेण, विहिताञ्जलिना मया । समस्तं रात्रिवृत्तान्तं, पृष्टा निर्मलसूरयः ॥३१८॥ यदुत-
सा किं मे तादृशी नाथ ! प्रवृत्ता वरभावना । किं वा तादृक्समुद्भूतो, हर्षोल्लासोऽतिसुन्दरः ॥३१९॥
सूरिराह महाराज ! समाकर्णय कथ्यते । स कर्मपरिणामाख्यस्तुष्टस्ते साधुकर्मणा ॥३२०॥
ततस्तेन स्वयं गत्वा, सद्बोधोऽयं सविद्यकः । प्रोत्साहितो यथा गच्छ, भजस्व गुणधारणम् ॥३२१॥
अथ चारित्रधर्मेण, सार्धमालोच्य पण्डितः । ततः प्रचलितोऽयं ते, समीपागमनेच्छया ॥३२२॥

[शत्रूणां पर्यालोच]

विज्ञायामुं च वृत्तान्तं, महामोहादिशत्रवः । पापोदयं पुरस्कृत्य, पर्यालोचमुपागताः ॥३२३॥
विषयाभिलाषेणोक्तं-
विनष्टाः साम्प्रतं यूयं, सद्बोधो हतको यदि । तस्य संसारिजीवस्य, पार्श्वे यायात् सुचष्टकः ॥३२४॥
तत्साम्प्रतं यथाशक्त्या, कुरुध्वं यत्नमुत्तमम् । मार्गे तिष्ठत सर्वेऽपि, तस्य स्खलनतत्पराः ॥३२५॥
ततः पापोदयेनोक्तमार्य ! किं क्रियतेऽधुना ? । यदा देवोऽपि नः स्वामी, तेषां पक्षे व्यवस्थितः ॥३२६॥
तथाहि-स कर्मपरिणामाख्यो, देवोऽस्मत्पक्षपूरकः । यदाऽऽसीद्धोः पुराऽभूम, बलवन्तस्तदा वयम् ॥३२७॥
उदासीनोऽपि यद्येष, स्याद्देवोऽत्र बलद्वये । तथापि युज्यतेऽस्माकं, योद्धुं तैः सार्धमञ्जसा ॥३२८॥
इदानीं देवनिर्दिष्टो, यः पुनर्याति सत्वरम् । सोऽयं सद्बोधसचिवो, नैव स्खलनमर्हति ॥३२९॥
न चाधुना ममादेशो, देवकीयोऽत्र विद्यते । योद्धव्ये सर्वथा यस्मात्तेन दूरीकृता वयम् ॥३३०॥
तदेवं सस्थिता एव, प्रस्तावं लब्धुमर्हथ । यातु यावदय तस्य, पार्श्वे सद्बोधनामकः ॥३३१॥

[सद्बोधेन सह सग्राम]

एतच्चाकर्ण्य वचनं, रोषेण स्फुरिताधरः । रणाय चलितः शीघ्रं, ज्ञानसंवरणो नृपः ॥३३२॥ उक्तं च तेन--

यद्ययं प्रतिपक्षो मे, तत्पार्श्वे याति लीलया ।
मया किं जीवितेनेह, जननीक्लेशकारिणा ? ॥३३३॥

यूयं हि यात मा यात, भयेन श्लथसन्धयः । मया यातव्यमेवास्य, प्रतिस्खलनकाम्यया ॥३३४॥
चलिते चाभिधायेत्थं, ज्ञानसंवरणे नृपे । लज्जया चलितास्तेऽपि, सर्वे पापोदयादयः ॥३३५॥
रुद्धश्चागत्य तैर्मार्गस्तदा सद्बोधमन्त्रिणः । साशङ्काः केवलं सर्वे, भोः किमत्र भविष्यति ? ॥३३६॥
इतश्च-चारित्रधर्मराजीयं, सैन्यं सद्बोधमन्त्रिणः । तदाऽनुव्रजनं कुर्वदागतं तावती भुवम् ॥३३७॥
ततः परस्पराह्वानचण्डनिर्घोषभीषणम् । आयोधनं दृढस्पर्धमालग्नं बलयोस्तयोः ॥३३८॥ अपि च-

विशदशङ्खसमप्रभमेकतो, मधुकरच्छविसन्निभमन्यतः ।
त्रिपथगायमुनाजलवत्तदाऽमिलदलं प्रविभाति बलद्वयम् ॥३३९॥
रथविलग्नसयोधमहारथं, गजघटापतितापरवारणम् ।
हयनिरुद्धलसद्धरिसाधनं, वरपदातिनिपातितपत्तिकम् ॥३४०॥
अथ विपाटितयोधशतोत्कटं, प्रकटविस्मयकार्यपि योगिनाम् ।
अभवदुद्भटपौरुषशालिनोस्तदितिसङ्कुलयुद्धमनीकयोः ॥३४१॥

ततस्तं तादृशं-वीक्ष्य, संशयारूढमुच्चकैः । स कर्मपरिणामाख्योऽचिन्तयत्तत्प्रयोजनम् ॥३४२॥
अये!—मया तावन्न कर्तव्यश्चित्तभेदविधायकः । प्रकटः पक्षपातोऽत्र, सर्व्वसाधारणो ह्ययम् ।।३४३॥
यतः-कृते मत्तो विरज्यन्ते, पक्षपाते स्वबांधवाः । महामोहादयोऽतो मे, युक्तं नाकाण्डविड्वरम् ॥३४४॥
तथाहि-अद्य चारित्रधर्मीयं, वल्लभं मे महाबलम् । गुणाः संसारिजीवस्य, सुंदरं प्रतिभासते ॥३४५॥
अथ दोषेषु वर्तेत, भूयोऽप्येषु यथा पुरा । ततश्चिरंतनस्थित्या, गतिर्मे निजबान्धवाः ॥३४६॥
तस्मात् प्रच्छन्नरूपेण, तस्येदं हितकारकम् । बलं चारित्रधर्मीयमहं पुष्णामि साम्प्रतम् ॥३४७॥
येनेदं जीयतेऽनेन, बलं पापोदयादिकम् । न च मत्तो विरज्यन्ते, महामोहादिबान्धवाः ॥३४८॥

[भावनया सद्बोधसैन्यविजयः]

ततः सम्यग् विनिश्चित्य, तेनोपायं महात्मना । तथा मदुपदिष्टास्ते, वर्द्धिता वरभावनाः ॥३४९॥
यावच्च भावनारूढः, स्थितस्त्वं गुणधारण! । तावत्तत्प्रबलीभूतं, सद्बोधसहितं बलम् ।३५०॥
यतः-मणिमन्त्रौषधादीनां, भावनानां विशेषतः । अचिन्त्यमिह विज्ञेयं, वीर्यमाश्चर्यकारणम् ॥३५१॥
ततो यथा यथा भूयः, प्रवृद्धास्तत्र भावनाः । तथा तथा परिक्षीणा, महामोहादयः स्वयम् ॥३५२॥
ततः प्रबलतां प्राप्य, क्षणादेव विनिर्जितम् । तेन सद्बोधसैन्येन, बलं पापोदयादिकम् ॥३५३॥
सर्वे प्रहारिताः प्रायो, महाहोहादिशत्रवः । चूर्णितः स विशेषेण, ज्ञानसंवरणो नृपः ॥३५४॥
स्थिता निस्स्पन्दमन्दास्ते, सर्वे पापोदयादयः । निर्वाहितः स्वसैन्येन, सद्बोधः सह विद्यया ॥३५५॥
गते चाभ्यर्णतां भूप! तव सद्बोधमन्त्रिणि । स तादृशस्तदा जातो, हर्षोल्लासोऽतिसुन्दरः ॥३५६॥
सद्बोधसचिवो दृष्टः, परिणीता च कन्यका । राजन्! पुनस्त्वया सर्वं, ज्ञातमेव ततः परम् ।३५७॥
तदिदं कारणं भूप! भावनानां विवृद्धये । हर्षोल्लासाय चोत्पन्नं गात्रे ते नात्र संशयः ॥३५८॥
मयोक्तं-अधुना किं प्रकुर्वन्ति, ते ममान्तरशत्रवः? । सूरिराह महाराज! कुर्वते कालयापनाम् ॥३५९॥
उदीर्णास्ते गता नाशमुपशान्तास्तथा परे । सर्वेऽपि चित्तवृत्तौ ते, लीनलीनतया स्थिताः ॥३६०॥
पुनः प्रस्तावमासाद्य, कृत्वा ते सर्वमीलकम् । संग्रामाय लगिष्यन्ति, मत्सराध्मातचेतसः ॥३६१॥

[धर्मशुक्लसमाधिद्वयावाप्तिः]

ततस्त्वया महाराज! सद्बोधवचनात्तदा । चारित्रधर्मसुभटैर्धारणीयाः पृथक् पृथक् ॥३६२॥

मयोक्तं-यदाज्ञापयति नाथः, इतश्च संपूर्णो मासकल्पः ततो गतास्तेऽन्यत्र भगवन्तो निर्मलसूरयः, विशेषतोऽनुष्ठिता मया तदुपदेशाः प्रमादितमन्तःकरण परिकर्मित शरीर विहितश्चित्तवृत्तौ मे सद्बोधेन प्रवेशः दर्शितौ सामान्यतः समाधिनामानौ द्वौ पुरुषौ धवलौ वर्णेन चारू दर्शनेन सुखदौ स्वरूपेण । ततोऽभिहितं सद्बोधेन-देव ! विशेषतो धर्मशुक्लाभिधानाविमौ पुरुषौ प्रवेशकौ भवतोऽन्तरङ्गराज्ये तदनयोर्महानादरो विधेयः, मयोक्तं-यदादिशन्त्यार्य', ततो दर्शिताः सद्बोधेन विद्युत्पद्मस्फटिकवर्णाः सुन्दराकारधारिण्यः सुखस्वरूपा 'लेश्या' इति गोत्रेण 'पीतपद्मशुक्ला' इति नाम्ना प्रसिद्धास्तिस्रो नार्यः, अभिहितं च तेन यथा देव !—

प्रथमस्य नरस्येमास्तिस्रोऽपि परिचारिकाः । शुक्लैका द्वितीयस्य, जायते परिपोषिका ॥३६३॥

तदेतासु सम्यग्वर्तितव्यं देवेन, न वर्तेते राज्यामामभावे तव परमोपकारिणाविमौ पुरुषौ, अनयोश्च बलेन भवता तद्राज्यमासादनीयं ततः सम्यक् पोषणीया देवेनेमा नार्य इति । मयोक्तं—एवं करिष्ये, ततः प्रवृत्तोऽहं तदुपदेशकरणे प्रविशामि पुनः पुनश्चित्तवृत्तौ विलसामि सह विद्यया मन्त्रयामि मुहुर्मुहुः सद्बोधेन सार्धं सन्मानयामि सदागमसम्यग्दर्शनगृहिधर्मान, एवं च कुर्वतो मे गते भगवति लङ्घितं किंचिन्न्यूनं पञ्चमासमात्रं संजातो मद्गुणैः समावर्जितहृदयः कर्मपरिणामः ततो गतस्तथैव तेषु नगरेषु गमितास्ते राजानः कृताः सर्वे मे निजनिजकन्यकादानाभिमुखाः ततः समागतो मन्मूलं प्रवेशितोऽहं तेन पुरस्कृतपुण्योदयेन कालपरिणत्यादिपरिवारोपेतेन कर्मपरिणामेन तासां कन्यकानां विवाहार्थे सपरिकरश्चित्तवृत्तौ, ततस्तस्मिन सात्त्विकमानसवर्तिविवेकगिरिशिखरनिविष्टे जैनमतपुरे समाहूतास्ते समस्ताः शुभपरिणामादयः समागताः सपरिवाराः कृतस्तेषां समुचितोपचारः गणितं विवाहदिनम् ।

[शत्रूणा भवितव्यताप्रश्न]

अत्रान्तरे संजातो महामोहादिनले सर्वसमाजः प्रवृत्तः पर्यालोचः अभिहितं विषयाभिलाषेण—देव ! यद्यनेन संसारिजीवेनेमाः क्षान्त्यादिकाः कन्यकाः परिणीताः स्युस्ततः प्रलीना एव वयमिति मन्तव्यं, अतो नास्माभिरुपेक्षाऽत्र विधेया कर्तव्यः सर्वथा यत्नोऽवलम्बनीय साहसं मोक्तव्यो विषादः—

भयं हि तावत्कर्तव्य, यावदन्तो न दृश्यते ।
प्रयोजनस्य तत्प्राप्तौ, प्रहर्तव्यं सुनिर्भयैः ॥३६४॥

ततोऽनुमतं तन्मन्त्रिणो वचनं महामोहेन समर्थितं शेषसुभटैः विहिता सामग्री संनद्धं बलं समागतास्ते संभूय रणोत्साहेन केवलं दृष्टभयतया कर्मपरिणामप्रतिकूलताभीरुतया च पर्याकुलाश्चित्तेन, तत पृष्टाऽस्माभिः सविनयं भवितव्यता—यथा भगवति ! किमस्माकमधुना प्राप्तकालमिति ? तयोक्तं—भद्रा ! न युक्तस्तावद्भवतां रणारम्भः यतः समादृतोऽयमधुनाऽऽर्यपुत्रः कर्मपरिणामेन मिलिता विशेषतः शुभपरिणामादयः संजातमार्यपुत्रस्याधुना विशेषतो निजबलदर्शनौत्सुक्यं दर्शयिष्यति तदपि कर्मपरिणामः करिष्यत्यार्यपुत्रस्तस्य पोषणं ततोऽधुना रणेन लगतां भवतां सर्वप्रलयः संपत्स्यते तस्मात्कालयापनां कुर्वन्तस्तावददृष्टसेवया तिष्ठत यूयं, यदा तु भवतां प्रस्तावो भविष्यति तदाऽहमेव निवेदयिष्ये, दत्तप्रधाना हि भवत्प्रयोजने सकलकालमहं वर्ते, का भवतां चिन्ता ? ततस्तदनुरोधेनोपसंहृतस्तैः प्रकटसङ्ग्रामावन्धः, केवलं तथापि चष्टतया प्रयुक्ता एव तैः प्रच्छन्नस्थितैरपि निजनिजा योगशक्तयः ।

[रिपुजनिता चेत कल्लोला]

ततस्तन्माहात्म्येन संजाता मम चेतसि कल्लोलाः—'यथेदमादिष्टं भगवता यदुत परिणीतासु तासु कन्यकासु भवन्तमहं प्रव्राजयिष्ये अतिदुष्करा च प्रव्रज्या तुल्या बाहुभ्यां स्वयंभूरमणतरणेन नैष्ठिकं यत्यनुष्ठानं सुखलालितं मे शरीरं संभविनो रोगातङ्काः तन्न क्षमिष्यते प्रायो दीर्घकालं मे रुक्षवृत्तिता कातरहृदया च वराकी मदनमञ्जरी बाधिष्यते द्राघीयसा यावज्जीविकमदीयवियोगेन' इत्यादि चिन्तयतश्च मे संजातो मनाक् मनोभङ्गः, ततश्चिन्तितं मया—तत् किं न परिणयामि तावदेताः तिष्ठामि यथासुखासिकया गमयामि यौवनं स्वाधीनाश्च ममैताः ततः पश्चात्काले परिणीय प्रव्रजिष्यामीति । अयं च सर्वोऽपि दूरवर्तिनि सद्बोधे मम स्वगतः पर्यालोचः । अत्रान्तरे समागतः सद्बोधः निवेदितो मयाऽस्मै निजाभि-

[सद्बोधोपदेशः]

प्रायः, सद्बोधः प्राह-देव ! न सुन्दरमिदं मन्त्रितं देवेन क्षतिकरमिदमात्महितस्य विबन्धकं सुखसन्दोहानां चिह्नमेतदज्ञतायाः न च स्वाभाविकमेतन्मन्त्रणं देवस्य, किं तर्हि ? विलसितमिदं तेषां पापात्मनां महामोहादीनां, ते हि निधिग्रहणकाल इव वेतालाः पर्युपस्थिताः साम्प्रतं कृतान्तधर्माना विघ्नकरणाय देवस्य तन्न वञ्चनीयस्तैरात्मा देवेन, ततो लग्नं सद्बोधभाषितं मच्चित्ते । अभिहितं च मया-आर्य ! कथं पुनरमी निराकर्तव्याः, सद्बोधेनोक्तं-देव ! निजबलेन, मयोक्तं-दर्शय मे निजबलं, सद्बोधेनोक्तं-एष सज्जोऽस्मि केवलं तद्दर्शने कर्मपरिणामस्याधिकारः, कर्मपरिणामेनोक्तं-आर्य ! मयाऽऽदिष्टेन त्वयाऽमी दर्शिताः परमार्थतो मयैव ते दर्शिता भवन्ति तन्मा करोतु विकल्पं दर्शयत्वार्यः, सद्बोधेनोक्तं-यदादिशति महाराजः, ततः प्रवेशितोऽहं सद्बोधेन **चित्तसमाधान**मण्डपे दर्शिताश्चारित्रधर्मराजादयः विहिता तैर्मे प्रतिपत्तिः सन्मानिताः प्रत्येकं मया गताः पदातिभावं नियुक्ता रिपुनिराकरणे सह चतुरङ्गसेनया ।

[विवाहारम्भे मात्रष्टकपूजा]

ततस्तेषां समुल्लासमालोक्य रणशालिनाम् । प्रत्येकं प्रभुणा राज्ञा, कृतं सन्मानतोषणम् ॥३६५॥
दूरादेव भयोद्भ्रान्ता, महामोहादयस्तदा । पापोदयं पुरस्कृत्य, नष्टास्ते मृत्युभीरवः ॥३६६॥
तैस्तु भग्नास्तदावासाः, शोधिता सा महाटवी । रिपुनाशेन लब्धा च, लोके जयपताकिका ॥३६७॥
केवलं ते दुरात्मानः, किंचित्क्षयमुपागताः । किंचित्प्रशान्ततां धृत्वा, संस्थिता, बकचर्यया ॥३६८॥
ततो महाविमर्देन, विवाहोऽतिमनोरमः । प्रारब्धो मे तदा कर्तुं, मुदितान्तरबान्धवैः ॥३६९॥
स्थापिताः प्रथमं तावत्तत्राष्टौ चारु मातरः । तासां च विहिता पूजा, प्रयत्नेन यथोचिता ॥३७०॥
निवेदितं च मे वीर्यं, सद्बोधेन पृथक् पृथक् । मातृणां यत्तदा तासां, तत्ते भद्रे ! निवेदये ॥३७१॥
आद्या हि कुरुते माता, युगमात्रप्रलोकिनम् । मुनिलोकं पुरे जैने, मार्गे व्याक्षेपवर्जितम् ॥३७२॥
सद्बुद्धिपूतवाक्येन, तथ्यं पथ्य मिताक्षरम् । द्वितीया भाषयत्येवं, माता यतिजन सदा ॥३७३॥
तृतीयमाता निःशेषदोषनिर्मुक्तमञ्जसा । आहारमेषयत्येव, यतिलोकेन कारणे ॥३७४॥
चतुर्थमाता मुनिभिः, सुदृष्टं सुप्रमार्जितम् । पात्राद्यादाननिक्षेपं, कारयन्ती विजृम्भते ॥३७५॥
यत्किंचित्स्यात्परित्याज्य, देहाहारमलादिकम् । स्थण्डिले पञ्चमी माता, तन्नीत्या त्याजयत्यलम् ॥३७६॥
षष्ठी माता पुनर्नित्यं, साधुचित्तमनाकुला । रक्षन्ती क्षपयत्येव, दोषसङ्घातमञ्जसा ॥३७७॥
सप्तमी कारणाभावे, माता मौनविधायिका । साधूना कारणे वाक्यदोषरक्षणतत्परा ॥३७८॥
अष्टमी कूर्मवल्लीनं, मुनिलोकमकारणे । धारयेत्कारणे कायदोषविक्षत्रधारिका ॥३७९॥
तदिमा मातरस्तत्र, स्थापिताः प्रथमे दिने । पूजिताश्च विधानेन, जैनसत्पुरसारिकाः ॥३८०॥

[कन्यकादशकपरिणयन]

ततश्चित्तसमाधाने, तत्रैव वरमण्डपे । सैव **निःस्पृहता** वेदिर्विशेषेण समारिता ॥३८१॥
विनिर्मितं च धर्मेण, प्रदीप्तं निजतेजसा । तत्राग्निकुण्डं विस्तीर्णं, कृतं सर्वं यथोचितम् ॥३८२॥
तैजसीपद्मशुक्लाभिर्जननीभिश्च सादरम् । स्नानाङ्गरागभूषादि, वधूकर्म विनिर्मितम् ॥३८३॥
ताभिरेव तथाऽशेषैः, सर्वैः सामन्तपार्थिवैः । स्नापितोऽहं विलिप्तश्च, भूषितो वासितोंऽशुकैः ॥३८४॥

ततः प्रवृत्तो विवाहानन्दः स्थितः सद्बोध एव पुरोहितः हूयन्ते कर्मनामिकाः समिधः क्षिप्यन्ते सद्भावनाहुतयः विकीर्यन्ते कुवासनाभिधाना लाजाञ्जलयः, ततः कारितोऽहं सदागमेनैव सांवत्सरतां भजताऽतिसुन्दरे वृषलग्नांशे पाणिग्रहणं क्षान्तिदारिकायाः, अत्रान्तरेऽतिहर्षेण विजृम्भिताः शुभपरिणामादयः विलसिता निष्प्रकम्पतादयः प्रवृत्तो महाप्रमोदः भ्रान्तानि मण्डलानि, एवं च क्रमेण तस्मिन्नेव वृषलग्ने परिणीताः शेषा अपि मयाऽष्टौ दयादिकन्यकाः, उपविष्टः सहितस्ताभिस्तस्मिन्नेव जीववीर्यनामके विस्तीर्णे वरासने, ततः समानन्दिताश्चारित्रधर्मराजादयः प्रवृत्ता विविधास्तद्विलासाः, इतश्च–

यदैव विद्या सा कन्या, परिणीता मया पुरा । तदैवासौ महामोहः, प्रलीनः परमार्थतः ॥३८५॥
किं तु–सर्वेषां समुदायात्मा, सारभूतः स वर्तते । दग्धरज्जुसमाकारस्तेन पार्श्वे स मे स्थितः ॥३८६॥
यदा तु परिणीतास्ताः, क्षान्त्यादिवरकन्यकाः । सर्वा वैश्वानरादीनां, प्रतिपक्षतया स्मृताः ॥३८७॥
तदा [1]सोऽनीकसहितः, पापोदयसमन्वितः । चारित्रधर्मराजादिनाशितोऽपि तथा पुरा ॥३८८॥
लीनोऽपि लीनतरतां, हिंसावैश्वानरादिभिः । सार्धं तैर्नवभिस्त्रासाद्दूराद्दूरतरं गतः ॥३८९॥ त्रिभिर्विशेषकम् ।
तथास्थितेषु तेषूच्चैः, शान्तावाधः प्रमोदितः । आश्लिष्टो वरनारीभिः, स्वसैन्यपरिवारितः ॥३९०॥
अन्तरङ्गविलासेन, लसन्नुद्दामलीलया । स्वसंवेदनतो वेद, तदा सत्यं मुनेर्वचः ॥३९१॥
तथा शुभपरिणामस्य, मयाऽन्या अपि कन्यकाः । तन्निष्प्रकम्पताजातास्तदा बह्व्यो विवाहिताः ॥३९२॥
एताश्च ता धृतिश्रद्धामेधाविविदिषासुखाः । मैत्रीप्रमुदितोपेक्षाविज्ञप्तिकरुणादिकाः ॥३९३॥
ततस्तेन सुभार्याणां, वृन्देन सह लीलया । अत्यर्थं निर्भरीभूता, लसतो मे सुखासिका ॥३९४॥ चिन्तितं च मया–स एष सुखसन्दोहो, यः पूर्वं सूचितो मम । भगवद्भिर्मया हन्त, साक्षादेवानुभूयते ॥३९५॥

[निर्मलसूरीशा समीपे द्रव्यलिंगग्रहण]

यावच्चैवं प्रमोदाढ्यः, सप्रमोदे तदा पुरे । स्थितोऽहं तत्र संप्राप्तास्तावन्निर्मलसूरयः ॥३९६॥
स्थिताः सपरिवारास्ते, तत्रैवाह्लादमन्दिरे । गत्वा समस्तसामग्र्या, वन्दिताः सादरं मया ॥३९७॥
ततो विधाय नम्रेण, ललाटे करकुड्मलम् । भद्रे ! भगवतामग्रे, मयेदं भाषितं तदा ॥३९८॥
सर्वो भगवदादेशः, संपन्नः साम्प्रत यदि । नाथ ! तद्दीयतां दीक्षा, प्रसादः क्रियतामिति ॥३९९॥
सूरिराह महाराज ! संपन्ना तव भावतः । स्वतो भागवती दीक्षा, तस्याः किं दीयतेऽधुना ? ॥४००॥
तथाहि–यदेतत्तव संपन्नं, गृहेऽपि वसतोऽधुना । इदमेव विधातव्यं, यतित्वेऽपि विशेषतः ॥४०१॥
तथापि व्यवहारोऽत्र, लंघनीयो न पण्डितैः । अतस्ते साम्प्रतं भूप ! द्रव्यलिङ्ग विधीयते ॥४०२॥
किं च–भावलिङ्गबहिश्चिह्नमिदं हेतुरपीष्यते । तद्दीयते महाराज ! लिङ्गं ते द्रव्यतोऽधुना ॥४०३॥

मयोक्तं–नाथ ! महाप्रसादः, ततो विधायाष्ट दिनानि जिनमुनिपूजां समुत्पाद्य नागरकानन्दं संभाल्य बन्धुवर्गं पूरयित्वाऽर्थिसङ्घातं स्थापयित्वा निजसुतं **जनतारणाभिधानं** राज्ये समाप्य तत्कालोचितं निःशेषं कृत्यविधिं सह मदनमञ्जर्या युक्तः कुलंधरेण प्रधानपरिजनेन च निष्क्रान्तो निर्मलसूरिपादमूले विधानेनाहमिति, ततोऽभ्यस्तः समस्तः साधुक्रियाकलापः वल्लभीभूतो गाढतरं सदागमः शिक्षितानि तदुपदिष्टान्येकादशाङ्गानि कालिकोत्कालिकश्रुतानि च तथाऽभीष्टतरीभूतः सम्यग्दर्शनः संजात-

(१) महामोह. ।

श्चारित्रधर्मे चित्तावन्धः विज्ञातं विशेषतस्तत्सैन्यं पालितौ नितरां संयमतपोयोगौ भग्नानि सुतरां प्रमत्ततानघादीनि रिपुक्रीडास्थानानि निर्मलीकृता चित्तवृत्तिः, तदेवं गुरुचरणशुश्रूषारतो विहृतोऽहं भूरिकालं मुनिचर्ययेति । तदन्ते विहिता संलेखना कृतमनशनविधानं तद्दर्शनात्तुष्टा मे भवितव्यता दत्ताऽपरा गुडिका तत्तेजसा नीतोऽहं विबुधालये कल्पातीतेषु विबुधेषु स्थापितः प्रथमग्रैवेयके, तत्र च—

[देवनरभवश्रेणि.]

मनोहारिणि पर्यङ्के, दिव्ये दिव्यांशुकावृते । शुभ्रातिनिर्मलाकारः, स्थितोऽहममृतोपमे ॥४०४॥
तत्सागरोपमाण्युच्चैस्त्रयोविंशतिमुत्तमम् । शान्तात्मा विगताबाधमनुभूय सुखामृतम् ॥४०५॥
ततो मनुजगत्यन्तःपातुकं वरपाटकम् । तदैरवतमायातो, भद्रे ! भार्यानियोगतः ॥४०६॥
तत्र सिंहपुरे जातः, सुतो वीणामहेन्द्रयोः । अहं गङ्गाधरो नाम, क्षत्रियः ख्यातपौरुषः ॥४०७॥
जातिस्मरणसंपन्नो, दीक्षामादाय सुन्दराम् । कृत्वा च पूर्ववत्कृत्यं, सुघोषाचार्यसन्निधौ ॥४०८॥
तदन्ते च विधानेन, पूर्वव्यावर्णितक्रमात् । ग्रैवेयके द्वितीयेऽहं, गतो भार्यानियोगतः ॥४०९॥
परिपाट्याऽनया भद्रे ! कृताः पञ्च गमागमाः । भावदीक्षां समादाय, ग्रैवेयकनिवासिषु ॥४१०॥
एकैकवृद्ध्या संजाता, स्थितिस्तत्र ममानघे ! । सागरोपमतो यावत्पञ्चमे सप्तविंशतिः ॥४११॥
शरीरचित्तनिर्वाणी, शर्मसन्दोहदायिका । इह तत्र च जाता मे, चार्वी कल्याणमालिका ॥४१२॥

[सिंहभवे दीक्षा सूरिपदप्रतिष्ठा]

ततश्च पष्ठवारायां, भरते शङ्खनामके । पुरे मनुजगत्यन्तर्धातकीखण्डमण्डले ॥४१३॥
पुत्रो भद्रामहागिर्योर्जातोऽहं सिंहनामकः । नरेन्द्रवंशे सद्भोगः, सुन्दराकारधारकः ॥४१४॥
अथ यौवनसंस्थेन, धर्मबन्धुमहामुनिम् । प्राप्य भागवती दीक्षा, मयाऽऽप्ता वरलोचने ! ॥४१५॥
ततः क्रियाकलापेन, साधूनां चारुगामिनि ! । विहृतोऽहं समद्भावः, सूत्रार्थग्रहणोद्यतः ॥४१६॥
अथ स्वल्पेन कालेन, द्वादशाङ्गः सदागमः । सपूर्वः सातिशेषो मे, सर्वथा बन्धुतां गतः ॥४१७॥
पुराऽप्यस्य मया ज्ञातं, विज्ञानं बहुशो बहु । किं तु संपूर्णपूर्वाणि, न प्राप्तानि कदाचन ॥४१८॥
तदा तु स्तोककालेन, विज्ञानं लीलया मया । निःशेषमस्य विज्ञातं, सर्वं पूर्वैः समन्वितम् ॥४१९॥
ततोऽधिगतसूत्रार्थो, गुरुणा धर्मबन्धुना । स्थापितोऽह निजस्थाने, सू (भू)रिसङ्घस्य पश्यतः ॥४२०॥
कृतश्च बृहदानन्दो, देवदानवमानवैः । आचार्यस्थापनायां मे, सचमत्कारकारकः ॥४२१॥
गुरुणा शेषलोकैश्च, श्लाघितोऽहं मुहुर्मुहुः । धन्यस्त्वं कृतकृत्योऽसि, येन ज्ञातः सदागमः ॥४२२॥
तथा-वस्त्रालङ्कारमाल्यैश्च, पूजिता लोकबान्धवाः । विहिता सङ्घपूजा च, विधिना वसनाशनैः ॥४२३॥
किं च-ते देवास्ते महाभागा, मुनयस्ते च सज्जनाः । समाकृष्टा गुणैः सर्वैर्नम्राः किङ्करतां गताः ॥४२४॥
तथाऽन्तेवासिनोऽनेके, पण्डिता विनयोद्यताः । स्वीया गच्छान्तरेभ्यश्च, मम पार्श्वमुपागताः ॥४२५॥

[जनसमुदाये यशोवृद्धि]

ततो विचरतश्चित्रग्रामाकरपुरादिषु । कुर्वतश्च प्रबन्धेन, व्याख्यानमतिसुन्दरम् ॥४२६॥
अनेकवादसङ्घट्टाटव्यां वाक्खड्गयष्टिना । कुतीर्थिमत्तमातङ्गकुम्भनिर्भेदकारिणः ॥४२७॥
स्वशास्त्रपरशास्त्राणां, स्फुटगर्भार्थदर्शिनः । पूजितस्य महाराजसामन्तपरमेश्वरैः ॥४२८॥

उद्दामवर्णसत्कीर्तिशब्दश्लाघापुरःसरः । उल्लासितो यशोरूपो, जनैर्मे पटहोऽनघः ॥४२९॥चतुर्भिः कलापकम् ।
तथा-धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि, भूपिता नाथ ! मेदिनी । त्वयाऽवतरता मर्त्ये, परमब्रह्मरूपिणा ॥४३०॥
निर्मिथ्यं सत्यसिंहस्त्वमित्येवं नतमस्तकाः । तीर्थिका अपि मां सर्वे, स्तुवन्तः पर्युपासते ॥४३१॥ युग्मम् ।
एवमाचार्यके जाते, सर्वलोकमनोहरे । भद्रेऽगृहीतसङ्केते ! यज्जातं तन्निबोध मे ॥४३२॥
तां तादृशीं समुद्वीक्ष्य, समृद्धिं भुवनाद्भुताम् । ईर्ष्ययेव महापापा, रुष्टा मे भवितव्यता ॥४३३॥
चिन्तितं च तया हन्त, प्रतिपन्नः पुरा मया । योऽसावचमरस्तेषां, महामोहादिभूभुजाम् ॥४३४॥
स एष वर्तते लग्नः, साम्प्रतं कार्यसाधकः । आशाभृतो वराकास्ते, पुरा मद्वाक्यतः स्थिताः ॥४३५॥
तत्तेषां लक्षयाम्येनं, प्रस्तावमधुनातनम् । येन ते लब्धमाहात्म्या, जायन्ते सुखभाजनम् ॥४३६॥त्रिभिर्विशेषकम् ।

[महामोहादीना पुनः प्रस्थान]

एवं निश्चित्य ते सर्वे, भद्रे ! पापोदयादयः । ज्ञापिताः कार्यगर्भार्थं भवितव्यतया तया ॥४३७॥ किं च-
ते कर्मपरिणामाद्यास्ते च मे बन्धवोऽनघाः । विमूढा नष्टचेष्टाकाः, स्वशक्त्या विहितास्तया ॥४३८॥ ततश्च-
पापोदयं पुरस्कृत्य, महामोहादयस्तदा । पुनः संस्थापनां कृत्वा, प्रवृत्ता मम सम्मुखम् ॥४३९॥
केवलं जातशङ्कैस्तैर्दृष्टात्यन्तभयैः पुरा । कः स्यान्नो विजयोपाय, इति प्रारम्भि मन्त्रणम् ॥४४०॥

विषयाभिलाषेणोक्तं—इदमत्र प्राप्तकालं—अभ्यर्णीभवतु तावत्तस्य समिथ्यादर्शनो ज्ञानसंवरणः निकटीभवन्तु शैलराजमहितानि गौरवाभिधानानि त्रीणि मानुषाणि तदनु प्रहेतव्यावार्त्ताशयरौद्राभिसन्धिनामानौ द्वौ पुरुषौ तयोश्च परिचारिका यास्यन्ति स्वत एव कृष्णनीलकपोताभिधाना लेश्या इति गोत्रेण प्रसिद्धास्तिस्रो नार्यः वयं तु तावत्प्रमत्ततानदीं पुनः संस्थाप्य प्रवाहयामो मण्डपादीनि च भूयः समारचयामः, एवं च कुर्वतां भविष्यत्यक्लेशेनैवास्माकं प्रभाव इति । ततः प्रतिभातं तन्मन्त्रिणो वचनं सर्वेषामपि महामोहादिभूभुजां, ततस्तैस्तत्समर्पितं वाक्येन प्रारब्ध क्रियया-

[पूजादिनाऽभिमान]

ततो मे निकटस्थेषु, तेषु जातेषु सुन्दरि ! । पूर्वोदितेषु सर्वेषु, यज्जातं तन्निशामय ॥४४१॥
तामालोकयतो गुर्वीं, यशस्सन्मानपूजनाम् । आत्मनश्चित्तकल्लोलाः, समुत्पन्ना ममेदृशाः ॥४४२॥ यदुत-
अहो ममातुलं तेजस्तथाऽहो मम गौरवम् । अहो जगति पाण्डित्यमन्यासाधारणं मम ॥४४३॥
अहो युगप्रधानोऽहं, यथाऽतिक्रान्तभाविनोः । कालयोरपि मादृक्षो, न भूतो न भविष्यति ॥४४४॥
सर्वा विद्याः कलाः सर्वाः, सर्वे चातिशयाः परम् । अहो विमुच्य भुवनं, मय्येव ननु संस्थिताः ॥४४५॥
नरेन्द्रः पूर्वपर्याये, सुरूपो भोगलालितः । अधुना त्वीदृशः सूरिरहो नाहं लघुः पुमान् ॥४४६॥
महत्कुलं महत्तेजो, महती श्रीर्महत्तपः । महती च च मम प्रज्ञा, सर्वं हि महतां महत् ॥४४७॥
एवंविधविकल्पैश्च, साहङ्कारस्य मे तदा । समं तेनानुबन्धेन, शैलराजो विजृम्भितः ॥४४८॥
तथा-यत्रासौ तत्र नियमान्मिथ्यादर्शनवश्यता । ज्ञानसंवरणस्यापि, विलासो विद्यते ध्रुवः ॥४४९॥
ताभ्यां वशीकृतश्चाहं, मलिनीभूतचेतनः । जानन्नपि न जानामि, शास्त्रगर्भार्थमञ्जसा ॥४५०॥
पठामि पाठयाम्यन्यं, व्याचक्षे शास्त्रसंहतिम् । भावार्थं न च बुध्येऽहं, तद्वशीभूतमानसः ॥४५१॥
केवलं मे परिभ्रष्टं, सार्धं पूर्वचतुष्टयम् । पाश्चात्यं हन्त तत्काले, शेषज्ञानं न विस्मृतम् ॥४५२॥

अत्रान्तरे प्रयत्नेन, चित्तवृत्तौ ममानघे ! । प्रवाहिता नदी तूर्णं, रिपुभिः सा प्रमत्तता ॥४५३॥
ततो विजृम्भितान्युच्चैर्निजवीर्येण सुन्दरि ! । तानि गौरवसंज्ञानि, मानुषाणि विशेषतः ॥४५४॥ कथं ?—
ईदृशः शिष्यवर्गो मे, वस्त्रपात्रादयस्तथा । अहं पूज्यो जने मां हि, वन्दन्ते देवदानवाः ॥४५५॥
ममाणिमादयः सर्वा, विद्यन्ते भावभूतयः । इत्युत्सेकवरो भूत्वा, प्रार्थयामि च भाविनीः ॥४५६॥ युग्मम् ।
तथा-आस्वादितेषु लब्धेषु, रसेषु परमा रतिः । आविर्भूताऽतिलौल्यान्मे, प्रार्थनाऽनागतेषु च ॥४५७॥
शय्यासनादिसंपाद्ये, वस्त्राहारादिगोचरे । सुखे शारीरिके तोषः, प्राप्ते लौल्यं च भाविनि ॥४५८॥
जातं मे त्रितयस्यापि, तदानीं वशवर्तिनः । विहायोग्रविहारं च, जातोऽहं शिथिलस्तदा ॥४५९॥
गौरवत्रितयेनापि, ततो मे हृतचेतसः । आर्ताशयोऽपि संपन्नो, दुष्टसङ्कल्पकारकः ॥४६०॥
स च रौद्राभिसन्धिर्मे, न जातो बाधकस्तदा । आर्ताशयसमीपस्थः, केवलं सोऽप्यवस्थितः ॥४६१॥
ततस्ता अपि संपन्नास्तिस्रस्तत्परिचारिकाः । तस्यैव वर्धनोद्युक्ता, मम दौःशील्यकारिकाः ॥४६२॥
इतश्च चित्तविक्षेपो, मण्डपो वेदिका च सा । चित्तवृत्तौ कृता सज्जा, विष्टरं च समारितम् ॥४६३॥
चारित्रधर्मराजाद्याश्चित्तवृत्तौ तिरोहिताः । जातः श्रमणवेषोऽपि, मिथ्यादृष्टिरहं तदा ॥४६४॥
ततो लब्धावकाशैस्तैरेवं सर्वैररातिभिः । आयुर्नामा च संदिष्टः, स राजा मम भार्यया ॥४६५॥
यदुत-निरूपयाऽऽर्यपुत्रस्य, भद्र ! स्थानं मनोहरम् । साम्प्रतं चारुवासार्थं, योग्यमीदृशकर्मणाम् ॥४६६॥

[सुखासिकाशीलेन दुर्गतिपातः]

तेनोक्तं—भगवति ! निरूपितमेवास्य निवासस्थानं, यतो मिलितः साम्प्रतं महामोहबलेऽमुष्य चरितेन विरञ्जितहृदयः कर्मपरिणामः पुरस्कृतस्तेन पापोदयः प्रस्थापितोऽहमेकाक्षनिवासनगरे आकारितौ च ततस्तीव्रमोहोदयात्यन्ताबोधौ महत्तमबलाधिकृतौ दृष्टश्च केनचित्कारणेन वेदनीयस्योपरि कर्मपरिणामः ततः सर्वस्वमपहृत्य कृतोऽसावकिंचित्करः, ततस्ताभ्यां तीव्रमोहोदयात्यन्ताबोधाभ्यां सहानेन सपरिवारेण मया भगवत्या च तस्मिन्नेवैकाक्षनिवासनगरेऽधुना निवस्तव्यं, किमत्र निरूपणीयं ? जानाति चेदं सर्वं स्वयमेव भगवती, केवलं मयि दयां कुर्वती मामेवमुल्लापयति, भवितव्यतयोक्तं--भद्रायुष्क ! सत्यमेवमिदं, तथाहि -
नियोगो यत्र ते जातस्तत्रावश्यंतया मया । स्थाने सहार्यपुत्रेण, वस्तव्यं शेषकैरपि ॥४६७॥
केवलं-त्रिभागमात्रमद्यापि, स्थातव्यस्येह तिष्ठति । ततोऽतिलङ्घिते तत्र, यास्यामो भद्र ! लीलया ॥४६८॥
तेनोक्तं भगवत्येव, जानीते केऽत्र मादृशाः ? । किं च-सपूर्णा कार्यता सिंहः, सामग्रीं गमनोचिताम् ॥४६९॥
ततस्तैः प्रबलीभूतैः, सर्वैरेव वरानने । अत्यन्तशिथिलो मार्गे, कृतोऽहं सुखलम्पटः ॥४७०॥
मोष्णं मे मा च शीतं मे, मा सन्त्वन्ये परीषहाः । एवं सुखासिकाशीलस्त्यक्तमार्गस्तदाऽभवम् ॥४७१॥

[निगोदादिभवपरम्परा]

ततस्तदन्ते रहितो विधानेन संमूढया चेतनया प्रबलैः शारीरदोषैरलक्षयन्नात्मानं जीर्णायां प्राचीनगुडिकायामास्वाद्य तामपरां नीतोऽहं तत्रैकाक्षनिवासनगरे स्थापितो वनस्पतिपाटके तेन पूर्वोदितेन प्रासादापवरकन्यायेन, स्थितः कियन्तमपि कालं भक्षयन्नपरापरगुडिकां, ततोऽन्यदा नीतोऽहं शेषपाटकेषु तदन्यनगरेषु च, कदाचिदानीतः पञ्चाक्षपशुसंस्थाने—
ततो विशुद्धभावत्वान्नीतोऽहं विबुधालये । कृताश्च बहवस्तस्माद्भूयस्तत्र गमागमाः ॥४७२॥

तथाहि-पञ्चाक्षपशुसंस्थानाद्भूरिशो व्यन्तरादिषु । अकामनिर्जरां प्राप्य, गतोऽहं शुभभावतः ॥४७३॥
तथा—विशिष्टपरिणामेन, क्वचित्कल्पोपपातिषु । सौधर्माद्येषु संपन्नो, विबुधाकारधारकः ॥४७४॥
किं बहुना ?—गृहिधर्मसमेतेन, सम्यग्दर्शनसंयुजा । उत्कृष्टतस्ततः स्थानादष्टौ कल्पा मयेक्षिताः ॥४७५॥
तथा—बहुशो मानवावासमवाप्तोऽहं सुलोचने ! । कर्माकर्मान्तरद्वीपभूमिजेषु नृषु स्थितः ॥४७६॥
तत्र—अकर्मभूमिजातोऽहमेकं द्वे त्रीणि वा मुदा । स्थितः पल्योपमान्युच्चैः, कल्पपादपलालितः ॥४७७॥
तावद्दन्यूतमानश्च, सत्कान्ताभोगमोदितः । सुखाहारविहारश्च, विशुद्धाशयबन्धुरः ॥४७८॥
तदन्ते भार्यया युक्तो, गतोऽहं विबुधालये । आस्वाद्य गुडिकां चार्वी, पूर्वोक्तविधिना तथा ॥४७९॥
भूरिवाराः प्रजातोऽहमन्तरद्वीपवासिषु । असंख्यवर्षगायुष्को, गतश्च विबुधालये ॥४८०॥
तथा-कर्मभूमिषु जातेन, यदज्ञानान्मया कृतम् । जलज्वलनशैलादिपतनं विषभक्षणम् ॥४८१॥
पञ्चाग्नितपनाद्यं वा, रज्ज्वाद्युद्बन्धनादि वा । कर्माशुद्धेन भावेन, धर्मबुद्ध्याऽन्यथापि वा ॥४८२॥
प्राप्तं तदापि तद्भद्रे ! सत्पुरं विबुधालयम् । किं तु किल्बिषिकावासे, जातो व्यन्तरपाटके॥४८३॥त्रिभिर्विशेषकम्।
तथा—कृत्वा बालतपो घोरं, सरोषो वैरतत्परः । तपोगौरवयुक्तोऽहं, गतो भवनवासिषु ॥४८४॥
तथा—तापसव्रतमासाद्य, तदनुष्ठानभावतः । ज्योतिश्चारिषु नीतोऽहं, बहुशो निजभार्यया ॥४८५॥
तथा—प्राप्य भागवतीं दीक्षां, तपोनिष्टप्तदेहकः । युक्तः क्रियाकलापेन, ध्यानाभ्यासपरायणः ॥४८६॥
केवलं-सर्वज्ञभाषितं किंचित्पदं वाक्यमथाक्षरम् । अश्रद्दधानो मूढत्वात्सम्यग्दर्शनवर्जितः ॥४८७॥
गतोऽहं भूरिशो भद्रे ! सर्वग्रैवेयकेष्वपि । आगतो मानवावासं, भूयो भूयोऽन्तराऽन्तरा ॥४८८॥ त्रिभिर्विशेषकं।
अस्य च भ्रमणस्यैवं, भद्रे ! जानीहि कारणम् । तत्सिहाचार्यताकाले, शैथिल्यं यन्मया कृतम् ॥४८९॥
इतरथा-तदैव निर्मलीकृत्य, चित्तवृत्तिं निहत्य च । रिपुवर्गं स्थितो राज्ये, गतः स्यां निर्वृतावहम् ॥४९०॥
तदिदमखिलं जातं, भूयो भ्रमणलक्षणम् । निजाया दुष्टचेष्टायाः, फलं नान्यस्य कस्यचित् ॥४९१॥
अगृहीतसङ्केतयोक्तं—
न केवलमिदं तात ! समस्तं यन्निवेदितम् । त्वयेह बत तत्सर्वं, निजं चेष्टाविजृम्भितम् ॥४९२॥ तथाहि—
यद्यवर्तिष्यथास्तात ! सर्वदा त्वं निरापदि । तस्य सुस्थितराजस्य, सदाज्ञायां स्थिराशयः ॥४९३॥
नाभविष्यत्ततो दीर्घा, तवेयमतिदारुणा । भीषणा श्रूयमाणाऽपि, तीव्राऽनर्थपरंपरा ॥४९४॥ युग्मम् ।
संसारिजीवेनोक्तं—
चारु चारूदितं सुभ्रु ! संप्रति त्वं हि वर्तसे । नाम्नाऽगृहीतसङ्केता, भावतस्तु विचक्षणा ॥४९५॥

[*तस्कराकारधारणस्पष्टता*]

तदाकर्णय चार्वङ्गि ! साम्प्रतं येन हेतुना । जातोऽहमीदृशावस्थस्तस्कराकारधारकः ॥४९६॥
अगृहीतसङ्केतयोक्तं-निवेदयतु भद्रः, संसारिजीवेनोक्तं--
तस्माद्ग्रैवेयकादन्त्यादानीतोऽहं महेलया । पुरीं मनुजगत्यन्तःपातिनीं क्षेमनामिकाम् ॥४९७॥ इतश्च--
जानात्येव भवती यथा-अनेकापणमालाढ्ये , भूरिविस्तारसुन्दरे । महाविदेहरूपेऽत्र हट्टमार्गेऽतिदूरगे ॥४९८॥
वसन्ति चित्ररूपाणि, सत्पुराण्यन्तराऽन्तरा । ततः क्षेमपुरी साऽस्य, हट्टमार्गस्य मध्यगा ॥४९९॥
सुकच्छविजयस्थानमिद भद्र ! निगद्यते । यत्र स्थिता वयं यूयं, पुरी सा च मनोहरा ॥५००॥

तस्यां च क्षेमपुर्यां--अभूदरातितामिस्रवर्हणस्तेजसां निधिः। राजा युगंधरो नाम, भास्कराकारधारकः ॥५०१॥
तस्य दर्शनमात्रेण, प्रोत्फुल्लमुखपङ्कजा । आसीदिष्टा महादेवी, नलिनी नाम विश्रुता ॥५०२॥
अथागृहीतसङ्केते ! भवितव्यतया तया । तस्याः प्रवेशितः कुक्षावहं पुण्योदयान्वितः ॥५०३॥ इतश्च--
तस्यां रात्रौ सुशय्यायां, सा सुप्ता कमलेक्षणा । चतुर्दश महास्वप्नानवलोक्य समुत्थिता ॥५०४॥
ततः प्रहृष्टयाऽऽख्यातास्ते युगंधरभूभुजे । तया फलोपलम्भार्थं, महास्वप्ना गजादयः ॥५०५॥
तेनाप्युक्तं यथा देवि ! देवदानवपूजितः । कुलप्रदीपस्ते पुत्रश्चक्रवर्ती भविष्यति ॥५०६॥
ततः प्रोत्फुल्लनेत्रा सा, भर्तुर्वाक्यैर्मनोहरैः । अभिनन्द्य तदुल्लापैर्गर्भं धारयतेऽनघा ॥५०७॥
ततः संपूर्णकालेन, सुन्दराकारधारकः । पुण्योदययुतो जातस्तोपादुद्दष्टोऽहमम्बया ॥५०८॥
अथ गत्वा प्रियङ्कर्या, हर्षगद्गदया गिरा । प्रोत्फुल्लनेत्रयाऽऽस्थाने, तातायाहं निवेदितः ॥५०९॥
ततः पुलकचार्वङ्गः, स दत्त्वा पारितोपिकम् । दानं तस्यै यथाकाममादिदेश महोत्सवम् ॥५१०॥

अथ विलासविभूपणवन्धुरः, सरसनर्तनवादनसुन्दरः ।
मदविघूर्णितलोकमनोहरः, प्रववृते मम जन्ममहोत्सवः ॥५११॥
गानपानवरखादनवन्तो, मानदानमदनादरवन्तः ।
तातवाक्यवशतो विलसन्तस्तत्र गाढमुदिता ननु सन्तः ॥५१२॥

यथैकं तद्दिनं भद्रे ! तथाऽन्यद्दिनपञ्चकम् । गतमुद्दामलीलाभिर्वृहदुत्सवसुन्दरम् ॥५१३॥
ततः प्रयत्नतः सर्वैस्तातारब्धावान्धवादिभिः । पष्ठिकाजागरो रम्यः, कृतो मे नाकविभ्रमः ॥५१४॥
ततो महाप्रमोदेन, लङ्घिते मासमात्रके । प्रतिष्ठितं च मे नाम, यथाऽयमनुसुन्दरः ॥५१५॥
अथ संवर्धमानोऽहं, धात्री पञ्चकलालितः । कुमारभावमापन्नो, गृहीताः सकलाः कलाः ॥५१६॥
ततश्च यौवनस्थोऽहं, यौवराज्येऽभिपेचितः । तातेन महता भद्रे ! विमर्देन मनोरमे ॥५१७॥
अथासौ भास्कराकारस्तातोऽस्तं समुपागतः । नलिनी च गता तेन, सार्धं माता ममानघा ॥५१८॥

[अनुसुन्दरस्य चक्रिपदाभिषेकः]

ततो यावत्करिष्यन्ति, किल राज्येऽभिपेचनम् । सामन्तास्तावदुत्पन्नं, चक्ररत्नं ममातुलम् ॥५१९॥ तथा--
जातानि शेपरत्नानि, सुन्दराणि त्रयोदश । निधयश्च समायाता, नव यक्षैः सुरक्षिताः ॥५२०॥
ततोऽयं चक्रवर्तीति, मत्वा सर्वे नराधिपाः । गताः किङ्करतां मेऽत्र, सुकच्छविजये तदा ॥५२१॥
ततो निर्जित्य निःशेषं, पट्खण्डं भूमिमण्डलम् । क्षेमपुर्यां स्थितेनैव, प्रतापेन मयाऽर्जितम् ॥५२२॥
कृतो द्वादश वर्पाणि, द्वात्रिंशद्भिर्महीभुजाम् । महसै रभिपेको मे, किरीटाटोपराजिनाम् ॥५२३॥
ततो देवीसहस्राणां, चतुःपष्ट्या सहाखिलाम् । फुल्लनीलाब्जनेत्राणां, भुञ्जानो भोगमहतिम् ॥५२४॥
कुर्वाणो जनतानन्दं, दधानश्चक्रवर्तिताम् । महाभूतिविमर्देन, भूरिकालमहं स्थितः ॥५२५॥ युग्मम् ।
किं बहुना ?--चतुर्भिरधिकाशीतिपूर्वलक्षाणि लीलया । उद्दामराज्यसम्भोगं, कृत्वाऽहं चारुलोचने ! ॥५२६॥
निर्गतः पश्चिमे काले, स्वपुर्या राजलीलया । पट्खण्डविजयस्यापि, स्वस्य दर्शनकाम्यया ॥५२७॥
पुराकरादिसंकीर्णां, तां पर्यट्य वसुन्धराम् । अहमत्र समायातः, सत्पुरे शङ्खनामके ॥५२८॥ ततश्च--
पश्चात्कृत्वा बलं शेपं, राजवल्लभवेष्टितः । प्राप्तश्चित्तरमं चेदमुद्यानं नन्दनोपमम् ॥५२९॥

[कन्दमुनिकुलन्धरमदनमञ्जरीणां मेलापक]

इतश्च—यानि गुणधारणावस्थायामभूवंस्तद्यथा प्रथमो मे धर्मदेशकः **कन्दमुनिः** तथा वयस्यः **कुलंधरो** भार्या च **मदनमञ्जरी**, तान्यप्याखेटितानि भवितव्यतया भ्रमितानि भवचक्रे दर्शितानि सुन्दरासुन्दररूपेण। ततः स कन्दमुनिः क्वचित्कृतबहुलिकासम्पर्कः समानीतोऽस्यैव सुकच्छविजयस्यान्तर्भूते **हरिपुरे**। तत्र च **भीमरथो** राजा तस्य च **सुभद्रा** नाम महादेवी तयोश्चास्ति **समन्तभद्रो** नाम तनयः ततः प्रवेशितोऽसौ कन्दः सुभद्राकुक्षौ निर्गतः क्रमेण जाता दारिका प्रतिष्ठितं तस्या नाम **महाभद्रेति**। इतश्च समन्तभद्रः संप्राप्य **सुघोषमाचार्यं** संजातवैराग्यः संभाल्य पितरौ निष्क्रान्तः संपन्नः संपूर्णद्वादशाङ्गधरः स्थापितो गुरुभिः सूरिपदे। सापि च महाभद्रा संप्राप्ता यौवनं परिणीता **गन्धपुराधिपतिना पद्मावतीरविप्रभपुत्रेण दिवाकरेण** गतोऽसौ कालवशेनास्तं प्रतिबोधिता समन्तभद्रसूरिणा महाभद्रा गृहीताऽनया भागवती दीक्षा संजातैकादशाङ्गधारिणी गीतार्था स्थापिता गुरुभिः प्रवर्तिनीपदे। ततः सा सुसाध्वीभिः परिवारिता विहरन्ती संप्राप्ता **रत्नपुरे**। तत्र च **मगधसेनो** राजा तस्य च **सुमङ्गला** नाम महादेवी। इतश्च सा **मदनमञ्जरी** जनिता तत्सुतात्वेन भवितव्यतया तया कृतं तस्याः **सुललितेति** नाम, प्राप्ता क्रमेण यौवनं संपन्ना पुरुषद्वेषिणी लङ्घितो भूरिकालः नेष्टो वरगन्धोऽप्यनया ततः कथमियं वरिष्यत इति संजाता जननीजनकयोश्चिन्ता, ततो महाभद्रां समागतामाकर्ण्य गृहीत्वा तां सुललितां प्रियपुत्रिकां गतौ तदुपाश्रये वन्दनार्थं देवीनरेन्द्रौ वन्दिता सपरिकरा भगवती दत्तोऽनया परमपदकल्पपादपनिरुपहतबीजभूतो धर्मलाभः विहितामृतप्रवाहकल्पा सद्धर्मदेशना।

[सुललिताया साध्व्या सह पर्यटन]

ततः सा सुललिता परिस्फुटमबुध्यमानापि भगवतीवचनभावार्थमत्यन्तमुग्धतया पूर्वपरिचयादुत्पन्नस्नेहरागा भगवतीवदनकमलावलोकनान्निजलोचने क्वचिदन्यत्र नेतुमपारयन्ती पितरं प्रत्याह—तात! मया भगवत्याश्चरणयुगलं पर्युपासितव्यं तदनुजानातु मां तातो येनाहमनयैव सार्धं सर्वत्र विचरामीति। तदाकर्ण्य प्ररुदिता सुमङ्गला, नृपतिराह—देवि! अलमत्र रुदितेन करोतु वत्सा ममीहितं अयमेवास्या विनोदनोपायो भविष्यति, केवलं भगवतीपार्श्वस्थयाऽनया सामग्रीयुक्तया गृहस्थयैव सत्या पर्यटितव्यं न चास्मदपृच्छयाऽनया प्रव्रज्याजल्पोऽपि विधेयः, सुललितयोक्तं—तात! महाप्रसादः, ततः सा सुललिता तया महाभद्रया प्रवर्तिन्या सह तथैव नानादेशेषु विचरितुं प्रवृत्ता, केवलं कर्मोदयान्न प्रवर्तते तस्याः पाठः न लगति सामाचारीक्रमः न बुध्यते च सा परिस्फुटमपि कथ्यमानमागमार्थम्। अन्यदा समायाता भगवती महाभद्राऽत्र शङ्खपुरे स्थिता नन्दस्य श्रेष्ठिनो घंघशालायाम्।

[पौण्डरीकजन्मादि]

इतश्चात्र शङ्खपुरे मम मातुलः **श्रीगर्भो** नाम राजा तस्य च महाभद्रामातृष्वसा **कमलिनी** नाम महादेवी सा च निरपत्या तदर्थं ददात्युपयाचितशतानि पिबत्यौषधमूलजातानि, ततो भवितव्यतया स **कुलंधरो** भूरिषु भवेषु कृतकुशलाभ्यासः प्रवेशितस्तस्याः कुक्षौ, दृष्टोऽनया स्वप्नो यथा सुन्दराकारधरः पुरुषो वदनेन मे प्रविश्य शरीरे हृदयेन निर्गत्य गतः केनचिन्नरेण सार्धं, ततः कथितोऽनया भर्त्रे स स्वप्नः, तेनोक्तं—भविष्यति ते पुत्रः केवलमचिरेण कंचन गुरुं प्राप्य प्रव्रजिष्यति। तदाकर्ण्य तुष्टा कम-

लिनी, ततस्तृतीये मासि संजातोऽस्याः कुशलकर्मकरणमनोरथः संपादितः श्रीगर्भराजेन, संपूर्णकाले च जातो दारकः परिपुष्टो राजा कारितस्तज्जन्मानन्दः। इतश्च समुत्पन्नविमलकेवलालोकः समागतोऽसौ **समन्तभद्राचार्यः** स्थितोऽत्रैव **चित्तरमे** कानने निर्गता तद्वन्दनार्थं महाभद्रा, कथंचिन्न विज्ञातः सुललितया, संजातः कथंचिद्राजदारकजल्पः, भगवतोक्तं-एष बहुशोऽभ्यस्तकुशलकर्मा राजपुत्रो न स्थास्यति भवने ग्रहीष्यति प्रव्रज्यां भविष्यति सर्वज्ञागमधारकः, तदाकर्ण्यागता निजोपाश्रये महाभद्रा। इतश्च तस्य नरेन्द्रतनयस्य **पौण्डरीक** इति प्रतिष्ठितमभिधानं विहितो नामकरणप्रमोदः।

[सुललितया समन्तभद्रदर्शन]

इतश्च सा सुललिता कुतूहलपरतया विचरन्ती प्राप्ता तत्र चित्तरमे कानने दृष्टः मद्वमध्यस्थोऽनया स समन्तभद्रसूरिर्न पतिसुतगुणसन्दोहं वर्णयमानः, उक्तं च भगवता-यतोऽयं शुभेन कर्मपरिणामेन अनुकूलीभूतया कालपरिणत्या अस्यां मनुजगतौ जनितस्तस्मादेवंविधगुण एवायं भविष्यति, भव्यपुरुषो हि सुमतिः सन्निखिलैंगुणैयुज्यत एव कोऽत्र सन्देहः? ततस्तदाकर्ण्य हृष्टाः सर्वे लोकाः, सुललितया चिन्तितं-कथं कालपरिणतिकर्मपरिणामयोर्जनकत्वं कथं चैष भाविगुणजातं जानाति? ततो गत्वा वसतिं पृष्टाऽनया महाभद्रा, तया चिन्तितं--अत्यन्तमुग्धेयं सुललिता, ततोऽयमेवास्याः प्रतिबोधनोपाय इति संचिन्त्य युक्तितः समर्थितं महाभद्रया कालपरिणतिकर्मपरिणामयोर्जनकत्वं, उत्पादयामि च सदागमगोचरामस्याः प्रीतिमिति चिन्तयन्त्याऽभिहितमनया-भद्रे! स तदा लोकमध्ये व्याचक्षाणः सदागमस्त्वयाऽवलोकितः स हि भगवान् भूतभवद्भविष्यद्भावान् निःशेषानाविर्भावयत्येव नास्त्यत्र सन्देहः, तत्प्रसादादेव मयाऽपीदं समस्तं विज्ञातं चिरपरिचितः स मे भगवान्महाप्रभावश्चेत्यादि वर्णितं सदागममाहात्म्यं कथितं च तस्य तथा परितोषकारणं, सुललितयाऽभिहितं-भगवति! ममापि विधेहि तेन भगवता सह परिचयं, महाभद्राऽऽह-बाढं, ततो नीताऽनया समन्तभद्रसूरिसमीपे सुललिता, तद्दर्शनाज्जातः सुललितायाः प्रमोदः संपन्नः कथितगुणेषु संप्रत्ययः, अभिहितमनया-भगवति! वञ्चिताऽहमियन्तं कालं भगवत्या यदेष न दर्शितो मे महाभागः सदागमः अहो ते स्वार्थपरता तदतः परं भगवति! दर्शनीयो मे दिने दिने भगवान् येनाहमपि भगवत्या सदृशी पण्डिता भवामि। महाभद्रयोक्तं-एवं करिष्ये, ततः प्रारब्धा ताभ्यां प्रतिदिनं भगवत्पर्युपासना लङ्घितो मासकल्पः,

[पौण्डरीकस्य सदागमपरिचय.]

ततो भगवानाह-महाभद्रे! क्षीणजङ्घाबलाऽसि त्वमधुना न शक्नोषि विहर्तुं अतस्तिष्ठ त्वमत्रैव शङ्खपुरे वयं तु विहरामस्तावत् पुनरागमिष्यामः, युष्मत्प्रतिजागरणमेवेहास्माकं मासकल्पकरणे कारणं, अन्यथा हि न कल्पते साध्वीसमध्यासिते क्षेत्रे साधूनां कर्तुं मासकल्पः, ग्लानप्रतिजागरणं तु पुष्टमालम्बनं, प्रतिचरणीयश्च भवत्या पौण्डरीकोऽयं राजदारकः भविष्यत्येष वर्धमानो मे शिष्यः, ततस्तथेति प्रतिपन्नं सूरिवचन महाभद्रया विहृता भगवन्तः, प्राप्तः क्रमेण पौण्डरीकः कुमारभावं प्रादुर्भूतोऽस्य यथानिर्दिष्टो गुणकलापः जातोऽयं स्नेहप्रतिबद्धहृदयो महाभद्रायां, समागता भूयो भगवन्तः समन्तभद्रसूरयः नीतस्तदभ्यर्णे महाभद्रया पौण्डरीकः, स च भाविभद्रतया हृष्टस्तन्मूर्तिदर्शनेन रञ्जितस्तद्गुणकलापेन प्रीणितस्तद्वचनाकर्णनेन, शुद्धमुग्धबुद्धितया च महाभद्रां प्रत्याह-भगवति! किंनामायं महाभागः? तया चिन्तितं-सरलहृदयोऽय राजपुत्रो रञ्जितश्च भगवद्गुणैरिति लक्ष्यते, तदस्यापि जनयाम्येतद्द्वारेणैव सर्वज्ञागमविषयां भक्तिमिति

संचिन्त्याभिहितमनया—भद्र ! सदागमोऽयमभिधीयते । पौण्डरीकेणोक्तं—भगवति ! यद्यम्बातातयोः प्रतिभाति ततोऽहमस्यैव भगवतः सकाशे गृह्णाम्यागमार्थं, महाभद्रयोक्तं—युक्तमिदं, ततो निवेदितस्तदभिप्रायो महाभद्रया कमलिन्यै श्रीगर्भराजाय च संजातस्तयोः प्रमोदः ततो गत्वा महानन्देन समर्पितस्ताभ्यां भगवतो निजतनयः ततः कुरुते स प्रतिदिनमागमाधिगमं पौण्डरीकः ।

[समन्तभद्रेण तस्करनिरूपण]

ततोऽत्रैव चित्तरमे काननेऽत्रैव च मनोनन्दने चैत्यभवने सङ्घसमुदयमध्यस्थिते भगवति समन्तभद्रसूरौ धर्मं व्याचक्षाणे स्थितायां महाभद्रायां निकटवर्तिनि पौण्डरीके समागतायां सुललितायां धर्मकथाऽऽक्षिप्तहृदये भव्यलोके समुल्लसितो मदीयबहलकलकलः, तच्छ्रवणादुत्कर्णिता परिषत्, ततः सुललितया महाभद्रां प्रत्युक्तं-भगवति! किमेतत् ? सा प्राह--नाहं जाने, ततो भगवता तयोः सुललितापौण्डरीकयोः प्रतिबोधायेदमुक्तं-यथा महाभद्रे ! किं न जानीषे त्वं प्रसिद्धैव तावदियं मनुजगतिर्नगरी प्रख्यातोऽयं महाविदेहरूपो हट्टमार्गो यत्राधुना सर्वेऽपि वयमास्महे । ततोऽद्य संसारिजीवो नाम तस्करो गृहीतः सलोप्त्रको दुष्टाशयादिभिर्दण्डपाशिकैः दर्शितः कर्मपरिणाममहाराजाय, ततस्तेन पृष्ट्वा कालपरिणतिं स्वभावादींश्चाज्ञापितोऽसौ वध्यतया, ततः सोऽयं संसारिजीवः खल्वेवं वेष्टितस्तै राजपुरुषैर्महाकलकलेन हट्टमार्गमध्येन नगर्या निःसार्य नीत्वा च पापिपञ्जरनामके वध्यस्थाने दुःखमारेण मारयिष्यते । तदेष तस्मिन्नीयमाने कोलाहलः श्रूयते । सुललितयोक्तं--भगवति ! ननु शङ्खपुरमिदं न मनुजगतिः चित्तरमं चेदं काननं न हट्टमार्गः श्रीगर्भश्चात्र राजा न कर्मपरिणामः तत्किमित्येवं भगवन्तो जल्पन्ति ? भगवानाह--धर्मशीलेऽगृहीतसङ्केता त्वमसि न जानीषे परमार्थं, सुललितया चिन्तितं--ही ममाप्यपरं नाम कृतं भगवता, ततः स्थिता विस्मितवदना, महाभद्रया बुद्धो भगवद्वाक्यार्थः, चिन्तितमनया—कश्चिदेष कृतभूरिपापो नरकगामी भगवता जीवो निर्दिष्टः, ततः संजाता महाभद्रायाः करुणा, अभिहितमनया—भगवन् ! किमेष कथंचिन्मोचयितुं पार्यते तस्करो न वेति ? भगवानाह—आर्ये ! तव दर्शनेनास्मत्समीपागमनेन च भविष्यत्यस्य मोक्षः, महाभद्रयोक्तं—भदन्त ! गच्छाम्यहमस्याभिमुख, भगवतोक्तं—गच्छ ।

[महाभद्राया अनुसुन्दरसमीपे गमन]

ततः करुणापरिगतहृदयाऽऽगता महाभद्रा मदभ्यर्णं, अभिहितोऽहं---यथा भद्र ! भगवन्तं सदागमं शरणं प्रतिपद्यस्वेति, ततः समानीतोऽहमेवं वदन्त्या भगवत्समीपं, दृष्टोऽहमेवं वध्यतस्कराकारधारकः समस्तपरिषदा, ममापि भगवन्तमवलोकयतोऽनाख्येयसुखरसनिर्भरतया समागता मूर्च्छा लब्धा चेतना प्रतिपन्नः शरणतया भगवान् '(१)माभीर्दानेन समाश्वासितोऽहं भगवता दूरीभूता भगवद्भयेन क्लिलैते राजपुरुषाः ततो विश्रब्धीभूतोऽहं पृष्टस्तया व्यतिकरं कथितश्च मयैवमात्मवृत्तान्तो विस्तरेण । अयं च भद्रे ! भगवतः समन्तभद्रसूरेर्महाभद्रायाः पौण्डरीकस्य भवत्याश्च सम्बन्धी वृत्तान्तः प्रतीतोऽपि तव स्वसंवित्त्यर्थं मया निवेदितः येन ते मदीयकथिते सुनिर्णीतमेवायं कथयतीति सर्वत्र सम्प्रत्ययो भवति, तज्जातस्तेऽधुना सम्प्रत्ययः ?

(१) अभयदानेन ।

सा प्राह-बाढमात्मगोचरः संजातः, केवलं यदि त्वमनुसुन्दरनामा चक्रवर्ती ततः किमित्येवं तस्कराकारधारको दृश्यसे ? अयं मेऽधुना सन्देहः ।

[चौररूपताकरणकारण]

स प्राह-भद्रे ! युवयोः प्रतिबोधनार्थं मयेदं बहिरपि तस्कररूपं विरचितं । यतोऽहमन्तरङ्गं चौर्यमुद्दिश्य भवतां पुरतो भगवता संसारिजीवो नामायं तस्करः कलकलेनेत्थं बद्ध्वा नीयते लग्न इत्याख्यातः, ततो गतायां मम सम्मुखं महाभद्रायां तद्दर्शनानुभावात्संजाते प्रबोधे मया चिन्तितं— यद्यप्येषा प्रज्ञाविशाला महाभद्रा जानात्येवेदं भगवदादिष्टं मदीयमन्तरङ्गं चौर्यं ततो लक्षयति भावतो मम तस्करतां तथाप्यगृहीतसङ्केताऽद्यापि सा सुललिता न जानीते गन्धमप्यस्य व्यतिकरस्य, ततश्चक्रवर्तिरूपधारिणं मामुपलभ्य भवेदस्याः सदागमवचने विप्रत्ययो न जानीते किंचिदयं सदागमो यतश्चक्रवर्त्यप्यनेन तस्करोऽभिहित इति भावनया । किं च—असावपि पौण्डरीकोऽनेनैव द्वारेण प्रतिबोधितो भविष्यति, भव्यपुरुषो ह्यमौ सुमतिश्च वर्तते, विज्ञास्यति मामकीनवृत्तान्तश्रवणोत्तरकालमस्य सर्वस्य परिस्फुटमैदंपर्यं भविष्यत्यस्य प्रबोध इत्येवं विचिन्त्य विरचितमिदमन्तरङ्गात्मरूपसूचकं वैक्रियकरणलब्ध्या मया बहिरपि सर्वमेवंविधं रूपमिति । सुललितेनोक्तं-कीदृशं पुनस्तदन्तरङ्गं चौर्यं यद्भवता विहितं कथं वा तत्रेदृशी विडम्बना कथं वाऽऽत्मगतं परगतं च निःशेषं वृत्तान्तजातं जानाति भवान् ? इत्येतत्सर्वं निवेदयितुमर्हति भद्रः, अनुसुन्दरेणोक्तं-अस्ति तावदागतोऽहमन्त्यग्रैवेयकात् समुत्पन्नोऽत्र सुकच्छविजये क्षेमपुर्यां युगन्धरनलिनीपुत्रतयाऽनुसुन्दराभिधानः, अत्रान्तरे प्रोत्साहितास्ते भवितव्यतया महामोहादयः,

[चक्रवर्तीभवे मोहप्रबलता]

कथं ?—सम्यग्दर्शनदूरस्थो, यावदेषोऽनुसुन्दरः । यतध्वं तावदेवात्र, यूयं भोः स्वार्थसिद्धये ॥५३०॥
इतरथा—कथंचिच्चं समासाद्य, परिपोष्य निजं बलम् । भवतां प्राग्वदेवायं, बाधाकारी भविष्यति ॥५३१॥
अन्यच्च—अक्लेशेन वशं याति, साम्प्रतं भवतामयम् । सद्बोधाद्यैर्वृतो भूयो, दुर्ग्रहोऽय भविष्यति ॥५३२॥
ततोऽधुना यथाशक्त्या, कृत्वेमं वशवर्तिनम् । चित्तवृत्तिमहाराज्यं, लात यूयं निराकुलाः ॥५३३॥
ततस्तच्चोदितैर्भद्रे ! वल्गमानैर्निरङ्कुशैः । बालकालात्समारभ्य, तैरहं परिवेष्टितः ॥५३४॥
अहं तु तेषां मध्यस्थो, ध्यान्ध्याऽन्धीभूतचेतनः । विस्मृताशेषसद्बन्धुः, पुनस्तन्मयतां गतः ॥५३५॥
ततः समस्तैस्तैः पापैः, संप्रयुज्य निजं निजम् । वीर्यं कृतोऽहं भूयोऽपि, पापार्जनपरायणः ॥५३६॥
कथं ?—कौमारे वर्तमानोऽहं, प्रवृत्तो मांसभक्षणे । मद्यपाने रतो द्यूते, जन्तुसङ्घातपीडने ।५३७॥
यौवने वर्तमानेन, पारदार्यादयस्तथा । लोके प्रभवताऽत्यर्थं, प्रसह्य विहिता मया ॥५३८॥
तथा-स्थितेन चक्रवर्तित्वे, महारम्भपरिग्रहाः । पापर्द्धयोऽन्यदोषाश्च, निरपेक्षेण सेविताः ॥५३९॥
सर्वत्र मूर्च्छितो गृद्धो, विभूतौ विषयेषु च । एतावन्तमहं कालं, स्थितोऽत्यन्तसुखी किल ॥५४०॥
एवं च वर्तमानेन, मया ते भावशत्रवः । विस्मृत्य पूर्ववृत्तान्तं, बन्धुबुद्ध्याऽवधारिताः ॥५४१॥

ततस्तैर्लब्धप्रसरैर्मे मलिनतरीकृता चित्तवृत्तिः नितरामभिभूतं चारित्रधर्मराजबलं धारितं (दूरे) निरुद्धमभ्यन्तरे तिरोहितं तत्क्षान्त्यादिकं सुतरामन्तरङ्गमन्तःपुरं बहिर्भावितोऽहं प्रभुभावात् प्रकाशितं कर्मपरि-

णामराज्यं प्रबलीभूतः पापोदयः वल्गितमुद्धाततया महामोहसैन्यं संप्राप्तिमानि निजनगराणि प्रभूना वोढुं महापूरेण प्रमत्ततानदी विस्तीर्णीभूतं तद्विलसितं प्रत्यग्रीकृतोऽधानविक्षेपमण्डपः समारिता तृष्णावेदिका संस्कृतं विपर्यासविष्टरं परिपोषिता महामोहेन निजाऽविद्यागात्रयष्टिः सर्वथा पुनर्नवीभूता समस्ता सामग्री ततः प्रवृत्तोऽमीषां पर्यालोचः—अभिहितं विषयाभिलाषेण—

भो भोः सर्वे महीपालाः! संचिन्तयत सादरः। दृष्टदोषाः पुरा यूयं, किं ना वः परिरक्ष्यते ॥५४२॥
मन्दादरेण निर्नाशं, तादृशं वीक्ष्य पूर्वकम्। मन्दादरो न युक्तो वः, साम्प्रतं वर्तुमत्र भोः! ॥५४३॥
तथा यतध्वमधुना, यूयं निष्कण्टकं हि वः। यथा संपद्यते राज्यमाकालं सुप्रतिष्ठितम् ॥५४४॥

[स्तेयारोपेण वध्यतादेशः]

ततः प्रतिभातं तत्तेषां मन्त्रिवचनं, अभिहितमेतैः—किं पुनरत्र क्रियत इति? मन्त्रिणोक्तं इदमिदं च कुरुतेति, ततस्तदुपदेशेन प्रोत्साहितोऽहं प्राहितश्च स्वयमेव तैः क्लेशविधिनं कर्मपरिणामसत्कं परेणा-विरचितं प्रभूतमकुशलनामकं द्रव्यजातं ग्राहयित्वा च तैरेव ग्राहितश्चौरतयाऽहं कर्मपरिणामराजस्य, ततस्ते-नादिष्टं यथा विडम्बनापुरःसरं पापिपञ्जरे नीत्वेमं दुःखमारेण मारयत। तदाकर्ण्य हृष्टास्ते दुरात्मानः।

[तस्करवेषपरिधानं]

ततो विलिप्तोऽहं कर्ममलभस्मना—चर्चितो राजसगैरिकहस्तकैः—रचितस्तामसस्तृणमषीपुण्ड्र-कैर्विनाटितः—प्रबलरागकल्लोलपरंपरानामिकया लम्बमानया कणवीरमुण्डमालया विडम्बितो हृदये घूर्ण-मानया कुविकल्पसन्ततिरूपया शरावमालया ध्रियमाणेनोपरि पापातिरेकनामकेन जरत्पिटककरण्डेन बद्धोऽकुशलनामकलोष्ट्रेण स्वरूपगलके आरोपितो महत्यसदाचाराभिधाने रासभे वेष्टितः कृतान्तसन्निभै-र्दुष्टाशयादिभिः समन्ताद्राजपुरुषैर्निन्द्यमानो विवेकिलोकेन समुल्लसता कषायाभिधानडिम्भरकल-लेन श्रूयमाणेन शब्दादिसम्भोगनामकेन विरसविषमडिण्डिमध्वनिना विजृम्भमाणेन बहिरङ्गलोकसमु-दयविलासरूपेण दुर्दान्तजनाट्टहासेन निःसारितोऽहमेवं वध्यभूमेरभिमुखं तैर्महामोहादिभिर्महानिन्दकस्पट्ट-हमार्गे निजदेशदर्शनलीलाव्याजेनेति। ततस्तैरानीतोऽहममुं प्रदेशं श्रुतो युष्माभिर्योऽयं कलकलः गता मम सम्मुखं तथा महाभद्रा। इतश्चाहं तदा—

[महाभद्रादर्शनेनानुराग]

निःशेषं पृष्ठतस्त्यक्त्वा, समैत्य राजलीलया। संग्रामस्वेदमुक्तानं, राजवल्लभवेष्टितः ॥५४५॥
रक्ताशोकतले यावदुत्तीर्य वरवारणात्। आलोक्य काननं दिव्यं, संस्थितस्तद्दिदृक्षया ॥५४६॥
राजपुत्राश्च मे यावद्विनीताश्चाटुकारिणः। वदन्तो देव देवेति, दर्शयन्ति वनश्रियम् ॥५४७॥
तावदेषा महाभागा, सुसाध्वीपरिवारिता। आगच्छन्ती महाभद्रे! महाभद्रा विलोकिता॥५४८॥चतुर्भिः कलापकम्।
अथ निःशेषरूपेभ्यो, व्यावृत्ता कीलितेव मे। अस्यां निपतिता दृष्टिः, संजाताऽत्यन्तनिश्चला ॥५४९॥
एषापि मां प्रपश्यन्ती, संपन्ना स्नेहबन्धुरा। निःस्पृहापि महाभागा, पूर्वाभ्यासेन सुन्दरि! ॥५५०॥
अथ प्राप्ता ममाभ्यर्णे, चिन्तयन्ती गुरोर्वचः। अयं नरकगामीति, करुणाऽऽगतचेतना ॥५५१॥

ततः कन्दमुनिकाले गुणधारणेन सता मया नितरामेतद्गोचरस्याभ्यस्ततया बहुमानस्यानुशीलिततया विनयस्य प्रतिपन्नतया हृदयस्य भाविततया गौरवस्यानुष्ठिततया वत्सलभावस्य प्रादुर्भूतश्चेतसि मे विमर्शः

यदुत-कैषा पुनर्भगवती या दृष्टमात्रापि मे हृदयमेवमाह्लादयति नयने शीतलयति शरीरं निर्वापयति अमृत-कुण्ड इव मां क्षिपतीति। ततः कृतो मया भगवत्याः शिरःप्रणामः दत्तोऽनया धर्मलाभाशीर्वादः, अभिहितं च--

[जातिस्मरणावधिज्ञानेन महाभद्रोपदेशश्रवणम्]

भो भो महाराज--मोक्षसम्प्रापके प्राप्ते, मानुष्ये ते नरोत्तम!। उन्मार्गगमनान्नैवं, गन्तुमन्यत्र युज्यते ॥५५२॥
निजकर्मापरोधेन, तस्कराकारधारिणः। वध्यस्य नीयमानस्य, कृत्वा भावविडम्बनाम् ॥५५३॥
किं राज्यं स्युर्विलासाः के, के भोगाः का विभूतयः।
किं वा स्वास्थ्यं? महाराज! चिन्तयेदं स्वचेतसा ॥५५४॥ युग्मम्।

किं च—मद्दर्शनात्तदा समुत्पन्नविमर्शायाः संजातमस्या भगवत्या महाभद्राया जातिस्मरणं स्मृतस्तेन कन्दमुनिकालादारभ्य समस्तो वृत्तान्तः प्रादुर्भूतं तदनुसारेण शुभाध्यवसायादवधिज्ञानं दृष्टं तेन मदीयमपि विचरणं, ततोऽभिहितमनया—

किं न स्मरसि राजेन्द्र! यत्तदा गुणधारणः। भवन्नुद्दामलीलाभिर्ललितस्त्वं ममाग्रतः ॥५५५॥
क्षान्त्याद्यन्तःपुरं प्राप्य, सुखसम्भारपूरितः। स्थितो यद्भावराज्ये त्वं, तत्किं ते विस्मृत किल? ॥५५६॥
किं न निर्मलसूरीणां, वचनानि स्मरन्ति ते। भवप्रपञ्चो यैस्तुभ्यमनन्तोऽपि निवेदितः ॥५५७॥
यत्प्रमादादवाप्तानि, त्वया ग्रैवेयकादिषु। सुखानि शरणं तेऽसौ, केवलं हि सदागमः ॥५५८॥
तद् बुध्यस्व महाराज! तूर्णं मा मुह्य साम्प्रतम्। अहं हि ते समायाता, बोधार्थं करुणापरा ॥५५९॥
अत्रान्तरे च विज्ञाय, प्रस्तावं मम सम्मुखम्। पुनः प्रवृत्तः सद्बोधः, सम्यग्दर्शनसंयुतः ॥५६०॥
स चान्तरारिवर्गेण, रुद्धस्तेन दुरात्मना। न शक्नोति ममाभ्यर्णमागन्तुं तमसा पथि ॥५६१॥
ततो भगवतीवाक्यं, सूर्यांशुनिकरेरितम्। सूर्यकान्तसमं दीप्त, जीववीर्यं बगामनम् ॥५६२॥
ततस्तस्य प्रकाशेन, तत्तमः प्रलयं गतम्। लग्नमायोधनं रम्यं, चित्तवृत्तौ च सैन्ययोः ॥५६३॥
ततो बलेन निर्भिद्य, रिपुवर्गं विबन्धकम्। ममागतौ च मे पार्श्वं, तौ सद्बोधमहत्तमौ ॥५६४॥

[जातिस्मरणं, पूर्वश्रुतबोधोऽवधिज्ञानं च]

ततः प्रवृत्तो मे विमर्शः यदुत-किमेषा भगवती जल्पतीति, ततश्चोहापोहमार्गणगवेषणं कुर्वतो मे समुत्पन्नं जातिस्मरणं, स्मृता गुणधारणावस्था, ततस्तदनुसारेण वर्धमानशुभाध्यवसायस्य मे समागतः सद्बोधवयस्यो विनिर्जित्यात्मप्रतिपक्षमवधिः, तद्बलेन दृष्टा मयाऽसङ्ख्येया द्वीपसमुद्राः विलोकितोऽसङ्ख्येय एव भवप्रपञ्चः प्रादुर्भूतं सिंहाचार्यकालाभ्यस्तं पूर्वपर्यन्तं सहातिशयैः समस्तं श्रुतं, आकलितः परिस्फुट इव निर्मलसूरिनिवेदितः समस्तोऽप्यात्मसंसारविस्तारः तदारात् पुनरसङ्ख्येयतया दृष्टः साक्षादेव निजः परिभ्रमणवृत्तान्तः, ततः पूर्वोक्तेन कारणेन विरचय्येत्थं तस्कररूपतया बहिरपि विडम्ब्यमानमात्मानं समागतोऽहमिह समं महाभद्रया, तदारात्प्रतीत एव ते मदीयव्यतिकरः, ततो भद्रे! सुललिते मदनमञ्जरीयमिति प्रसर्पितस्नेहतन्तुना अत्यन्तमुग्धेयमदृष्टपरमार्था वराकीति सञातकरुणातिरेकेण सर्वज्ञागमगोचरबहुमानेन क्लिष्टकर्मविलयतो भवत्वस्यास्तपस्विन्याः प्रतिबोध इति भगवतोऽस्य सदागमस्य पादप्रसादादखिलं मयेदमवधारितमिति सदागमे बहुमानमुत्पादयता सङ्क्षेपेणाप्यनन्ततया षण्मासकथनीयो भगवन्माहात्म्यादेव

प्रहरत्रयेणैव निवेदितोऽयमगृहीतसङ्केते इत्युल्लपता मया कुतूहलपरायै भवत्यै स्वयमपि संवेगापन्नेन समस्तोऽप्यात्मभवभ्रमणप्रपञ्चः । तदीदृशं भद्रे ! तदन्तरङ्गं चौर्यं यन्मयाऽधुना विहितं ईदृशी च तत्र विडम्बना एवं चाहं स्वगतं परगतं च वृत्तान्तजातं जानामीति ।

[चित्तवृत्तौ चारित्रधर्ममेलापकः]

एतच्चाकर्ण्य विस्मिता सुललिता भाविता हृदये, पौण्डरीकेणापि गृहीतो मनाग्भावार्थः, ततोऽभिहितमनेन--आर्य ! किं पुनरधुना ते चित्तवृत्तौ वर्तते ? अनुसुन्दरेणोक्तं—आकर्णय--

यावत्संवेगमापन्नः, प्रारब्धो निजचेष्टितम् । निवेदयितुमित्थं भोः, पुरतो भवतामहम् ॥५६५॥
तावच्चारित्रधर्मोऽसौ, स्वसैन्यपरिवारितः । प्रस्ताव इति विज्ञाय, चलितो मम सम्मुखम् ॥५६६॥
तेन चागच्छता—आनन्दितं स्ववीर्येण, पुरं सात्त्विकमानसम् । अत्यन्तशुभ्रतां नीतो, विवेकवरपर्वतः ॥५६७॥
शिखरं चाप्रमत्तत्वं, कृतमुच्चैस्तरां वरम् । उद्भासितं च भूयोऽपि, पुरं जैनं प्रतिष्ठितम् ॥५६८॥
स च चित्तसमाधानो, मण्डपोऽपि समारितः । सा च निःस्पृहतावेदिः, पुनः सज्जा विनिर्मिता ॥५६९॥
तच्चोल्लसत्प्रभाजालं, जीववीर्यं वरासनम् । कृतं तेन स्वसैन्यं च, सर्वथा परितोषितम् ॥५७०॥
ततश्चागच्छतस्तस्य, परिपूर्णतयाऽध्वनि । सर्वप्राणेन तल्लग्नं, महामोहमहाबलम् ॥५७१॥
दृष्टं प्रत्यक्षतः सर्वं, तच्च युद्धं ममाऽतुलम् । ततः परिसरे रम्ये, चित्तवृत्तेरनीकयोः ॥५७२॥
ततः सद्बोधयुक्तेन, सम्यग्दर्शनसंयुजा । मयाऽवष्टम्भितो जातः, स राजा जयभाजनम् ॥५७३॥
ततो विघटिताशेषपरपक्षः स्वलीलया । अवाप्तजयलक्ष्मीकः, शत्रुराज्यं निपीड्य च ॥५७४॥
गृहीत्वाऽन्तःपुरं सर्वं, मामकीनं चिरन्तनम् । राजा चारित्रधर्मोऽसौ, मत्समीपमुपागतः ॥५७५॥ युग्मम् ।
ते च निर्नष्टसर्वस्वाः, किंचिच्छेषस्वजीविताः । दीनाः क्षीणा दृढं लीना, महामोहादयः स्थिताः ॥५७६॥
चित्तवृत्ताविदं भद्र ! वर्तते मम साम्प्रतम् । यच्छत्रवः प्रलीनास्ते, प्रहृष्टा वरबान्धवाः ॥५७७॥ युग्मम् ।
अन्यच्च—प्रपद्य त्रिजगद्वन्द्यं, लिङ्गं सर्वज्ञभाषितम् । अधुना पोषणीयोऽसौ, बन्धुवर्गो मयाऽऽन्तरः ॥५७८॥

[चक्रवर्तिस्वरूपाविर्भाव]

एवं च वदता तेनानुसुन्दरराजेनोपसंहृतं तद्विकृतं तस्कररूप आविर्भावितं स्वाभाविकं चक्रवर्तिस्वरूपं कृतसङ्केततया निवृत्ता तस्करविडम्बनासामग्री समायाता मन्त्रिमहत्तमसामन्ताः निवेदितस्तेभ्यो निजोऽभिप्रायः प्राप्तकालतया च प्रतिभातोऽमीषां, ततः पुरन्दराय निजसुताय समर्पितान्यनुसुन्दरेण राज्यचिह्नानि अयं भवतां राजेति ज्ञापिता राजसमूहाः सविनयं प्रतिपन्नमेतैः निर्वर्तितं भगवदभिषेकपूजादिकं निःशेषकरणीयं निर्गतः सपौरान्तःपुरः श्रीगर्भराजः कृताऽनेन सर्वेषामुचिता प्रतिपत्तिः पुनर्मीलिता परिषत् प्रवृत्तो महानन्दः,

ततः क्षणेन तादृक्षं, दृष्टाऽत्यद्भुतमुत्तमम् । मुग्धा सुललिताऽत्यन्तं, जाता चित्ते चमत्कृता ॥५७९॥
संजातः पौण्डरीकोऽपि, सतोषो विस्मितेक्षणः । दृष्ट्वा तत्तादृशं साक्षादनुसुन्दरचेष्टितम् ॥५८०॥

[सुललिताप्रतिबोधप्रयास]

अथ विज्ञापनापूर्वमनुसुन्दरभूभुजा । उत्साहिते तदा सूरौ, प्रव्रज्यां दातुमुद्यते ॥५८१॥
सोऽनुसुन्दरराजेन्द्रः, करुणागतचेतनः । तां राजपुत्रीं भूयोऽपि, प्रत्युवाच ससंभ्रमम् ॥५८२॥

कथम् ?—भद्रे सुललिते ! बोधस्तवाद्यापि न मानसे । संजातो वर्तसे मुग्धे ! तेनैवं चकितेक्षणा ॥५८३॥
दोलायमानचित्ता त्वमीषद्भावार्थकोविदा । संजाता साम्प्रतं किं नु, वेत्सि नो तत्त्वनिर्णयम् ? ॥५८४॥
त्वद्बोधार्थं मया ह्येवं, गाढनिर्वेदकारकः । भवप्रपञ्चो निःशेषः, स्वकीयः परिकीर्तितः ॥५८५॥
तदनेन श्रुतेनेत्थं, किं ते नाद्यापि जायते ! । अनन्तदुःखविस्तारे, निर्वेदो भवचारके ॥५८६॥
किं च-यत्ते पुरोपमानेन, स्वजीवस्य विडम्बनम् । मयाऽसंव्यवहारेषु, जीवेषु प्रतिपादितम् ॥५८७॥
तत्किं नो लक्षितं मुग्धे ! किं वा नो भावितं हृदि ? । भवत्या येन निर्व्यग्रा, संसारे कुरुषे रतिम् ॥५८८॥ युग्मम् ।
एकेन्द्रियादिभेदेषु, यच्च तिर्यक्षु तिष्ठता । अनुभूतं मया दुःखं, स्फुटं च तव कीर्तितम् ॥५८९॥
न बुद्धस्तस्य भावार्थः, किं त्वयाऽद्यापि मानसे ? । एवं निराकुला मुग्धे ! येनाद्यापि विलम्बसे ॥५९०॥ युग्मम् ।
मोक्षसाधनयोग्येऽपि, लब्धे मानुष्यकेऽतुले । हिंसाक्रोधातुरो यां च, प्राप्तोऽहं दुःखमालिकाम् ॥५९१॥
सा किं विभाविता बाले ! सभावार्था हृदि त्वया ? । किं वा कथानिकामात्रं, भवत्या परिचिन्तितम् ॥५९२॥
युग्मम् । तथा मानमृषावादस्तेयमायापरायणः । लोभमैथुनदोषान्धो, यदहं प्रविडम्बितः ॥५९३॥
तदप्याकर्ण्य ते मुग्धे ! यदि नो द्रावितं मनः । कालदष्टं ततो मन्ये, हन्त तद्वज्रनिर्मितम् ॥५९४॥ युग्मम् ।
तथा—अनर्थमार्थहेतू तौ, महामोहपरिग्रहौ । मया निवेदितौ श्रुत्वा, सर्वदोषसमाश्रयौ ॥५९५॥
यत्तदैव न बुद्धाऽसि, स्थिता त्वं विस्मितेक्षणा । तेनागृहीतसङ्केता, मया प्रोक्ता पुनः पुनः ॥५९६ । युग्मम् ।
किं च-बाले जडे तथा मन्दे, अधमे बालिशेऽपि । यः प्रोक्तः स्पर्शनादीनामिन्द्रियाणां सुदारुणः ॥५९७॥
विपाकः सोऽपि चेदत्र, भवत्या नावधारितः । अवैधिका ततो मन्ये, काष्ठभूताऽसि सुन्दरि ! ॥५९८॥ युग्मम् ।
तथा—यत्तन्मनीषिणो वृत्तं, यच्च वैचक्षणं वचः । या देशना बुधस्योच्चैर्यच्चोत्तमविचेष्टितम् ॥५९९॥
यच्च कोविदविज्ञानमिन्द्रियाणां निबर्हणे । तदाकलय्य को नाम, संसारान्न विरज्यते ? ॥६००॥ युग्मम् ।
अन्यच्च-अरिदमनभूपमं यत्ते, मया मुग्धे ! निवेदितम् । चित्तवृत्तिस्थितं साक्षादन्तरङ्गबलद्वयम् ॥६०१॥
तस्याप्याकर्ण्य वृत्तान्तं, यदि न प्रतिबुध्यसे । तव बोधे विधातव्ये, नास्त्युपायस्ततोऽपरः ॥६०२ ।
तथा—तदाकलय्य तादृक्षं, वृत्तं कानकशेखरम् । तच्च तादृशमालोच्य, सौजन्यं नारवाहनम् ॥६०३॥
विमलं मलहीनस्य, निर्मलस्य च चेष्टितम् । त्यागं हरिनरेन्द्रस्य संचिन्त्य कृतविस्मयम् ॥६०४॥
विवेकमकलङ्कस्य, ममाकर्ण्य च तादृशम् । मुनीनां भूरिरूपं च, श्रुत्वा वैराग्यकारणम् ॥६०५॥
तथापि यदि ते चित्तं, बालिके ! न विरञ्जितम् । हन्त काङ्कडुकप्राया, ततस्त्वं नात्र संशयः ॥६०६॥
चतुर्भिः कलापकम् ।
ततोऽगृहीतसङ्केतेत्युच्यमाना मुहुर्मुहुः । मादृशाऽन्येन वा मुग्धे ! न रोषं गन्तुमर्हसि ॥६०७॥

[पूर्वभवस्मृतिप्रबोधनोपाय]

तथा-किं न स्मरसि तद्बाले ! यत्त्वं मदनमञ्जरी । सती सती ममानीता, तथा पुण्योदयादिभिः ॥६०८॥
तत्सुखं तादृशः स्नेहस्तेः विलासा मनोहराः । तद्राज्यं ते च वृत्तान्ताः, सर्वं किं विस्मृतं तव ! ।६०९॥
कन्दसाधुं समासाद्य, प्रबुद्धा जिनशासने । समं कुलंधरेणोच्चैर्यत्तदा तन्न बुध्यसे ॥६१०॥
यमाख्यन्निर्मलाचार्यः, केवलालोकभास्करः । भवप्रपञ्चं मेऽनन्तं, समक्षं ते स्फुटाक्षरैः ॥६११॥

किं न बुद्धस्त्वया सोऽयं, किं वा नैवावधारितः । येनैवं कीर्त्यमानेऽपि, तत्र शून्येव तिष्ठसि ? ॥६१२॥
विन्यासेनामुना बाले ! तव बोधविधित्सया । मया संसारविस्तारः, स एव प्रतिपादितः ॥६१३॥
यथा मे पथिकस्येव, सर्वेऽमी वासकोपमाः । एकरूपस्य भूयांसः, संपन्ना विविधा भवाः ॥६१४॥
ततः संसारिजीवोऽहमेकरूपोऽपि भावतः । संसारे नाटकाकारे, नानाकारैर्विनाटितः ॥६१५॥
तदेनमपि चेच्छ्रुत्वा, निर्वेदस्ते न जायते । संसारचारकात्तस्मात्ततः किं करवामहै ? ॥६१६॥
किं च—नगराण्यन्तरङ्गाणि, यानि ये तेषु सूचिताः । राजानस्तन्महादेव्यस्तासां या दश कन्यकाः ॥६१७॥
प्रत्येकं तद्गुणा, दिव्या, विवाहः स च तादृशः । तत्राष्टौ मातरो याश्च, व्युत्पत्त्यर्थं निवेदिताः ॥६१८॥
तदिदं सर्वमाकर्ण्य, न बुद्धा यदि बालिके ! । हन्त पाषाणभूतायास्ततस्ते किं निवेद्यताम् ? ॥६१९॥
त्रिभिर्विशेषकम् ।

तथा—किं न स्मरसि तन्मुग्धे ! यन्मयि स्नेहतत्परा । प्रव्रज्यां प्रतिपन्नाऽसि, निर्मलाचार्यसन्निधौ ॥६२०॥
कृत्वा तपस्ततः स्वर्गे, प्राप्ताऽसि सुखमालिकाम् । भवचक्रे पुनर्भ्रान्त्वा, पुनरत्र समागता ॥६२१॥
किं च—संवेगार्थं यदाख्यातं, सम्यग्दर्शनदूषणीम् । आशातनां तथा कृत्वा, जिनादीनां सुदुःखितः ॥६२२॥
उपार्धपुद्गलावर्तं, यथाऽहमटितो भवे । एतावन्तं पुनः कालं, किं त्वया तन्न वीक्षितम् ? ॥६२३॥ युग्मम् ।
तथा—चतुर्दशापि विज्ञाय, पूर्वाणि यदहं गतः । भूयोऽप्यनन्तकायादौ, मदगोचरदोषतः ॥६२४॥
तदप्याकर्ण्य संजाता, किं न चित्ते चमत्कृतिः ? । तावकेऽद्यापि येनेत्थं, निःसंवेगेव लक्ष्यसे ॥६२५॥युग्मम् ।
अवेहि सूक्ष्मबोधेन, पूर्वं तन्मामकं वचः । विचारय निजे चित्ते, सभावार्थं पुनः पुनः ॥६२६॥
मा मुह्य सारं बुध्यस्व, मा विलम्बस्व बालिके ! । येन संपद्यते सर्वः, सफलो मे परिश्रमः ॥६२७॥

[पौण्डरीकजातिस्मरणम्]

एवं च वदति तत्रानुसुन्दरराजे समागतमूर्छोऽसौ निपतितः पौण्डरीकः, किमेतदिति संजाता ससंभ्रमा परिषत्, समाकुलीभूतः श्रीगर्भराजः, हा पुत्र किमिदं किमिदमिति वदन्ती तरलिता कमलिनी समाश्वासितोऽसौ वायुदानेन, ततः प्रोत्फुल्ललोचनः स पितरं प्रत्याह—तातानेनानुसुन्दरराजेन वैक्रियं तस्कररूपं धारयताऽत्यन्तविरुद्धमिवात्मभ्रमणमाख्यातं तवागमनात्पूर्वमासीत्, ततो ममाबुध्यमानस्य संजातस्तदा विकल्पः यथाऽनया प्रज्ञाविशालया महाभद्रया भगवत्या सार्धं विचार्येदं सभावार्थं भोत्स्ये, यावताऽधुनेमां सुललितामनुशिष्यमाणामाकर्णयतो मे संजातः कश्चिदनाख्येयः प्रमोदः तद्वशेन संपन्नेयं चैतन्यनिःसहता ततः प्रादुर्भूतं मे जातिस्मरणं भूतपूर्वोऽहमस्य कुलंधरो नाम वयस्यकः श्रुतो मया तदा निर्मलसूरिणा निवेद्यमानोऽस्य भवप्रपञ्चः ततः स एवायमनेनेत्थमाख्यात इति त्रुटितो मेऽधुना सन्देह इति, विरक्तं च मे भवचारकाच्चित्तं ततोऽनुजानीत यूयं येनाहमनेनैव सह दीक्षां गृह्णामीति, तदाकर्ण्य प्ररुदिता कमलिनी, श्रीगर्भराजेनोक्तं—देवि ! मा रोदीः, यतः—

स्वप्नसूचित एवायं, पौण्डरीको नरोत्तमः । जातस्ते भावुकोऽवश्यं, शुद्धधर्मप्रसाधकः ॥६२८॥
तन्नास्य धारणं युक्तमावयोः किं तु युज्यते । अनुव्रजनमेवास्य, निर्मिथ्यस्नेहसूचकम् ॥६२९॥

तथाहि—बालश्चेत्कुरुते धर्ममेष भोगसुखोचितः । ततः किं युज्यते स्थातुमावयोर्भवचारके ? ॥६३०॥
ततः कमलिनी प्राह, हर्षगद्गदया गिरा । चारु चारु महाराज ! प्रतिभातमिदं मम ॥६३१॥

[अबोधात् सुललितायाः खेदः]

ततोऽनुज्ञाय तं पुत्रं, यावत्तौ कृतनिश्चयौ । प्रव्रज्याग्रहणे जातौ, स्वयं देवीनरेश्वरौ ॥६३२॥
तावत्तैर्द्राविताप्यर्थमनुसुन्दरभाषितैः । ससंभ्रमा च तद्वीक्ष्य, पौण्डरीकादिचेष्टितम् ॥६३३॥
तामुद्दिश्य महाभद्रां प्रबद्धाञ्जलिबन्धुरा । सा राजपुत्री सवेगात्सानुक्रोशमवोचत ॥६३४॥ त्रिभिर्विशेषकं ।

निवेदय महाभागे ! किं मया पापया कृतम् । पुरा दुश्चरितं येन, जाताऽहमियमीदृशी ? ॥६३५॥
विज्ञातसर्वभावार्थो, धन्योऽयं राजदारकः । संजातः क्षणमात्रेण, प्रसङ्गश्रवणादपि ॥६३६॥
मह्यं पुनरयं साक्षान्मामेवोद्दिश्य सादरम् । एवं निवेदयत्युच्चैर्महाभागः सविस्तरम् ॥६३७॥
तथापि मन्दभाग्याऽहं, बोद्धुकामापि चेतसा । स्फुटं वचनभावार्थं, न बुध्ये पशुसन्निभा ॥६३८॥ अन्यच्च—
एषामेष परिच्छेदः, संजातो ज्ञानपूर्वकः । त्रयाणामपि धन्यानामनुसुन्दरवाक्यतः ॥६३९॥
अहं पुनर्न जानेऽत्र, किं करोम्यन्धकल्पिका ? । शून्या ग्रामेयकाकारा, स्पष्टसद्बोधवर्जिता ॥६४०॥
तदिदं मे महाभागे ! स्वयं बुद्ध्वा सदागमम् । पृष्ट्वा कथय निःशेषं, कस्य पापस्य जृम्भितम् ? ॥६४१॥
ततस्तां तादृशीं वीक्ष्य, बाष्पप्लुतविलोचनाम् । राजपुत्रीं कृपावेशादब्रवीदनुसुन्दरः ॥६४२॥

[श्रुताशातनातो बोधिदुर्लभता]

उक्तं च तेन यथा—मुग्धे ! सुललिते यदि तवास्ति स्वदुश्चरितजिज्ञासा ततोऽहमेव तत्ते निवेदयामि अलं भगवत्याऽत्र प्रयोजने प्रयासितया, सुललितयोक्तं—अनुग्रहो मे, निवेदयत्वार्यः, अनुसुन्दरेणोक्तं—अस्ति तावद् गुणधारणेन सता मया सार्धं मदनमञ्जरी सती संजातवैराग्या प्रव्रजिताऽसि त्व अभ्यस्तः क्रियाकलापः कृतानि भूरितपश्चरणानि, केवलं प्रवृत्ता तदा ते दुर्बुद्धिः—यदुत यदत्र कर्तव्यं तदेव क्रियतां किमनेन बहुना रोलेन ? ततो न सुखायितस्ते स्वाध्यायकोलाहलः न रुचिता वाचना न प्रतिभाता प्रच्छना नाभिमता परावर्तना नानुष्ठिता त्वयाऽनुप्रेक्षा नानुशीलिता धर्मदेशना, किं तर्हि ?, प्रतिभासिता ते प्रचला अभीष्टा स्वाध्यायोद्वेगेन मौनव्रतचारिता न च संजातस्तत्र तीव्रोऽभिनिवेशः यतो न विहिता ज्ञानवतां प्रत्यनीकता न कृतमान्तरायिकं न जनितस्तदुपघातः नाचरितस्तत्प्रद्वेषः नासेवितस्तन्निह्नवः न संपादिता महाशातना, किं तु तया कुबुद्ध्या तेन ज्ञानशैथिल्येन तया च प्रमादपरतया कृता भवत्या लघीयसी श्रुताशातना, ततः समुपार्जितमिदमीदृशं कर्म यत्प्रभावादसङ्ख्येयकालं भ्रान्ताऽसि भवचक्रके जाताऽसि चैवंविधा त्वं जडबुद्धिरिति ।

किं च—सुललिते ! पूर्वभवाभ्यासादेव प्रायशः ! प्राणिनां भूयांसोऽनुवर्तन्ते भावाः, तथाहि—यथा तदा त्वं मदनमञ्जरी सती पुरुषद्वेषिणी संजाता तथेहापि, अत एव सखीभिर्ब्रह्मचर्यनिरततया ब्राह्मणी त्वमाकारिता, तत्किं मिलत्येष ते प्रत्ययः ? सुललितयोक्तं—'आर्य ! किं चात्र भवद्वचने न मिलति ? केवलमहमत्र मन्दभाग्या यैवमपि कथ्यमाने भास्करोदये कौशिकवत्तमःपूरितैव तिष्ठामी'ति वदन्ती

[सदागमशरणाङ्गीकारः]

स्थूलमुक्ताफलनिकरमिव नयनसलिलबिन्दुवर्षं मोक्तुं प्रवृत्ता, ततोऽभिहिता साऽनुसुन्दरराजेन--राजपुत्रि ! मुञ्च विषादं क्षीणप्रायं तेऽधुना तत्कर्म कुरुष्व सदागमे भगवति भक्तिं गच्छेमं शरणं, एतदाराधनमूलं हि देहिनां तत्त्वज्ञानं, अयमेव अज्ञानतमोदलने भास्करभूतो भगवान्, धन्यासि त्वं याऽस्य पादमूलं प्राप्ता, ततोऽमीभिर्वचनैः पवनैरिव संधुक्षिततीव्रसंवेगानला सा सुललिता सदागमोऽयमितिबुद्ध्या पतिता भगवत्सम-न्तभद्रसूरिचरणयोः, अभिहितं च--

अज्ञानपङ्कमग्नाया, जगन्नाथ सदागम ! । त्वमेव मन्दभाग्याया, ममोत्तारणवत्सलः ॥६४३॥
शरणं त्वं महाभाग ! त्वं स्वामी त्वं च मे पिता । तदेष विमलो नाथ ! क्रियतां किङ्करो जनः ॥६४४॥

[सुललितायाः जातिस्मरणं]

ततो महाप्रभावतया सदागमबहुमानस्य गुरुतया संवेगस्य सरलतया हृदयस्य कल्याणहेतुतया भगवत्सन्निधानस्य प्रत्यासन्नतया मोक्षस्य विघटितं भूरि कर्मजालं, पादपतिताया एव संजातं जातिस्मरणं, दृष्टः साक्षादिव मदनमञ्जर्यादिको वृत्तान्तः, ततः समुल्लसितः प्रमोदः, समुत्थाय च निपतितानुसुन्दर-चरणयोः, तेनोक्तं-सुललिते ! किमेतत् ? सा प्राह-यद्भगवतः प्रसादाद्भवति तत्संपन्नमधुना मे, यतः संजातं जातिस्मरणं संपन्नस्तावकवचननिर्णयः विरतं संसारचारकाच्चित्तं, तदनुगृहीताऽहं मन्दभाग्या भगवता भवता च, अनुसुन्दरेणोक्तं--आर्ये ! स्वभक्तमनुगृह्णात्येवायं भगवान् ! नास्त्यत्र सन्देहः, तथाहि—

अहं भगवताऽनेन, नरकं प्रति- गामुकः । भावचौर्येण बद्धोऽपि, साक्षादेवं विमोचितः ॥६४५॥
पापिष्ठा अपि ये सत्त्वाः, समासाद्य सदागमम् । एनं भक्तिं प्रकुर्वन्ति, मुच्यन्ते ते न संशयः ॥६४६॥ अन्यच्च—
कृच्छ्रेण किल बुद्धाऽहं, मन्दभाग्येति चिन्तया । न चावभावना कार्या, त्वया भद्रे ! स्वगोचरे ॥६४७॥
यतोऽहमपि तैः पूर्वमकलङ्कादिभिस्तदा । न बोधितो यदाऽऽसीन्मे, प्रबलं भूरिपातकम् ॥६४८॥
स्वयोग्यतां पुनः प्राप्य, विलीने पापकर्मणि । त्वत्तः कृच्छ्रतरेणाहं, प्रबुद्धो जैनशासने ॥६४९॥
यदा ह्यस्य विलीयेत, पापं कालादिहेतुभिः । जीवस्तदा प्रबुध्येत, गुरवः सहकारिणः ॥६५०॥

[सुललिताया बोधो दीक्षोद्यमश्च]

सुललितयोक्तं—आर्य ! सत्यमेवमिदं, विनष्टा मेऽधुना मनस्यवभावना, केवलं प्रतिपन्नं मया निजजननीजनकयोर्यथाऽननुज्ञातया प्रव्रज्यानामापि न ग्राह्यं, तत्कथं भविष्यति ! अनुसुन्दरेणोक्तं—आर्ये ! मा भैषीः समागतावेव ते जननीजनकौ । अत्रान्तरे समुल्लसितो बहलो बलकलकलः, स्तोकवेलायां च प्रविष्टस्तत्रैव मनोनन्दने जिनभवने सपरिकरो मगधसेनराजः सह सुमङ्गलया, ततः प्रणिपत्य जिनेश्वरमभिवन्द्य सूरिं साधुवर्गं च कृताभ्युत्थानप्रणामः सुललितया प्रणम्य चानुसुन्दरराजमुपविष्टस्तत्समीपे, सुमङ्गलापि विहितनिःशेषप्रतिपत्तिर्विधाय सुललितालिङ्गनमाघ्राय मूर्धदेशे उपविष्टा तदन्तिके, आनन्दभराद् गद्गदवागाह—वत्से ! समुत्सुकत्वेन, तव दर्शनलालसौ । आवां राज्यं परित्यज्य, त्वत्समीपमुपागतौ ॥६५१॥

जनकस्ते रतिं वत्से ! न प्राप्नोति त्वया विना । मन्दभाग्यस्तथा स्नेहादेष दन्दह्यते जनः ॥६५२॥
कठोरहृदयत्वेन निर्दयत्वेन वा पुनः । त्वया निरन्तरं वत्से ! दत्ता वार्ताऽपि नावयोः ॥६५३॥
सुललितयोक्तं—

अम्ब ! किं बहुनोक्तेन, मां प्रत्यद्य यथास्थितः । युवयोः स्नेहसद्भावो, नूनं व्यक्तीभविष्यति ॥६५४॥
यतः—अहं युष्मदनुज्ञाता, प्रव्रज्यां पारमेश्वरीम् । अधुनैव ग्रहीष्यामि, संसारोत्तारकारिणीम् ॥६५५॥
ततो यदि युवां मेऽद्य, वारणं न करिष्यथः । प्रव्रज्यां च मया सार्धं, निर्विकल्पं ग्रहीष्यथः ॥६५६॥
ततो मम तथामीषां, जनानामुपरि स्फुटम् । प्रतीतः स्नेहसद्भावो, यौष्माकीणो भविष्यति ॥६५७॥
त्रिभिर्विशेषकम् ।

[जननीजनकयोर्दीक्षाविमर्श]

एतच्चाकर्ण्य मगधसेननरेन्द्रः सुमङ्गलां प्रत्याह—देवि ! दत्तो वत्सयाऽऽवयोर्मुखबन्धः विहिताऽऽदित एव निरुत्तरता सुदृष्टपरमार्थेयमधुना वर्तते कथमन्यथेदृशो वचनविन्यासः ततो न भवत्येवेयमयुक्तकारिणी, साधु चोक्तमनया युक्तमेवावयोरनया सह प्रव्रजनं निर्मिथ्यस्नेहसारसूचकमिदं विशेषतः प्राप्तकालमावयोः। सुमङ्गलयोक्तं—यदाज्ञापयति देवः, ततो हृष्टा सुललिता पतिता महाप्रसाद इति वदन्ती द्वयोरपि चरणयोः, कथितश्चानया संक्षेपतस्तयोरनुसुन्दरादिवृत्तान्तः संजातः सुमङ्गलामगधसेनयोस्तं श्रुत्वा तोषातिरेकः प्रादुर्भूतो भावतोऽपि चरणपरिणामः याचितः सूरिः प्रव्रज्यां, उपबृंहितौ गुरुणा ।

ततः समुल्लसत्तोषप्रवृद्धदुत्सवसुन्दरम् । निपतद्देवसङ्घातमुद्योतितदिगन्तरम् ॥६५८॥
विलसत्तूर्यनिर्घोषसंक्षुब्धभुवनोदरम् । अनन्तभूरिविस्तारपूजासत्कारबन्धुरम् ॥६५९॥
दानसन्मानसद्गानविधानकरणोद्यतैः । भूरिभव्यैः समापूर्णं, मुनिवृन्दैश्च चारुभिः ॥६६०॥
तदाऽनुसुन्दरादीनां, सद्दीक्षाग्रहणक्षणे । क्षणमात्रेण संजातं, मनोनन्दनकाननम् ॥६६१॥ चतुर्भिः कलापकम्

[सर्वेषां दीक्षाङ्गीकारः]

ततो मगधसेनेन, श्रीगर्भेण च भूभुजा । स्वीयं पुरंदरायैव, राज्यं पाल्यतयाऽर्पितम् ॥६६२॥
ततो निर्वर्त्य निःशेषकर्तव्यं सूरिभिस्तदा । दीक्षितानि क्षणेनैव, सर्वाणि विधिपूर्वकम् ॥६६३॥
अथ संवेगवृद्ध्यर्थममृतास्वादसन्निभा । सद्धर्मदेशनाऽकारि, गुरुभिः कलया गिरा ॥६६२॥
तदन्ते ते समत्तोषाः, शेषलोकाः कथचन । यथायथं गताः स्थान, देवाश्च हृदि भाविताः ॥६६५॥
प्रहिताश्च महाभद्रासहिता गुरुभिस्तदा । साध्व्यः सर्वा निजस्थानमुपदिश्य यथोचितम् ॥६६६॥
अथादित्योऽपि तद्दृष्ट्वा, गुरोः श्रुत्वा च देशनाम् । शक्तोऽहं नेति मत्वेव, गतो द्वीपान्तरे तदा ॥६६७॥
कृतावश्यककर्तव्ये, स्वाध्यायध्यानतत्परे । ततः साधुगणे जाते, प्रदोपे चातिलङ्घिते ॥६६८॥
अत्यन्तपरितुष्टात्मा, कृतकृत्यतयाऽऽत्मनः । विविक्ते ध्यानमापन्नो, राजर्षिरनुसुन्दरः ॥६६९॥ युग्मम् ।

[एकदिवसदीक्षया सर्वार्थसिद्धिगति]

ततो विशुध्यमानाभिर्लेश्याभिः संप्राप्योपशमश्रेणीं संपन्नः क्रमेणासावुपशान्तमोहः, भगवदुपदेशाच्च विज्ञाय तस्मिन्नेव क्षणे तन्निर्याणकालं स्थिताः समाधिकारिणस्तदभ्यर्णे मुनयः, अत्रान्तरे समाप्तमायुष्कं, ततो विमुच्य देहपञ्जरं गतः सर्वार्थसिद्धिविमान, संजातस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमो महर्द्धिर्देवः, प्रभाते विज्ञाय तमनुसुन्दरमुनिव्यतिकरं मीलितश्चतुर्विधोऽपि श्रीश्रमणसङ्घः विधिना परित्यक्तं मुनिभिस्तच्छरीरं कृता नरामरैस्तत्पूजेति ।

अथ सद्धर्मदायीति ममासाविति चिन्तया । पूर्वाभ्यस्तदृढस्नेहतन्तुबद्धवशेन च ॥६७०॥
अनुसुन्दरवृत्तान्ते, संपन्ने त्वरया तया । चित्ते सुललिता साध्वी, किंचिच्छोकेन पीडिता ॥६७१॥
ततः शोकापनोदार्थं, तस्यास्ते वरसूरयः । सर्वेषामेव पुरतस्तेषामित्थं प्रभाषिता ॥६७२॥
आर्ये ! न शोचनीयोऽसौ, महात्मा नरसत्तमः । येनैकदिनमात्रेण, साधितं सत्प्रयोजनम् ॥६७३॥
यथा पापभरं कृत्वा, प्रवृत्तो नरकं प्रति । यदि गच्छेत्तथैवात्र, ततः शोच्यो भवेदधौ ॥६७४॥
यः पुनः प्राप्य सद्धर्मं, निर्धूय निजकल्मषम् । सर्वार्थसिद्धिं संप्राप्तो, नासौ शोकस्य गोचरः ॥६७५॥
शोचनीयः सतामिष्टो, नरः संयमदुर्बलः । स हि सर्वत्र संसारे, भ्रमेद्दुःखभरेरितः ॥६७६॥
न शोचनीयः स्निग्धेन, मृतः संयमवान् नरः । स हि संसारचक्रेऽपि, तिष्ठेदानन्दपूरितः ॥६७७॥
स एव च बिभेत्युच्चैर्मरणे समुपस्थिते । येन नाचरितो धर्मः, परलोकसुखावहः ॥६७८॥
सद्धर्मपथ्यपाथेयं, यस्त्वादाय प्रतीक्षते । मरणं तस्य तत्प्राप्तौ, न भीः किं तु महोत्सवः ॥६७९॥

ज्ञानदर्शनचारित्रतपोरूपाऽघनाशिनी ।
आराधना चतुःस्कन्धा यस्य स्यात्तस्य किं मृतम् ? ॥६८०॥

आनन्दोत्पादकास्तेऽत्र, भगवन्तो मुनीश्वराः । ये क्षालयित्वा पापौघं, मृताः पण्डितमृत्युना ॥६८१॥
इत्यार्येऽनार्यकार्येभ्यो, निवृत्तो योऽनुसुन्दरः । मृतः स शोचनीयस्ते, कथं सिद्धप्रयोजनः ? ॥६८२।

[भाविभवसूचा]

किं च--स्थितिक्षयात्ततश्च्युत्वा, पुष्करार्धस्य भारते । आयोध्यायां स गान्धारराजसूनुर्भविष्यति ।।६८३॥
नाम्ना चामृतसारोऽसौ, पद्मिनीचित्तनन्दनः । भविष्यति लसद्भूतिर्देववद्दिवि लालितः ॥६८४॥
क्रमेण यौवनं प्राप्तः, कलाकौशलकोविदः । विपुलाशयनामानमाचार्यं प्राप्य सुन्दरम् ॥६८५॥
संभाव्य पितरौ युक्त्या, स दीक्षां पारमेश्वरीम् । ग्रहीष्यति विशुद्धात्मा, चरिष्यति चिरं तपः ॥६८६॥
ततो निर्धूय निःशेषं, कर्मजालं समाधिना । भवप्रपञ्चं निर्मुच्य, यास्यत्येव शिवालये ॥६८७॥
एवं च स्थिते–सर्वथा स प्रमोदस्य, कारणं भव्यदेहिनाम् । आर्ये ! न शोकसन्तापकारणं स नरोत्तमः॥६८८॥
अत्रान्तरे प्रणम्याह, पौण्डरीकमहामुनिः । इदं निवेदितं नाथैर्वृत्तं भावि महात्मनः ॥६८९॥
सुन्दरेतरलोकानां, तेषामाकालभाविनाम् । चित्तवृत्तौ पुनस्तस्य, को वृत्तान्तो भविष्यति ? ॥६९०॥

[पुनरन्तरङ्गबलाविर्भाव.]

गुरुभिरुक्तं, आकर्णय—
गृहीतभावदीक्षस्य, त्यक्तसङ्गस्य तस्य भोः । साधोरमृतसारस्य, सतस्तत्र भवे पुनः ।६९१॥
क्षान्तिर्दया च ते भार्ये, मृदुतासत्यते च ते । ऋजुताचौरते ये च, ते ब्रह्मरतिमुक्तते ॥६९२॥
तथा—विद्यानिरीहते यच्च, स्थितं लीनतया पुरा । सैन्यं चारित्रधर्माद्यं, सर्वमाविर्भविष्यति ॥६९३॥
तथाऽन्याश्च धृतिश्रद्धामेधाविविदिषासुखाः । मैत्रीप्रमुदितोपेक्षाविज्ञप्तिकरुणादयः ॥६९४॥
तस्यान्तरङ्गसद्भार्याश्चित्तवृत्तौ महात्मनः । सुखसन्दोहदायिन्यो, भविष्यन्ति यथा पुरा॥६९५॥पञ्चभिः कुलकम् ।
ततस्तत्तादृशं राज्यमनन्ताह्लादसुन्दरम् । पालयन्निखिलानुच्चै रिपूनुन्मूलयिष्यति ॥६९६॥

एवं च स्थिते-आरूढः क्षपकश्रेण्यां, पुनरेष महाबलः । चतुरो घातिसंज्ञांस्तान् , सर्वथा चूर्णयिष्यति ॥६९७॥
संप्राप्य केवलालोकं, कृत्वा जगदनुग्रहम् । विधाय च समुद्‌घातं, सर्वयोगान्निरुध्य च ॥६९८।
अथ पर्यन्तकालेऽसौ, शैलेशीं प्राप्य सत्क्रियाम् । निःशेषं रिपुसङ्घातं, सर्वथा दलयिष्यति ॥६९९॥ युग्मम् ।
ततो विहितकृत्योऽसौ, संपूर्णो निजबान्धवैः । संप्राप्तो निर्वृतौ पुर्यां, भोक्ष्यते राज्यसत्फलम् ॥७००॥
अनन्तानन्दसंज्ञानवीर्यदर्शनपूरितः । निर्नष्टसकलाबाधः, सर्वकालं भविष्यति ॥७०१॥
इतश्च तेन सा त्यक्ता, कुभार्या भवितव्यता । महामोहबले क्षीणे, तदा शोकं करिष्यति ॥७०२॥ कथं ?--
दुर्बुद्धया बत जातैवमहं भग्नमनोरथा । महामोहादिसैन्ये या, संजाता पक्षपातिनी ॥७०३॥
समस्तमपि जानत्या, न विज्ञातमिदं मया । प्रसिद्धं निखिले लोके, यद्बालैरपि गीयते ॥७०४॥ किं तत्-
ध्रुवाणिः यः परित्यज्य, अध्रुवाणि निषेवते । ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव च ॥७०५॥
यद्वा ममापि को दोषो ? रूढेयमपि वर्तिनी । मुञ्चत्येव जनो ह्येष, समस्तः स्वप्रयोजने ॥७०६॥
एवं निश्चित्य सा शेषजनकार्यपरायणा । हित्वाऽत्रभावनां तूर्णीं, संस्थिता भवितव्यता ॥७०७॥
तदिदं ते समासेन, पौण्डरीकमुने ! मया । आनुसुन्दरमाख्यातमन्तरङ्गं विचेष्टितम् ॥७०८॥
एतच्चाकर्ण्य ते तुष्टाः, पौण्डरीकादिसाधवः । चित्ते सुललिता जाता, सर्वथा शोकवर्जिता ॥७०९॥
ततः सा चिन्तयामास, गाढं संविग्नमानसा । पूर्वाबोधमनुस्मृत्य, यथाऽहं गुरुकर्मिका ॥७१०॥
तदिदं मामकं नूनं, जीवरत्नं न शुध्यति । संवेगानिलसारेण, विना तीव्रतपोऽग्निना ॥७११॥
एवं विचिन्त्य सा धन्या, सद्गुरुणामनुज्ञया । कष्टैस्तपोभिरात्मानं, निस्तताप कृतोद्यमा ॥७१२॥

[सुललिताललितं दुष्करं तप]

कथं ?-चतुर्थषष्ठदशमद्वादशादिविचित्रया । रराज रागनिर्मुक्ता, रत्नावल्या विराजिता ॥७१३॥
चित्रचर्यासुवर्णेन, निर्मिताऽस्याश्चतुर्लता । शरीरे संस्थिता रम्या, शुशुभे कनकावली ॥७१४॥
चतुर्थादितपःकर्मसन्मौक्तिकविशुद्धया । रुरुचे सा महाभागा, मुक्तावल्या विभूषिता ॥७१५॥
लघुभिश्च, महद्भिश्च, सिंहविक्रीडितैस्तथा । क्रीडानिवृत्तबुद्धयापि, क्रीडितं सिंहलीलया ॥७१६॥
तस्या भद्रामहाभद्रे, सर्वतोभद्रया सह । भद्रोत्तरा च प्रतिमा, चकार तनुभूषणम् ॥७१७॥
आचाम्लवर्धमानेन, वर्धमाना प्रतिक्षणम् । क्रियमाणेन सा जज्ञे, ज्ञानेन गतकल्मषा ॥७१८॥
चान्द्रायणं चरन्त्या च, निजं कुलनभस्तलम् । तयैवोद्द्योतितं मन्ये, चन्द्रलेखासमानया ॥७१९॥
आसेव्य यवमध्यानि, वज्रमध्यानि चानघा । साऽलं सुललिता जाता, निःस्पृहा भवचारके ॥७२०॥
तदेवमादिभिर्धन्या, तपोभिर्निजकल्मषम् । सा तदा लब्धसद्वीर्या, क्षालयन्ती व्यवस्थिता ॥७२१॥
इतश्च पौण्डरीकोऽपि, ज्ञानाभ्यासपरायणः । कालक्रमेण संपन्नो, गीतार्थो विजितेन्द्रियः ॥७२२॥
ततोऽसावागमार्थस्य, सर्वसारं सुनिर्मलम् । जिज्ञासुर्विनयेनेत्थं, गुरुं पप्रच्छ भावतः ॥७२३॥

[द्वादशाङ्गीसार ध्यानयोग]

भदन्त ! द्वादशाङ्गस्य, विस्तीर्णस्योदधेरिव । भगवद्भाषितस्यास्य, किं सारमिति कथ्यताम् ॥७२४॥
समन्तभद्रगुरुभिस्ततः प्रोक्तमिदं वचः । आर्य ! सारोऽत्र विज्ञेयो, ध्यानयोगः सुनिर्मलः ॥७२५॥
यतः-मूलोत्तरगुणाः सर्वे, सर्वा चेयं बहिष्क्रिया । मुनीनां श्रावकाणां च, ध्यानयोगार्थमीरिता ॥७२६॥

तथाहि–मनःप्रसादः साध्योऽत्र, मुक्त्यर्थं ज्ञानसिद्धये । अहिंसादिविशुद्धेन, सोऽनुष्ठानेन साध्यते ॥७२७॥
अतः सर्वमनुष्ठानं, चेतःशुद्ध्यर्थमिष्यते । विशुद्धं च यदेकाग्रं, चित्तं तद्ध्यानमुत्तमम् ॥७२८॥
तस्मात्सर्वस्य सारोऽस्य, द्वादशाङ्गस्य सुन्दर ! । ध्यानयोगः परं शुद्धः, स हि साध्यो मुमुक्षुणा ॥७२९॥
शेषानुष्ठानमप्येवं, यत्तदङ्गतया स्थितम् । मूलोत्तरगुणाढ्यं तत्सर्वं सारमुदाहृतम् ॥७३०॥
अथाकर्ण्य गुरोर्वाक्यं, पौण्डरीकमहामुनिः । पुनः प्रोवाच शान्तात्मा, ललाटे कृतकुड्मलः ॥७३१॥
भदन्त ! बालकालेऽपि, ममासीदतिकौतुकम् । मोक्षमार्गे ततः पृष्टा, मया भूरिकुतीर्थिकाः ॥७३२॥
यथा भो भो महाभागाः ! किं तत्त्वं परं मतम् । निःश्रेयसकरं सारं, रहस्यं परमाक्षरम् ? ॥७३३॥
ततो यथायथं सर्वैर्मतमाश्रित्य तैर्मम । निवेदितं परं तत्त्वं, तीर्थिकैस्तच्च कीदृशम् ? ॥७३४॥

[कुतीर्थिकनिवेदिततत्त्वाभासाः]

(१) एके प्राहुर्यथा सर्वं, हिंसादि क्रियतामिति । केवलं बुद्धिलेपोऽत्र, रक्षणीयो मुमुक्षुणा ॥७३५॥
यतः--यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिदं जगत् । आकाशमिव पङ्केन, नासौ पापेन लिप्यते ॥७३६॥
(२) अन्ये प्राहुर्यथा सर्वं, पापं कृत्वा हि मानवाः । मुच्यन्ते क्षणमात्रेण, ये स्मरन्ति महेश्वरम् ॥७३७॥
यतः–छित्त्वा भित्त्वा च भूतानि, कृत्वा पापशतानि च । स्मरन् देवं विरूपाक्षं, सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥७३८॥
(३) अन्यैस्तु पापशुद्ध्यर्थं, विष्णुध्यानमुदाहृतम् । तद्ध्यशेषमलक्षालि, यतः प्रोक्तमिदं वचः ।७३९॥
अपवित्रः पवित्रो वा, सर्वावस्थां गतोऽपि वा । यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥७४०॥
(४-५) अन्ये पापाशनं मन्त्रं, प्राहुः पापनिबर्हणम् । अन्ये वायुजयं प्राज्ञाः, प्राहुर्मोक्षस्य साधनम् ॥७४१ ।
(६) ध्यानेनोद्वर्तते यत्तत्पौण्डरीकं हृदि स्थितम् । विघाटितदलं रम्यं, मनोऽलिसुखदं परम् ॥७४२॥
तद्द्वारेण निलीयेत, मनोऽलिः परमे पदे । तस्य यो लक्ष्यते नादस्तत्तत्त्वमपरे जगुः ॥७४३॥ युग्मम् ।
(७) तथाऽन्ये पूरकं प्राहुः, कुम्भकं रेचकं तथा । तस्यैव पुण्डरीकस्य, पवनं प्रविघाटकम् ।७४४॥
(८) अन्ये प्राहुः पुनर्बिन्दुं, कुन्देन्दुस्फटिकप्रभम् । तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव, सर्पन्तं ज्ञानकारणम् ॥७४५॥
(९) अन्ये परां शिखां प्राहुरूर्ध्वाधो व्यापिकां किल । परमाक्षरमात्रा सा, सैवामृतकलोच्यते ॥७४६॥
(१०) नासाग्रे भ्रूलतामध्ये, बिन्दुं देवमथापरे । तुषारहारधवलं, ध्येयमाहुश्चलस्थिरम् ॥७४७॥
आग्नेयमण्डले स स्यान्मीलिते रक्तवर्णकः । माहेन्द्रे पीतकः कृष्णो, वायव्ये वारुणे सितः ॥७४८॥
तत्र–पीतः सुन्दरचित्तेन, रक्तस्तापेषु चिन्त्यते । कृष्णोऽभिचारिके कार्ये, पुष्टिदो धवलो मतः ॥७४९॥
(११)अन्येऽप्याहुर्यथा शोध्यो, नाडीमार्गो मुमुक्षुणा । इडापिङ्गलयोर्ज्ञेयं, नाड्योः सञ्चारकर्म च ॥७५०॥
नाडीचक्रस्य विज्ञेयः, प्रचारो दक्षिणेतरः । तद्द्वारेण च मन्तव्यं, बहिः कालबलादिकम् ।७५१॥
(१२)पद्मासनं विधायोच्चैर्घण्टानादायत कलम् । ॐकारोच्चारणं प्राहुरपरे शान्तिदायकम् ।७५२॥ तथाऽन्ये--
प्राहुर्यथा(१३)-आ नाभेः सरलं प्राणं, बिसतन्तुसमं शनैः । मूर्धान्तस्तालुरन्ध्रेण, निर्गच्छन्तं विचिन्तयेत् ।७५३॥
(१४) आदित्यमण्डलस्थं वा, वक्षोराजीवसंस्थितम् । आद्यं पुमांसमपरे, तथा ध्येयतया विदुः ॥७५४॥
(१५) हृद्व्योम्नि संस्थित नित्यं, पुमांसं परम तथा । लसदंशुशताकीर्णं, ध्येयमाहुर्मनीषिणः ॥७५५॥
(१६-१७-१८)आकाशमात्रमपरे, विश्वमन्ये चराचरम् । आत्मस्थं चिन्त्यमित्याहुरपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।७५६॥

यथा नाथैर्ममाख्यातो, द्वादशाङ्गस्य सारकः । ध्यानयोगस्तथा तीर्थ्यैः, स एव प्रतिपादितः ॥७५७॥
तत्किं सर्वेऽपि ते तीर्थ्या, भवेयुर्मोक्षसाधकाः ? । ध्यानयोगबलेनैव, सारो यद्येष वर्तते ॥७५८॥
किं चेदं ध्येयनानात्वमपरापरयोगिनाम् । एकत्र मोक्षे मंसाध्ये ? बलवान्मम संशयः ॥७५९॥
तदेनमधुना नाथा ! रूढं सन्देहपादपम् । स्ववाक्यदन्तिसामर्थ्यादुन्मूलयितुमर्हथ ॥७६०॥ सूरिणोक्तं–
आर्य ! सामान्यगीतार्थस्त्वमेवं तेन भाषसे । विशेषतो न विज्ञातमैदम्पर्यं जिनागमे ॥७६१॥
एते हि तीर्थ्याः सर्वेऽपि, कूटवैद्यसमानकाः । जिनसद्वैद्यशास्त्रस्य, पल्लवग्राहिणो मताः ॥७६२॥

[कूटवैद्यशालाखोदन्त]

तथा चात्र कथानकं–एकस्मिन्नगरे भूरिरोगग्रस्तसमस्तलोके विद्यते कश्चिदेक एव महावैद्यः, स चोत्पन्नदिव्यज्ञानः स्रष्टा समस्तरोगसंहितानां नाशको निःशेषरोगाणामुपकारनिरतो लोकानां, तथापि ते लोका अधन्यतया न प्रतिपद्यन्ते तस्य वचनं, केचित्तु धन्यतमाः प्रतिपद्यन्ते । स चानवरतं विधत्ते स्वशिष्येभ्यो व्याख्यानं, तच्चोपश्रुत्या प्रसङ्गागतैरवधारितं स्वबुद्ध्या कियदप्यन्यधूर्तैः, ततस्ते तल्लवमात्रतुष्टाः स्वपूजार्थं वैद्यकमाचरितुमारब्धाः, तेषां तु लोकानामधन्यतयैव ते नितरां प्रतिभासन्ते । ततस्तैः पण्डितंमन्यतया विरचिता निजनिजसंहिताः ग्रथितानि कैश्चित्तान्युपश्रुत्याऽवधारितानि सद्वैद्यवचनान्यनुसरद्भिः कानिचित्तासां मध्ये वचनानि अन्यैः पुनरेकान्तविपरीतसद्वैद्यवचनानामतिपाण्डित्याभिमानेन संहिता विहिता, विविधरुचयश्च ते रोगिणो नागरकाः, ततस्तेषामपि कूटवैद्यानां मध्ये कश्चिदेव केषांचिच्चित्ते प्रतिभाति नापरः । ततः प्रसिद्धिं गताः सर्वेषां सम्बन्धिन्यो वैद्यशालाः, व्याख्याताः सर्वैर्विनेयेभ्यो निजनिजसंहिताः वाचालतया प्रसिद्धास्तेऽपि महावैद्यतया, अवधीरित इव भूरिलोकैरसौ मौलमहावैद्यः । एवं च स्थिते–

ये ते मौलमहावैद्यसत्क्रियां विधिपूर्वकम् । कुर्वन्ति रोगिणस्तावत्ते भवन्त्येव नीरुजः ॥७६३॥
किं च–तत्र जीवति सद्वैद्ये, रोगैर्मुक्ता यथा जनाः । तस्यां सुवैद्यशालायां, भूयांसो विहितक्रियाः ॥७६४॥
तथा मृतेऽपि सा शाला, सविनेया ससंहिता । संजाता सर्वलोकानां, रोगच्छेदविधायिनी ॥७६५॥ युग्मम् ।
ये पुनः कूटवैद्यानां, रोगिणो गोचरं गताः । तेषां ते रोगजालेन, नितरां परिपीडिताः ॥७६६॥
किं च–यथा जीवत्सु तच्छाला, लोकानामपकारिकाः । मृतेष्वपि तथा जाताः, सविनेयाः ससंहिता ॥७६७॥
यस्तु तास्वपि दृश्येत, वैद्यशालासु कश्चन । विशेषो रोगिणां हन्त, रोगतानवलक्षणः ॥७६८॥
सर्वरोगविमोक्षो वा, कथंचिद्दैवयोगतः । तासु स्थितानां शालासु, यदि जायेत देहिनाम् ॥७६९॥
सोऽपि तेषां गुणो नूनं, सर्वव्याधिनिबर्हिणाम् । यानि सद्वैद्यशास्त्रस्य, गृहीतानि पदानि तैः॥७७०॥ त्रिभिर्विशेषकम् ।
तथाहि–यैस्तानि न गृहीतानि, सर्वथा दुष्टबुद्धिभिः । एकान्तेनैव ते जाता, व्याधिवृद्धेर्विधायकाः ॥७७१॥
किं बहुना ?–सा महावैद्यशालैका, ज्ञेया रोगनिबर्हणी । तत्संहितानुसारेण, शेषा अपि कदाचन ॥७७२॥
यतः–वातः पित्तं कफश्चेति, सर्वरोगविधायकम् । दोषत्रयं विजानीते, सुवैद्यस्तस्य भेषजम् ॥७७३॥
कूटवैद्या न जानन्ति, स्वयं तत्त्वविरोधतः । तेभ्यो योऽपि विशेषः स्याद्धन्यानां रोगिणां क्वचित् ॥७७४॥
सोऽयं घुणाक्षरन्यायः, स्याद्दोषत्रयहानितः । तस्मात्स एव सद्वैद्यस्तत्र रोगचिकित्सकः ॥७७५॥ युग्मम् ।
तदिदं ते समासेन, मया वैद्यकथानकम् । पौण्डरीक ! समाख्यातं, सन्देहदलनं परम् ॥७७६॥

[वैद्यशालोपनयः]

भवोऽत्र नगरं ज्ञेयः, सर्वरोगप्रपीडितः । एकस्तत्र महावैद्यः, सर्वज्ञः परमेश्वरः ॥७७७॥
संजातकेवलज्ञानः, शिष्टसिद्धान्तसंहितः । सर्वलोकोपचारी च, कर्मरोगनिबर्हणः ॥७७८॥
तथापि गुरुकर्माणः, संसारोदरचारिणः । भूयांसो न प्रपद्यन्ते, जीवास्तं परमेश्वरम् ॥७७९॥
ये भव्या लघुकर्माणो, जीवा धन्यतमाः परम् । त एव तं प्रपद्यन्ते, सद्वैद्यं परमेश्वरम् ॥७८०॥
सदेवमनुजायां च, स सभायां यदाऽतुलम् । शिष्येभ्यो देशयत्युच्चैर्मोक्षमार्गं जगद्गुरुः ॥७८१॥
तदा देवा मनुष्याश्च, केचित्तां कलुषाशयाः । प्रसङ्गेनागतास्तत्र, शृण्वन्ति जिनदेशनाम् ॥७८२॥
अनेकनयगम्भीरां, तां श्रुत्वा मन्दबुद्धयः । अन्यथा कल्पयन्त्येते, मिथ्यात्वाध्मातचेतसः ॥७८३॥
ततस्ते जिनसद्वैद्यादुपश्रुत्य बहिर्गताः । स्वशास्त्राणि प्रकुर्वन्ति, कूटवैद्यसमानकाः ॥७८४॥ तत्र च–
ये तावदास्तिकाः केचित्तीर्थ्याः सांख्यादयो मताः । जिनवाक्यानुसारेण, तैर्ग्रन्थेषु कियन्त्यपि ॥७८५॥
कृतानि चारुवाक्यानि, शेषमभ्यूहितं स्वयम् । स्वपाण्डित्याभिमानेन, कूटवैद्यैरिवाखिलम् ॥७८६॥ युग्मम् ।
ततः सर्वज्ञसद्वाक्यभूषितानि महीतले । तच्छास्त्राण्यपि राजन्ते, प्रसिद्धिं प्रगतानि च ॥७८७॥
ये पुनर्नास्तिकाः पापा, बृहस्पतिसुतादयः । सर्वं तैर्जिनशास्त्रस्य, विपरीतं विकल्पितम् ॥७८८॥
तेऽपि वाचालतासारास्तथाविधजने गताः । प्रसिद्धिं तस्करस्येह, **प्रागल्भ्यं हि महत्तरम्** ॥७८९॥तथा–
नानारुचित्वाल्लोकानां, प्रतिभान्ति यथाशयम् । केषांचिदेव ते तीर्थ्याः, केचिदेव न चापरे॥७९०॥अन्यच्च–
कणभक्षाक्षपादाद्या, ये तीर्थ्याः शास्त्रकारिणः । तैस्तानि निजशास्त्राणि, शिष्येभ्यः कथितानि भोः ॥७९१॥
प्रवर्तितानि तीर्थानि, [1]शिष्टाऽनुष्ठानमालिका । तदिदं वैद्यशालानामुत्थानमभिधीयते ॥७९२॥एवं च स्थिते–
ये सर्वज्ञमहावैद्यशालायां कर्मरोगिणः । चिकित्सां कुर्वते धन्यास्ते भवन्त्येव नीरुजः ॥७९३॥
आस्तिकेषु च तीर्थ्येषु, कर्मरोगस्य तानवम् । यद्दृश्यते तथा सर्वमोक्षो वा श्रूयते क्वचित् ॥७९४॥
सोऽपि सर्वज्ञवाक्यानां, तेषामेव गुणो ननु । यानि तैर्निजशास्त्रेषु, ग्रथितानि कथंचन ॥७९५॥ युग्मम् ।
यद्वा जातिस्मरादीनां, तेषां सर्वज्ञभाषितम् । हृदि स्थितं भवत्येव, कर्मरोगनिबर्हणम् ॥७९६॥
यथा दोषत्रयं वैद्यः, शारीरञ्चिकित्सति । रागद्वेषमहामोहांस्तथा सर्वज्ञ एव हि ॥७९७॥
तस्मान्नास्त्येव सर्वज्ञवैद्यशास्त्रबहिःस्थिता । चिकित्सा कर्मरोगाणां, नूनमेतेन हेतुना ॥७९८॥ तथाहि–
एकान्तविपरीता ये, जैनशास्त्रस्य नास्तिकाः । एकान्तेनैव ते पापा, दीर्घसंसारकारकाः ॥७९९॥
तथापि क्लिष्टजन्तूनां, गृद्धानामर्थकामयोः । त एव प्रतिभान्त्युच्चैर्नास्तिकाः साम्प्रतेक्षिणाम् ॥८००॥

[सर्वज्ञदर्शनस्य व्यापकता]

तदेवमार्य ! शेषाणि, तीर्थानि जिनभाषितात् । विनिर्गतानि तेनेदं, व्यापकं जिनदर्शनम् ॥८०१॥
एवं च स्थिते–यद्रागद्वेषमोहानां, प्रतिपक्षतया स्थितम् । सत्यं भूतदया ब्रह्म, शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥८०२॥
औदार्यं सुन्दरं वीर्यमाकिञ्चन्यमलोभता । गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं, ध्यानमन्यच्च तादृशम् ॥८०३॥

(१) शिष्टा=उपदिष्टा ।

आस्तिकेष्वपि तीर्थेषु, तत्स्वरूपेण सुन्दरम्। किंतु नो राजते तेषु, यथायाचितभूषणम् ?॥८०४॥त्रिभिर्विशेषकम्।
तद्धि स्वकल्पितैः शेषैः, सर्वज्ञवचनातिगैः । यागहोमादिभिः सार्धं, मीलितं न विराजते ॥८०५॥
समस्तोपाधिशुद्धानां, गुणानां प्रतिपादकम् । तदेवं सर्वतीर्थेषु, स्थितं सर्वज्ञदर्शनम् ॥८०६॥
तच्च सद्भाविकं जैनं, तीर्थं सर्वगुणात्मकम् । सर्वत्र संस्थितं ज्ञेयं, न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥८०७॥
अतो मदुक्तमार्गेण, यथा ते तीर्थिकास्तथा । ध्यानयोगबलेनैव, किं स्युर्मोक्षस्य साधकाः ? ॥८०८॥ तत्र-

शुद्धानुष्ठानविकलं, ध्यानं यद्दुष्टशीलिनः ।
ध्यायन्ति तद्वचोमात्रं, नास्थाकारिविवेकिनाम् ॥८०९॥

यतोऽत्र तण्डुलस्येव, जीवस्य तुषसन्निभे । शुद्धे मले सदाचारध्यानाच्छोध्यस्तथेतरः ॥८१०॥

यः पुनर्मलिनारम्भी, बहिर्ध्यानपरो भवेत् ।
नासौ ध्यानाद्भवेच्छुद्धः, सतुषस्तण्डुलो यथा ॥८११॥ युग्मम्।

सर्वोपाधिविशुद्धेन, ततो जीवेन साध्यते । ध्यानयोगः परः श्रेष्ठो, यः स्यान्मोक्षस्य साधकः ॥८१२॥
यश्च स्याद्यादृशो जीवो, निर्मलात्मा कथंचन । स तीर्थिकोऽपि भावेन, वर्तते जिनशासने ॥८१३॥
तस्माज्जैनेन्द्रमेवैकं, शासनं भवनाशनम्। तीर्थिका अपि तत्रस्था, भवन्त्येव भवच्छिदः ॥८१४। किं बहुना ?--
वातपित्तकफानां भो, निःशेषगदकारिणाम् । शमादारोग्यजननं, यथा लोके सुभेषजम् ॥८१५॥
तत्कूटभिषजाऽपीह, प्रयुक्तं परमार्थतः । क्वचिद् घुणाक्षरन्यायाद्यथा सद्वैद्यसम्मतम् ॥८१६॥
तथा सर्वमनुष्ठानं, यद्भवेन्नाशकारणम् । सरागद्वेषमोहानां, चित्ताखिलमलात्मनाम् ॥८१७॥
तल्लोके सर्वतीर्थेषु, साक्षाज्जैनेऽपि वा मते। यथा तथा कृतं हन्त, ज्ञेयं सर्वज्ञसम्मतम् ॥८१८॥चतुर्भिः कलापकम्।
यत्पुनश्चित्तमालिन्यकारकं मोक्षवारकम् । यतिश्रावकरूपेण, कुर्युः कर्म प्रवादिनः ॥८१९॥
तज्जैनेन्द्रमताद् बाढं, बहिर्भूतं न संशयः । किं पुनर्लोकतीर्थानां, कर्तव्यं बहुदोषलम् ? ॥८२०॥ युग्मम्।
तदिदं भावसत्तीर्थमवतीर्य तरन्ति भोः ! । संसारसागरं जीवाः, पर्याप्तं वेषचिन्तया ॥८२१॥

[ध्येयनानात्वस्य परमार्थः]

यच्च ते ध्येयनानात्वमत्र सन्देहकारणम् । समाकर्णय तत्रापि, परमार्थो निवेद्यते ॥८२२॥
पापं हि दुष्टकल्लोलैः, पुण्यं गृह्णाति सुन्दरैः । चित्तैरात्मा तथोभाभ्यामौदासीन्येन मुच्यते ॥८२३॥
स्वभाव एष जीवस्य, यत्तथापरिणामभाग् । बध्यते पुण्यपापाभ्यां, माध्यस्थात्तु विमुच्यते ॥८२४॥
ते च हिंसाद्यनुष्ठानाद्, भ्रमकालुष्यकारकात्। जायन्ते चित्तकल्लोला, यथाऽपथ्याद्गदास्तनौ ॥८२५॥
तथाऽहिंसाद्यनुष्ठानात्, स्थैर्यनैर्मल्यकारकात्। जायन्ते शुभकल्लोलाः, पथ्यादिव सुखासिकाः ॥८२६॥
चित्तजालोपसंहारि, यत्पुनर्ध्यानमीदृशम् । औदासीन्यं मतं तद्धि, निर्जरामात्रकारणम् ॥८२७॥
तदत्र तन्निरोद्धव्यं, चित्तजालं मुमुक्षुणा । तच्च नानाविधोपायै रागद्वेषादिसूदनैः ॥८२८॥
ततो यस्तीर्थिकैः प्रोक्तो, यः प्रोक्तो जिनशासने। भावतीर्थे स्थितः सोऽयं, ध्येयभावो न दुष्यति॥८२९॥यतः-
बहिर्विशुद्धकर्तव्याः, साधयन्ति मुमुक्षवः । मोक्षं नानाविधैर्ध्येयैर्माध्यस्थ्यं तत्र कारणम् ॥८३०॥
किं तु-परमात्मादयो ध्येया, यथा संवेगकारिणः। जीवस्य चेतसोऽत्यर्थं, न हि बिन्द्वादयस्तथा ॥८३१॥
आलम्बनविशेषेण, चेतसः सुन्दरेतरम् । स्वरूपं जायते सिद्धं, स्वसंवेदनतो ह्यदः ॥८३२॥ किं तु--

नानारुचित्वाज्जीवानां, कस्यचित्स्यात्कथंचन । चेतःशुद्धिरतश्चित्रा, मौनीन्द्री मार्गदेशना ॥८३३॥
ततो विशुद्धचित्तानां, शुद्धमाध्यस्थ्यशालिनाम् । केषांचित्तेऽपि बिन्द्वाद्याः, स्युर्विशुद्धेर्विधायकाः ॥८३४॥

[अर्थकामनिरपेक्षा योगिन]

इतरथा--तत्त्वं विज्ञाय ये मूढाः, प्रवर्तन्तेऽर्थकामयोः । तद्बलेनैव निश्चिन्ता, योगिनोऽत्र वयं किल ॥८३५॥
तेषां ज्ञानमुलूकानां, यादृक् सूर्योदयेऽमले । कोटरान्तःप्रविष्टानां, तादृग् ज्ञेयं महात्मभिः ॥८३६॥ युग्मम् ।
ते ह्यज्ञानतमोलिप्ताः, सुदृष्टिप्रसरं विना । कौशिका इव लीयन्ते, नितरां भवकोटरे ॥८३७॥
योगे ज्ञानांशुदीप्ताङ्गे, परिस्फुरति भास्करे । हृदये हि कुतस्तिष्ठेदर्थकामस्पृहातमः ? ॥८३८॥
तस्मान्निर्मलचित्तानां, वैराग्याभ्यासलासिनाम् । चित्रमालम्बनं प्राप्य, माध्यस्थ्यं संप्रवर्तते ॥८३९॥
अतोऽमी ये पुरा प्रोक्ता, ध्येयभेदाः कुतीर्थिकैः । निष्यन्दबिन्दुभूतास्ते, स्युर्जैनमतवारिधेः ॥८४०॥
तत्कूटवैद्यशालावदन्यदर्शनमालिका । स्वरूपेण सदा ज्ञेया, कर्मरोगविवर्धनी ॥८४१॥
तत्रस्थानां पुनर्यः स्यात्कर्मरोगक्षयः क्वचित् । विशेषो वा स विज्ञेयः, सर्वज्ञवचनाद्गुणः ॥८४२॥
इयं सद्वैद्यशालावदाकालं तन्मतात्मिका । कर्मरोगहरी ज्ञेया, द्वादशाङ्गी सुसंहिता ॥८४३॥
यद्दोषोच्छेदनं लोके, किंचित्स्यात्सुन्दरं वचः । तद्गुणाकररूपायां, सर्वमस्यां प्रतिष्ठितम् ॥८४४॥
यत्पुनर्बुद्धिलेपेन, विना हिंसादि सुन्दरम् । समस्तपापनाशश्च, स्मृतिमात्रेण देवयोः ॥८४५॥
प्रोक्तमित्यादिकं पूर्वं, तीर्थ्यैस्तत्त्वबहिश्चरैः । निर्युक्तिकं वचोमात्रं, तत्तु हास्यं विवेकिनाम् ॥८४६॥ युग्मम् ।
ततश्चेदं गुरोर्वाक्यमाकर्ण्य पुनरब्रवीत् । पौण्डरीकमुनिस्तत्त्वविस्पष्टकरणेच्छया ॥८४७॥

[दर्शनेषु परस्पर विशेष]

यथा नाथ ! वयं ब्रूमो, व्यापकं जिनदर्शनम् । तथा तीर्थ्या यदि स्वीयं, ब्रूयुस्तत्र किमुत्तरम् ? ॥८४८॥
तथाहि निजया बुद्ध्या, सर्वे सर्वज्ञवादिनः । परतीर्थतिरस्काराः, स्वीयदर्शनगर्विताः ॥८४९॥
देवे धर्मे निजे तत्त्वे, मोक्षे चाविष्टबुद्धयः । तेऽन्यदर्शनमस्तीति, स्वप्नान्तेऽपि न जानते ॥८५०॥
एवं च स्थिते--
यथा ते दर्पितास्तीर्थ्या, दर्शनेन यथायथम् । तथा नाथ ! वयं स्वेन, को विशेषः परस्परम् ? ॥८५१॥
ततो विनिर्णयं नाथाः ! सुन्दरं कर्तुमर्हथ । मच्चित्तं जायते येन, सुमेरुशिखरोपमम् ॥८५२॥
ततो विमलसद्दन्तदीधितिच्छुरिताधरः । तन्निर्णयविधानाय, गुरुरित्थमभाषत ॥८५३॥
एतन्निवेदितं व्यापि, मया तत्सुविनिश्चितम् । यत्सम्यग्दृष्टिभिर्दृश्यं, भाविकं जैनदर्शनम् ॥८५४॥
तत्रोपलब्धे जीवानां, स्वयमेव मलोद्भवाः । एता हि विनिवर्तन्ते, मोहिन्यो भेदबुद्धयः ॥८५५॥

[देवस्वरूपम्]

एकः प्रभासते देवः, सर्वज्ञः सर्वदर्शनः । वीतरागो गतद्वेषो, महामोहादिसूदनः ॥८५६॥
सकलो भुवनभर्ताऽसौ, सशरीरो निगद्यते । निष्कलो मोक्षमापन्नः, स एव भुवनप्रभुः ॥८५७॥
इदं स्वरूपं निश्चित्य, यैः स देवोऽवधारितः । तेषां नानाविधाः शब्दा, भेदबुद्धिं न कुर्वते ॥८५८॥
तथाहि--स बुद्धः प्रोच्यतां लोके, ब्रह्मा विष्णुर्महेश्वरः । जिनेश्वरोऽपि वा हन्त, नार्थभेदस्तथापि च ॥८५९॥
य एवं तं परिज्ञाय, भजेत्तस्यैव स प्रभुः । ममास्ति तव नास्तीति, सर्वो मत्सरविभ्रमः ॥८६०॥

यस्यैव भावनोऽभीष्टस्तस्यासौ कुरुते शिवम् । न शृङ्गेण पानीयं, चण्डालस्यापि वार्यते ॥८६१॥
निःशेषक्लेशनिर्मुक्तः, स समः सर्वदेहिनाम् । विज्ञातः कुरुते मोक्षं, तातीया कस्य जाह्नवी ॥८६२॥
संसारिणां हि नानात्वमात्मनां कर्मनिर्मितम् । कर्मप्रपञ्चनिर्मुक्तः, परमात्मा न भिद्यते ॥८६३॥
स देवः परमात्माख्यः, शुद्धबोधप्रभावकः । अशरीरोऽप्यनन्तेन, वीर्येण भवमोचकः ॥८६४॥
विज्ञातो यैर्महाभागैः, प्रतिपन्नश्च भावतः । तेषां निर्णीतरूपाणां, विवादः कुत्र कारणे ? ॥८६५॥
केवलं-ये कल्पयन्ति तं मूढा, रागद्वेषमलाविलम् । ते ज्ञाततत्त्वरूपैस्तैर्वार्यन्ते करुणापरैः ॥८६६॥
तदेवं तात्त्विकस्तावद्देवस्तुभ्यं निवेदितः । यः प्रमाणप्रसिद्धत्वादेकः सर्वप्रवादिनाम् ॥८६७॥

[धर्मस्वरूप]

धर्मोऽप्येको जगत्यत्र, विज्ञेयः पारमार्थिकः । कल्याणमालिकाहेतुः, शुद्धः शुद्धगुणात्मकः ॥८६८॥
क्षमामार्दवसच्छौचतपःसंयममुक्तयः । सत्यब्रह्मार्जवत्यागा, एते धर्मगुणा दश ॥८६९॥
दशलक्षणकं धर्ममेनं विज्ञाय पण्डिताः । स्वर्गापवर्गदातारं, विवदन्ते न केनचित् ॥८७०॥
यस्त्वस्य वैपरीत्येन, कल्प्यते मूढमानवैः । धर्मस्तं वारयन्तीमे, करुणाऽऽक्रान्तबुद्धयः ॥८७१॥
तदेष धर्मः सर्वत्र, यः प्रमाणप्रतिष्ठितः । एकः स वर्णितस्तुभ्यं, पौण्डरीकमुने ! मया ॥८७२॥
तथाऽत्र मोक्षमार्गो यः, संगीतस्तत्त्वसंज्ञकः । सोऽप्येक एव विज्ञातः, पण्डितैः परमार्थतः ॥८७३॥तथाहि-
सत्त्वं कैश्चित्तदाख्यातं, लेश्याशुद्धिस्तथाऽपरैः । शक्तिस्तथाऽऽत्मनो वीर्यं, यल्लभ्यं योगिभिः परम् ।८७४॥
तदिदं शब्दभेदेन, भिद्यते नार्थतो ध्रुवम् । तथाऽस्याचरणेऽप्यत्र, ध्वनयो भेदिनः परम् ॥८७५॥

[मोक्षमार्गस्यैक्य]

यतः-'अदृष्टं कर्म संस्कारा, पुण्याऽपुण्ये शुभाशुभे । धर्माधर्मौ तथा पाशः, पर्यायास्तस्य कीर्तिताः ॥८७६॥
एतच्च सत्त्ववीर्यादिशब्दवाच्यं यदिष्यते । इदं स्वहानिवृद्धिभ्यां, कारणं भवमोक्षयोः ॥८७७॥
हीयमाने भवन्त्यस्मिन्, भवे सर्वा विपत्तयः । वर्धमाने पुनः सर्वाः संभवन्ति विभूतयः ॥८७८॥
इदमेव चतुष्कोटिविशुद्धमपरे विदुः । ऐश्वर्यज्ञानवैराग्यधर्मरूपास्तु कोटयः ॥८७९॥
रजस्तमोभ्यां तत्सत्त्वमावृतं न प्रकाशते । विपरीताच्च जायन्ते, तस्यैश्वर्यादयो गुणाः ॥८८०॥
तत्र-रजोवशाद्वैराग्यमनैश्वर्यं तमोवशात् । तमसश्चैव माहात्म्यादज्ञानाधर्मसम्भवः ॥८८१॥
यत्रैकं तत्र नियमाद्द्वितीयमपि विद्यते । रजस्तमोभ्यामेवं हि, भवितव्यं सदा सह ॥८८२॥
सर्वथा मलिनं सत्त्वं, हेतुः संसारदुःखयोः । तदेव विमलं वीर्यं, कारणं सुखमोक्षयोः ॥८८३॥
तल्लाभार्थमिमे सर्वे, तपोध्यानव्रतादयः । विचित्रा हेतवो लोके, तत्तत्त्वं पारमेश्वरम् ॥८८४॥
ज्ञानं तद्गोचरं यत्स्याच्छ्रद्धानं च तदाश्रयम् । क्रिया च वर्धनी तस्य, मोक्षमार्गः स कीर्तितः ॥८८५॥

---

(१) 'अदृष्ट' इति वैशेषिका, कर्म इति जैना, 'संस्कार' इति सौगता, 'पुण्याऽपुण्ये' इति वेदवादिन, 'शुभाशुभे' इति गणका., 'धर्माधर्मौ' इति सांख्या, 'पाश' इति शैवा. एवमेते तस्य=अदृष्टस्य पर्याया व्यञ्जनपर्याया कीर्त्तिताः, समानप्रवृत्तिनिमित्तकत्वघटितपर्यायत्व तु न सर्वत्रेति बोध्यम् । (यशोविजयटीकाविभूषितशास्त्रवार्त्ता-समुच्चयग्रन्थे श्लोकाङ्क १०७) ।

एतच्च तत्त्वं यैः सत्त्वैर्विज्ञातं शुद्धबुद्धिभिः । मेरुनिष्कम्पचित्तानां, तेषां भ्रान्तिः कुतस्त्यका ? ॥८८६॥
केवलं वारयन्तीमे, मूढलोकं कृपापराः । तत्त्वमार्गात्परिभ्रष्टं, यान्तमर्दवितर्दकम् ॥८८७॥
तदिदं ते समासेन, तत्त्वं साद्भाविकं मया । आख्यातं यद्विनिश्चित्य, घटन्ते चारुयोगिनः ॥८८८॥
इद चाविचलं लोके, यथैकं मानतः स्थितम् । तथा मोक्षोऽप्यनेनैकः, साध्यः प्रह्लादसुन्दरः ॥८८९॥
आत्मनोऽनन्तसद्बोधदर्शनानन्दवीर्यिणः । अमूर्तस्याऽत्रिरूपस्य, स्वरूपस्थितिलक्षणः ॥८९०॥
संसिद्धिर्निर्वृतिः शान्तिः, शिवमक्षयमव्ययम् । अमृतं ब्रह्म निर्वाणं, ध्वनयस्तस्य वाचकाः ॥८९१॥
समस्तमितिकर्तव्यं, लेश्याशुद्ध्यर्थमीरितम् । लेश्याशुद्धिस्तु मोक्षाय, स चैवंविधलक्षणः ॥८९२॥
तद्बुद्धितारतम्येन, यद्देवमनुजादिषु । अनुषङ्गात्सुखं तत्तु, हेयपक्षे प्रतिष्ठितम् ॥८९३॥

[*शास्त्रस्य सद्रूपता*]

तदेवंविधसद्देवधर्मतत्त्वनिवेदकम् । सच्छास्त्रमीदृशस्यैव, मोक्षस्य प्रतिपादकम् ॥८९४॥
दृष्टेष्टाव्याहतं सार्वं, प्रमाणेन प्रतिष्ठितम् । तदेकमिह सर्वत्र, व्यापकं परिकीर्तितम् ॥८९५॥ युग्मम् ।
अमुं च तस्य भावार्थं, परिज्ञाय विशेषतः । तन्त्रैर्विविधैः शब्दैर्यथेष्टमभिधीयते ॥८९६॥
वैष्णवं वा यदुच्येत, ब्राह्मणं वा निगद्यताम् । माहेश्वरं वा गीयेत, बौद्धं वाऽप्यभिधीयताम् ॥८९७॥
जैनेन्द्रं वा निवेद्येत, ज्ञातार्थैरिह मानवैः । **अविनष्टे हि भावार्थे, शब्दभेदो न दुष्यति** ॥८९८॥
अर्थेन हि प्रसीदन्ति, शब्दमात्रेण नो बुधाः । संतुष्येदेव इत्युक्तो, मूर्ख एव निरर्थकम् ॥८९९॥ एवं च स्थिते--
एवंविधार्थं चेत्तेऽपि, वदेयुस्तीर्थिकाः स्वकम् । दर्शनं व्यापकत्वेन, न विवादोऽस्ति तैः सह ॥९००॥
आच्छादितानां मोहेन, पौण्डरीकमहामुने ! । बहूनि दर्शनानीति, मोहोऽयं संप्रवर्तते ॥९०१॥
तस्यापाये पुनः पुंसां, सद्बुद्धेर्गोचरं गते । अत्र सद्दर्शने नूनं, भेदबुद्धिर्निवर्तते ॥९०२॥
आत्मा साधारणो ह्येष, सर्वेषामपि वादिनाम् । समलो न विजानीते, मोक्षमार्गं यथास्थितम् ॥९०३॥
मलक्षये पुनस्तस्य, मोक्षमार्गो यथास्थितः । यत्र तत्र स्थितस्यापि, हठादेव प्रकाशते ॥९०४॥
ततश्चेदं विनिश्चित्य, दर्शनं पारमार्थिकम् । स मुञ्चेदाग्रहं स्वीयं, तथा चोक्तं मनीषिभिः ॥९०५॥
रिक्तस्य जन्तोर्जातस्य, गुणदोषानपश्यतः । विलब्धा बत केनामी, सिद्धान्तविषमग्रहाः ॥९०६॥
अहं चारुरचारुस्त्वं, मदीयं चारु दर्शनम् । न त्वदीयमिति स्पष्टं, मत्सरस्य विजृम्भितम् ॥९०७॥
किं बहुना ?—यावन्तो देहिनो लोके, यथावस्थितदृष्टयः । ते सर्वेऽप्यत्र वर्तन्ते, तात्त्विके शुद्धदर्शने ॥९०८॥
निर्नष्टममकारास्ते, विवादं नैव कुर्वते । अथ कुर्युस्ततस्तेभ्यो, दातव्यैवैकवाक्यता ॥९०९॥
ये त्वक्षीणमलत्वेन, विपरीतविलोकिनः । स्वतीर्थं व्यापकत्वेन, संगिरन्ते समत्सराः ॥९१०॥
तेषां जात्यन्धकल्पानापकर्णनमुत्तरम् । अथवा तत्त्वमार्गं ते, बोधनीयाः प्रयत्नतः ॥९११॥ युग्मम् ।
न मोहदलनादन्यो, ह्युपकारो महत्तमः । अतो यदुक्तं भवता यदुत—

स्वतीर्थं व्यापि चेत्तीर्थ्या, ब्रूयुस्तत्र किमुत्तरम् ? । तदिदं ते मयाऽऽख्यातं, प्रतिघातविवर्जितम् ॥९१२॥
यावद्दृष्टिविवादाढ्ये, निशेषनयसागरे । कुदृष्टिसरितः सर्वाः, पतन्तीर्द्रक्ष्यसि स्फुटम् ॥९१३॥
तावत्ते सर्वसन्देहा, यास्यन्ति प्रलयं तदा । ज्ञास्यसि त्वं यथा नास्ति, सर्वज्ञवचनात्परम् ॥९१४॥ युग्मम् ।

[पौण्डरीकस्य द्वादशाङ्गीपारगामिता]

ततो निर्नष्टसन्देहः, प्रपद्य गुरुभाषितम् । संजातः पौण्डरीकोऽसौ, विशेषागमतत्परः ॥९१५॥
कालक्रमेण संपन्नो, द्वादशाङ्गस्य पारगः । समन्तभद्रसूरीणाममौ पादप्रसादतः ॥९१६॥
अनन्तगमपर्यायः, सातिशेषः सविस्तरः । सर्वज्ञागमसद्भावः, सर्वोऽस्य मनसि स्थितः ॥९१७॥
ततोऽनुयोगोऽनुज्ञातः, सगच्छस्तस्य सूरिभिः । दत्तमाचार्यकं स्वीयं, कृतमानृण्यमात्मनः ॥९१८॥
आचार्यस्थापनायां च, तस्यामरनरैर्मुदा । कृता विधानतो देवसङ्घपूजा दिनाष्टकम् ॥९१९॥
ततः समन्तभद्राख्या, हित्वा स्वं देहपञ्जरम् । ते सूरयः शिवं प्राप्ताः, कृतकृत्या महाधियः ॥९२०॥
अथावाप्तावधिज्ञानो, मनःपर्यायसंयुतः । जातः स पौण्डरीकाख्यः, सूरिः शासनदीपकः ॥९२१॥
स भव्यपौण्डरीकाणां, सूर्यवद्देशनांशुभिः । विजहार हरन्निद्रां, महामोहतमोमयीम् ॥९२२॥
अपरापरदेशेषु, सुचिरं मुनिचर्यया । विहृत्य शिष्यवर्गं च, निष्पाद्य गुणभूषितम् ॥९२३॥
दानशीलतपोभावधर्मधामचतुष्टयम् । पालयित्वा दिनाकारं, प्रकाश्य जिनशासनम् ॥९२४॥
विज्ञायायुष्कपर्यन्तं, पौण्डरीकदिवाकरः । ततः संलेखनाव्याजं, सन्ध्यारागं चकार सः ॥९२५॥ त्रिभिर्विशेषकम् ।
स्वस्थाने स्थापितस्तेन, सूरिः स्वभ्यस्तसत्क्रियः । साधुर्धनेश्वरो नाम, निःशेषागमपारगः ॥९२६॥
ततस्तं विहितानुज्ञं, पुरस्कृत्य धनेश्वरम् । आचार्यं निजगच्छं च, सोऽनुशिष्टिं ददाविमाम् ॥९२७॥

[धनेश्वरायाऽऽचार्यपददानम्]

धन्यस्त्वं येन विज्ञातः, संसारगिरिदारकः । वज्रवद्दुर्भिदश्चायं, महाभाग ! जिनागमः ॥९२८॥
इद चारोपितं यत्ते, पदं सत्सम्पदां पदम् । अत्युत्तममिदं लोके, महासत्त्वनिषेवितम् ॥९२९॥
धन्येभ्यो दीयते तात ! धन्या एवास्य पारगाः । गत्वाऽस्य पारं ते धन्याः, पारं गच्छन्ति संसृतेः ॥९३०॥
भीतं संसारकान्तारात्समर्थस्य विमोचने । साधुवृन्दमिद सर्वं, भवतः शरणागतम् ॥९३१॥
संप्राप्य गुणसन्दोहं, निर्मलं पारमेश्वरम् । त्राणं ससारभीतानां, धन्याः कुर्वन्ति देहिनाम् ॥९३२॥
तदेते भावरोगार्त्तास्त्वं च भावभिषग्वरः । अतस्त्वयाऽमी सज्जीवा, मोचनीयाः प्रयत्नतः ॥९३३॥
गुरुश्च मोचयत्येतानप्रमत्तो हितोद्यतः । बद्धलक्षो दृढ मोक्षे, निःस्पृहो भवचारके ॥९३४॥
कल्पोऽयमितिकृत्वा त्वमीदृशोऽयं प्रचोदितः । निजावस्थानुरूपं हि, चेष्टितव्यं सदा त्वया ॥९३५॥
अनुशिष्टिं विधायेत्थं, सूरेस्तस्य कृतानतेः । सूरयः पौण्डरीकाख्याः, प्राहुः शिष्यगणं ततः ॥९३६॥
युष्माभिरपि नैवैष, सुस्थबोहित्थसन्निभः । संसारसागरोत्तारी, न मोक्तव्यः कदाचन ॥९३७॥
प्रतिकूलं न कर्तव्यमनुकूलतरैः सदा । भाव्यमस्य गृहत्यागो, येन वः सफलो भवेत् ॥९३८॥
अन्यथा जन्तुबन्धूनामाज्ञालोपः कृतो भवेत् । ततो विडम्बना शेषा, भवेदत्र परत्र च ॥९३९॥
ततः कुलस्थून्यायात्कार्ये निर्भर्त्सितैरपि । यावज्जीवं न मोक्तव्यं, पादमूलममुष्य भोः ! ॥९४०॥
ते ज्ञानभाजनं धन्यास्ते स्वदर्शननिर्मलाः । ते निष्प्रकम्पचारित्रा, ये सदा गुरुसेविनः ॥९४१॥
एवं वदत्सु वीरेषु, तेषु सद्धर्मसूरिषु । तथेति तद्वचः सर्वे, प्रपद्य प्रणतिं गताः ॥९४२॥

[गिरिकन्दरेऽनशनाराधना]

ततो विहितकर्तव्यः, परित्यज्य गणं क्रमात् । स सूरिः पौण्डरीकाख्यो, गतः सद्गिरिकन्दरम् ॥९४३॥

अस्थिचर्मावशेषेण, वपुषा धीरमानसः । परीषहतितिक्षार्थं, स्थितः शुद्धशिलातले ॥९४४॥ तत्र च–
कृतपञ्चनमस्कारो, भावसारं मुहुर्मुहुः । स दत्तालोचनः सम्यक्, सिद्धानाधाय चेतसि ॥९४५॥
प्रणिधानं महाभागः, कारणं धर्मशुक्लयोः । ध्यानयोस्तीव्रसंवेगश्चकारेत्थं विशुद्धधीः ॥९४६॥
ज्ञानदर्शनचारित्रवीर्याराधनतत्परः । एक एवान्तरात्मा मे, व्युत्सृष्टमधुनाऽपरम् ॥९४७॥
रागद्वेषमहामोहकषायमलधूनकः । विशुद्धः साम्प्रतं वर्ते, स्नातकोऽहं समाहितः ॥९४८॥
क्षाम्यन्तु सर्वसत्त्वा मे, क्षान्तिर्मे सर्वजन्तुषु । निर्वैरः साम्प्रतं शान्तः, क्षेत्रज्ञो मम वर्तते ॥९४९॥
यदन्तर्यायिनः किंचिद्बहिर्भूतं पुरा मया । गृहीतं स्वीयबुद्ध्या तद्व्युत्सृष्टमधुनाऽखिलम् ॥९५०॥
तीर्थेश्वरा महात्मानः, सिद्धा निर्धूतकल्मषाः । सद्धर्मः साधवश्चेति, भवन्तु मम मङ्गलम् ॥९५१॥
एतानेवोत्तमत्वेन, गृह्णामि भुवनेऽप्यहम् । एतानेव प्रपद्येऽहं, शरणं भवभीरुकः ॥९५२॥
निवृत्तसर्वकामोऽहं, मनोजालनिरोधकः । बन्धुः समस्तभूतानां, सूनुवस्सर्वयोषिताम् ॥९५३॥
स्थितः सामायिके शुद्धे, सर्वयोगनिरोधिनि । व्युत्सृष्टचेष्टं मां सिद्धाः, पश्यन्तु परमेश्वराः ॥९५४॥
यच्च दुश्चरितं किंचिदिहान्यत्र च मे भवेत् । संजातं जातसंवेगस्तन्निन्दामि पुनः पुनः ॥९५५॥
सर्वोपाधिविशुद्धोऽहं, ममेयमधुना गतिः । साक्षात्केवलिनस्तत्त्वं, भगवन्तो विजानते ॥९५६॥ सर्वथा–
भवप्रपञ्चविरतो, मोक्षैकगतचेतसा । समर्पितो मयाऽऽत्मैष, जिनानां जन्मनाशिनाम् ॥९५७॥
तत एव महात्मानः, सद्भावार्पितचेतसः । स्वशक्त्याऽशेषकर्मांशच्छेदं कुर्वन्तु मेऽधुना ॥९५८॥

[केवलालोकसम्पादनम्]

इत्येवं प्रणिधानेन, स महात्मा शिलातले । व्युत्सृष्टकायो निःसङ्गः, पादपोपगमे स्थितः ॥९५९॥
परिषहचमूं सर्वां, विनिर्जित्य स्वतेजसा । तिर्यग्देवमनुष्याणामुपसर्गांश्च भैरवान् ॥९६०॥
प्रनष्टभूरिकर्मांशो, धर्मध्यानमनुत्तमम् । अतिलंघ्य ततः शुक्लं, पूरयामास सत्तमम् ॥९६१॥ युग्मम् ।
अशेषकर्मजालं च, वीर्यज्वलनदीपितम् । विधाय क्षपकश्रेण्यामारूढः क्रमशो दहन् ॥९६२॥
ततो भस्मीकृते वीर्याद् घातिकर्मचतुष्टये । संप्राप्तः केवलालोकं, सोऽनन्तज्ञानगोचरम् ॥९६३॥ युग्मम् ।

[चतुर्विधदेवगणविहितोत्सवः]

ततः प्रादुरभूत्तत्र, देवसङ्घश्चतुर्विधः । आकृष्टः सद्गुणैस्तस्य, पूजार्थं हि महात्मनः ॥९६४॥
ततो दुन्दुभयो दिव्या, दध्वनुर्मधुरस्वनाः । जगुः किन्नरसङ्घाता, ननृतुर्देवयोषितः ॥९६५॥
अपनिन्ये रजः सर्वं, ववृषे गन्धवारि च । प्रकीर्यते स्म देवौघैः, पुष्पवृष्टिर्मनोहरा ॥९६६॥
भ्रमद्भ्रमरविस्तारतारझङ्कारबन्धुरः । स प्रदेशः क्षणाज्जातो, दिव्यगन्धैर्विसर्पिभिः ॥९६७॥
गोशीर्षचन्दनालिप्तं, दिव्यसद्धूपवासितम् । चक्रुर्देहं मुनीन्द्रस्य, देवाः सद्भक्तिनिर्भराः ॥९६८॥
तथा लसत्किरीटास्ते, तुष्टुवुश्च मुनीश्वरम् । दधुः पादरजस्तस्य, शिरसा पापशुद्धये ॥९६९॥
एवं प्रमोदसन्दर्भनिर्भरे वैबुधे गणे । पार्श्वस्थे स महाभागः, समुद्घातमुपागतः ॥९७०॥
ततः समीकृताशेषकर्मांशः क्षणमात्रकम् । स्थित्वा योगत्रयं धीरो, निरुरोध क्रमेण सः ॥९७१॥
ततश्च तन्निरोधेन, शैलेशीं प्राप्य सत्क्रियाम् । देहत्रयविनिर्मुक्तः, स प्राप परमं पदम् ॥९७२॥
ततो विशेषपूजां ते, विधायानन्दनिर्भराः । गता देवा निजस्थानं, तद्भक्त्या धूतकल्मषाः ॥९७३॥ अन्यच्च–

[महाभद्रादीनामुदन्तशेष]

स्वक्रमेणामुना सापि, महाभद्रा प्रवर्तिनी । हत्वा कर्म गता मोक्षं, किं तु भक्तपरिज्ञया ॥९७४॥
तथा **सुललिता**साध्व्यास्तैस्तपोभिस्तथाविधैः । क्षाराद्यैरिव संजातं, चित्तरत्नं सुनिर्मलम् ॥९७५॥
ततः सापि क्रमेणेत्थं, संत्यज्य तनुपञ्जरम् । गता कर्मक्षयं कृत्वा, मोक्षं भक्तपरिज्ञया ॥९७६॥
ते तु **श्रीगर्भ**राजाद्याः, साधवः सुतपोधनाः । **सुमङ्गला**द्याः साध्व्यश्च, देवलोकमुपागताः ॥९७७॥
किं बहुना ?-यावद्भिर्जन्तुभिस्तत्र, मनोनन्दनकानने । समन्तभद्रसूरीणां, पादमूलमुपागतैः ॥९७८॥
इदमाकर्णितं धन्यैरनुसुन्दरचेष्टितम् । दूरस्थैरपि लेशेन, कौतुकेनापि विस्मितैः ॥९७९॥
तावतां भव्यजन्तूनां, श्रुतेन जनितं तदा । भवप्रपञ्चविरतं, मनो नूनमनेन भोः ॥९८०॥ त्रिभिर्विशेषकम् ।
ततः कैश्चित्कृता दीक्षा, कैश्चिद्धर्मो गृहस्थितैः । केचित्सम्यक्त्वमापन्नाः केचित्संवेगमागताः ॥९८१॥

[करुणासागरग्रन्थकारविहितान्तिमहितशिक्षा]

एवं च स्थिते-भवद्भिरपि विज्ञातमेवं कथयतो मम । भो भो भव्याः सभावार्थमिदं वृत्तं महात्मनः॥९८२॥
ततोऽनुष्ठीयतां तूर्णं, यज्ज्ञातस्यास्य सन्निभम् । येनैष जायते सद्यः, सफलो मे परिश्रमः ॥९८३॥
यतस्तुल्यः समस्तानां, प्रायः संसारचारिणाम् । जीवानामेष वृत्तान्तो, मया योऽत्र निवेदितः ॥९८४॥
तदेतदपि सश्रुत्य, चरितं निजसन्निभम् । न युज्यतेऽत्र भो भव्या, विधातुमवधीरणाम् ॥९८५॥

[अखिलकथोपनय]

तथाहि-यथाऽसौ पौण्डरीको जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहवर्तिनि सुकच्छविजयान्तर्गते शङ्खपुरे कमलिनी-श्रीगर्भराजपुत्रतयाऽपि जातस्तेन भगवता समन्तभद्रसूरिणा तस्यैव शङ्खपुरस्य सम्बन्धिनि चित्तरमकानना-न्तर्भूते मनोनन्दने चैत्यभवने वर्तमानेन भूरिभव्यानां पुरतस्तत्पक्षपातेन मनुजगताचेष राजदारकोऽ-नुकूलाभ्यां कालपरिणतिकर्मपरिणामाभ्यां सुमतिर्भव्यपुरुषो जनित इतिकृत्वा भविष्यति निःशेषगुणाधार इति ख्यापितस्तदिदं सर्वेषां लघुकर्मणां समानं वर्तते । यतो नानाक्षेत्रोत्पन्ना अपि सर्वे मनुजगतौ वर्तन्ते । बहिरङ्गविविधजननीजनका अपि सर्वे परमार्थतस्ते कालपरिणति-कर्मपरिणामयोः पुत्रा भवन्त्येव, बहुविधा-भिधाना अपि सुमतिभव्यपुरुषत्वं न व्यभिचरन्तीति सदागमः सर्वदा ख्यापयति । यथा च सा महाभद्रा समन्तभद्रसूरिवचनेनादित एव प्रतिबुध्य प्रव्रजिता सती प्रज्ञाविशाला जाता तथैवेहोत्तमपुरुषाः सर्वज्ञागमो-पदेशात् संजाततत्त्वावबोधाः प्रथममेव साधवः संपद्यन्ते, त एव च परमार्थत प्रज्ञाविशाला इति ।

यथा च तस्याः सुललितायाः पूर्वभवाभ्यासवशेन संपन्नस्तया महाभद्रया सह स्नेहसम्बन्धः स च गुणकरोऽभूत् तथेह गुरुकर्मणामपि केषांचिद्भाविभद्राणां भव्यजन्तूनां कथचिद्भवत्येव सुसाधुभिः सार्धं घटना, सा च भवत्येव तेषां गुणकरी, सम्पत्सम्पादको हि कल्याणमित्रयोगो जनको योग्यताया आकरो गुणरत्नानां सूचको भाविकल्याणपरंपरायाः अमृतयोग इव निर्घातकः कर्मविषघस्मरकस्य । यथा च तया महाभद्रया तस्याः सुललितायाः समन्तभद्रसूरिद्वारेण सदागमे भक्तिर्जनिता पौण्डरीकस्य च तथैव धात्री-भावमिवात्मनो दर्शयन्त्या कृतश्च तेन भगवता सह परिचयः तथाऽद्यापि सुसाधवः परहितकरणैकलालसाः सन्तो गुरुकर्मणां च भव्यजन्तूनां निष्कृत्रिमस्नेहभावमिव दर्शयन्तो यथा तथा सर्वज्ञागमे भगवति भक्ति-

मुत्पादयन्त्येव । सा हि यथा तथाऽऽविर्भूता प्रक्षालिनी कर्ममलस्य शोधनी जीवरत्नस्य मोचनी भवप्रपञ्चस्य दर्शनी तत्त्वमार्गस्य साधनी परमपदस्येति ।

यच्च तेनानुसुन्दरचक्रवर्तिनोत्पन्नज्ञानेन तेषां पुरतः सविस्तरमाख्यातमात्मनो भवभ्रमणमुपमाद्वारेण सुललितापौण्डरीकयोः संवेगजननार्थं तत्प्रायः सर्वेषां संसारिजीवानां समानं वर्तते । यतः क्वचिन्मोक्षमुपागतेषु केषुचिज्जीवेषु लोकस्थितिनियोगतः कर्मपरिणामादिष्टा इव भवितव्यतावशेन निर्गच्छन्ति कियन्तोऽपि जीवा असांव्यवहारिकजीवराशेः, ततः कुर्वन्ति विचित्रमनन्तभवभ्रमणं हारयन्ति हिंसाक्रोधादिदोषातुरा मोक्षसाधनक्षममपि कृच्छ्रेणावाप्तं बहुशो मनुष्यभवं, कुर्वन्ति मुहुर्मुहुः सद्गुणावाप्तिं, त्यागावसरेष्वन्तरार्घपणघूर्णनकृतनरकगमनसामग्रीका अपि मुच्यन्ते सर्वज्ञोक्तागमानुष्ठानसम्बन्धेन, अवाप्तसज्ज्ञानाश्च पश्यन्ति स्वयं प्रतिपादयन्ति च परेभ्यः, यथा–निष्ठितनाटकप्रायोऽयं प्राणिनां भवप्रपञ्चोऽपरापरवेषकरणोपमानि शरीरग्रहणानि, अन्योऽन्यस्थाननर्तनकल्पानि बहुविधयोनिविशेषसञ्चरणानि, नानाविषवासककुटीरकतुल्यानि विमानभवनालयादीनि, कूटनटपेटकदेश्यानि बन्धुकुटुम्बकादीनि, एकोऽयं द्रव्यमपेक्ष्य परमार्थेनात्मा, कृत्रिमेयमस्य मनुष्यादिपर्यायेष्वपरापरनाममाला, नेयमास्थास्थानं विवेकिनां, लोकस्थिति–कालपरिणति-कर्मपरिणाम–स्वभाव–भवितव्यता निजभव्यतादिपरस्परसव्यपेक्षकारणसमुदाय–जनितः समस्तोऽप्यस्य भवप्रपञ्चः तत्परिपाकलभ्यस्तु विच्छेदको प्रपञ्चस्यास्य परमेश्वरानुग्रहः । स हि कारणं विमलज्ञानस्य । तद्बलादेवायमात्मा जानीते यदुत परमेश्वराज्ञाकरणाऽकरणजनिते मम सुखदुःखे भवमोक्षौ च, लेश्याविशोधनं तदाज्ञाकरणं लेश्यामालिन्यजननं तदाज्ञाविराधन, ततः प्रवर्तते लेश्याविशोधकेषु सद्भूतगुणेषु, निवर्तते लेश्यामालिन्यजनकेभ्यः समस्तदोषेभ्यः, ततोऽत्यन्तविशोधितां लेश्यामपि विहाय भवत्यलेश्यः ततः स्वरूपे स्थितः स एवात्मा संपद्यते परमेश्वरः परमात्मेति ।

यथा च तदनुसुन्दरचरितं तस्य भगवतः समन्तभद्रसूरेः प्रत्यक्षं, महाभद्रा च कथ्यमान तद् बुध्यते स्म तथा संसारिजीवचरितं भगवतः सर्वज्ञागमस्य प्रतीतं सुसाधवश्च निवेद्यमानं प्रज्ञाविशालतया स्वत एव बुध्यन्ते परेभ्यश्च प्रतिपादनसमर्था भवन्ति । यथा च तेन पौण्डरीकेण सुललितामुद्दिश्य कथ्यमानं लघुकर्मतया प्रसंगेनाप्याकर्णयता तदनुसुन्दरराजचरितमवगतं विहितं च तदनुगमानुरूपं तथा यूयमपि भो भव्या इदं संसारिजीवचरितमनुभवागमसिद्धमवबुध्यध्वं अवबोधानुरूपं चाचरत विरहयत कषायान् स्थगयतास्रवद्वाराणि निगकुरुतेन्द्रियगणं दलयत सकलं मनोमलजालं पोषयत सद्भूतगुणगणं मुञ्चत भवप्रपञ्चं यात तूर्णं शिवालयं येन यूयमपि सुमतयो भव्यपुरुषा भवथ ।

अथ नास्ति भवतां तादृशी लघुकर्मता ततो यथा सुललिता भूयो भूयः प्रचोदिता सप्रणयं मुहुर्मुहुर्निर्भर्त्सिता बहुविधमुपालब्धा पुनः पुनः स्मारिता सती गुरुकर्मिकापि प्रतिबुद्धा तथा बुध्यध्वं, केवलं तथा प्रतिबोध्यमाना अगृहीतसङ्केता भविष्यथ यूयं गलतालुशोषका गुरूणां, तथापि गुरुभिः प्रतिबोधनीया एव युष्माभिरपि प्रतिबोद्धव्यमेव । यथा स्वदुश्चरितपश्चात्तापेन सद्भूतगुणपक्षपातसारो निखिलकर्ममलविलयकारी ।सदागमबहुमानस्तस्याः सुललितायाः प्रतिबोधकारणं संपन्नः तथा भवद्भिरपि तथैव स विधेयो येन संपद्यते भवतामपि विशिष्टस्तत्त्वावबोध इति ।

[प्रस्तावभावार्थनिरूपणम्]

इह च-श्रेयांसब्रह्मदत्तादिजातिस्मरणतुल्यकः । ज्ञेयोऽनुसुन्दरादीनां, तदुत्पादः सयुक्तिकः ॥९८६॥
[यतश्चागमे मतिवासनायाः-असङ्ख्यकालोऽनुज्ञातो, वचो नास्ति च वारकम् ।]
सुभूरिभवभावेऽपि, तस्मान्नास्ति विरोधिता ॥९८७॥
आदितः पुनरारभ्य प्रस्तावभावार्थोऽयम्-
कुशलकर्मविपाकवशादहो, जगति किंचिदिहास्ति न दुर्लभम् ।
सकलभोगसुखाधिकमुच्चकैः, शमसुखं प्रतिभाति च धीमताम् ॥९८८॥
परमकोटिगतोऽपि पुनर्नरः, प्रबलतामुपगम्य निपात्यते ।
खलमलैरतिभीमभवोदधौ, यदि न वेत्ति स तां तदरातिताम् ॥९८९॥
नरकयोग्यकृताशुभकर्मकः, पुनरुपैति शिवं गतकल्मषः ।
यदि सदागमबोधपरायणः, क्षणमपि प्रकरोति शुभं नरः ॥९९०॥
इदमवेत्य मनोमलवर्जनं, लघु विधाय सदागमसेवनम् ।
कुरुत तेन हि याथ शिवं यथाऽऽगमवशादनुसुन्दरपार्थिवः ॥९९१॥ अन्यच्च—
इदमनन्तभवभ्रमसूचकं, मलवशादनुसुन्दरचेष्टितम् ।
यदिह जातमतः परिकीर्तितं, मतिविकाशनकारि सुदेहिनाम् ॥९९२॥
न च नियोगत एव भवेदियं, गदितपद्धतिरत्र नरे नरे ।
सकृदवाप्य जिनेन्द्रमतं यतः, शिवमितः प्रगता बहवो नराः ॥९९३॥
त्रिचतुरेषु भवेषु तथाऽपरे, बहुतमाः पुनरन्यविधानतः ।
विविधभव्यतया भवदारणं, निजनिजक्रमतो दधिरे नराः ॥९९४॥
तदिदमत्र सुगुह्यमहो जना ! हृदि विधत्त परं परमाक्षरम् ।
मलविशोधनमेव सुमेधसा, लघु विधेयमिहाप्य जिनागमम् ॥९९५॥
एतन्निःशेषमत्र प्रकटितमखिलैर्युक्तिगर्भैर्वचोभिः,
प्रस्तावे भावसारं तदखिलमधुना शुद्धबुद्ध्या विचिन्त्य ।
भो भव्या ! भाति चित्ते यदि हितमनघं चेदमुच्चैस्तरां वः ।
तत्तूर्णं मेऽनुरोधाद्विदितफलमलं स्वार्थसिद्ध्यै कुरुध्वम् ॥९९६॥
उत्सूत्रमेव रचितं मतिमान्द्यभाजा, किंचिद्यदीदृशि मयाऽत्र कथानिबन्धे ।
संसारसागरमनेन तरीतुकामैस्तत्साधुभिः कृतकृपैर्मयि शोधनीयम् ॥९९७॥

इत्युपमितिभवप्रपञ्चायां कथायां पूर्वसूचितमीलकवर्णनो नामाष्टमः प्रस्तावः समाप्तः ॥

॥ श्रीमत्सिद्धर्षिगणिवर्यविरचिता उपमितिभवप्रपञ्चा कथा समाप्ता ॥

[ग्रन्थकार-प्रशस्तिः]

द्योतिताखिलभावार्थः, सद्भव्याब्जप्रबोधकः । सूराचार्योऽभवद्दीप्तः, साक्षादिव दिवाकरः ॥१॥
स निर्वृत्तिकुलोद्भूतो, लाटदेशविभूषणः । आचारपञ्चकोद्युक्तः, प्रसिद्धो जगतीतले ॥२॥
अभूद् भूतहितो धीरस्ततो देल्लमहत्तरः । ज्योतिर्निमित्तशास्त्रज्ञः, प्रसिद्धो देशविस्तरे ॥३॥
ततोऽभूदुल्लसत्कीर्तिर्ब्रह्मगोत्रविभूषणः । दुर्गस्वामी महाभागः, प्रख्यातः पृथिवीतले ॥४॥
प्रव्रज्यां गृह्णता येन, गृहं सद्धनपूरितम् । हित्वा सद्धर्ममाहात्म्यं, क्रिययैव प्रकाशितम् ॥५॥
यस्य तच्चरितं वीक्ष्य, शशाङ्ककरनिर्मलम् । सुदान्तप्रत्ययादेव, भूयांसो जन्तवस्तदा ॥६॥
सद्दीक्षादायकं तस्य, स्वस्य चाहं गुरूत्तमम् । नमस्यामि महाभागं, गर्गर्षिं मुनिपुङ्गवम् ॥७॥
क्लिष्टेऽपि दुष्षमाकाले, यः पूर्वमुनिचर्यया । विजहारेह निःसङ्गो, दुर्गस्वामी धरातले ॥८॥
सद्देशनांशुभिर्लोके, द्योतित्वा भास्करोपमः । श्रीभिल्लमाले यो धीरो, गतोऽस्तं सद्विधानतः ॥९॥
तस्मादतुलोपशमः सिद्ध(सद)र्षिरभूदनाविलमनस्कः । परहितनिरतैकमतिः सिद्धान्तनिधिर्महाभागः ॥१०॥
विषमभवगर्तनिपतितजन्तुशतालम्बदानदुर्ललितः । दलिताखिलदोषकुलोऽपि सततकरुणापरीतमनाः ॥११॥
यः सङ्ग्रहकरणरतः सदुपग्रहनिरतबुद्धिरनवरतम् । आत्मन्यतुलगुणगणैर्गणधरबुद्धिं विधापयति ॥१२॥

बहुविधमपि यस्य मनो निरीक्ष्य कुन्देन्दुविशदमखतनाः ।
मन्यन्ते विमलधियः सुसाधुगुणवर्णकं सत्यम् ॥१३॥

उपमितभवप्रपञ्चा कथेति तच्चरणरेणुकल्पेन । गीर्देवतया विहिताऽभिहिता सिद्धाभिधानेन ॥१४॥

[हरिभद्रसूरिविहितोपकारस्मरणम्]

अथवा-आचार्यो हरिभद्रो मे, धर्मबोधकरो गुरुः । प्रस्तावे भावतो हन्त, स एवाद्ये निवेदितः ॥१५॥

विषं विनिर्धूय कुवासनामयं व्यचीचरद्यः कृपया मदाशये ।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधां, नमोऽस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ॥१६॥

अनागतं परिज्ञाय, चैत्यवन्दनसंश्रया । मदर्थेव कृता येन, वृत्तिर्ललितविस्तरा ॥१७॥
यत्रातुलरथयात्राधिकमिदमिति लब्धवरजयपताकम् । निखिलगुरुभवनमध्ये सततप्रमदं जिनेन्द्रगृहम् ॥१८॥
यत्रार्थष्टङ्कशालायां, धर्मः सद्देवधामसु । कामो लीलावतीलोके, सदाऽऽस्ते त्रिगुणो मुदा ॥१९॥
तत्रेयं तेन कथा कविना निःशेषगुणगणाधारे । श्रीभिल्लमालनगरे गदिताऽग्रिममण्डपस्थेन ॥२०॥
प्रथमादर्शे लिखिता साध्व्या श्रुतदेवतानुकारिण्या । दुर्गस्वामिगुरूणां शिष्यिकयेयं गुणाभिधया ॥२१॥

संवत्सरशतनवके द्विषष्टिसहिते(९६२)ऽतिलङ्घिते चास्याः ।
ज्येष्ठे सितपञ्चम्यां पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत् ॥२२॥

ग्रन्थाग्रमस्या विज्ञाय, कीर्तयन्ति मनीषिणः । अनुष्टुभां सहस्राणि, प्रायशः सन्ति षोडश ॥२३॥

॥ उपमितिभवप्रपञ्चाकथाकारप्रशस्तिः समाप्ता ॥

॥ सुविशालगच्छाधिपति सिद्धान्तमहोदधि-आचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वराणामसीमकृपया पन्यासप्रवरश्रीमत्कान्तिविजयगणिवर्यसंशोधितप्रतिसहायेन सम्पादितोऽयमुपमितिकथाया उत्तरार्धः आचार्यदेव -उग्रतपस्वि -न्यायविशारद--विशुद्धसंयमिगणाग्रणीश्रीमद्भुवनभानुसूरीश्वरशिष्यरत्नो-पशमाकर मुनिपुङ्गव-श्रीमद्धर्मघोषविजयशिष्यमणि-गीतार्थरत्नमुनिप्रवर-श्रीमज्जयघोष-विजयगणिवरशिष्यलेशेन मुनिजयसुन्दरेण । शुभं भूयात् श्री सङ्घस्य ॥

* परिशिष्टम् *



षष्ठे प्रस्तावे पृष्ठ ६० मिते हरिकुमारेण दत्तोत्तराः सन्ति षट् प्रश्ना पद्मकेसरादिमित्रवृन्दप्रयुक्ताः। तेषु चरमत्रितयं तु तत्रैव स्पष्टार्थम्, आद्यत्रितयोत्तराणामस्फुटत्वात् तत्स्पष्टीकरणार्थमयं प्रयासः।

आद्ये पद्मकेसरप्रश्ने प्रश्नत्रयं-

(१) कस्य वाचमाकर्णयन्नपि पश्यन् विस्फारिताक्षोऽपि तृप्तिं नो याति ? (२) को तृप्तिं नो याति ? (३) किं च संसारकारणम् ?

अत्र हरिकुमारस्य 'ममत्वम्' इति समाधानम्, तच्चैवं विभजनीयं-प्रथमस्योत्तरः 'मम' इति शब्दांशेन, द्वितीयस्य 'त्वमि'ति, तृतीयस्य च 'ममत्वम्' इति शब्देन।

द्वितीये पद्मकेसरस्यैव प्रश्ने श्लोकपूर्वार्धेन प्रथमप्रश्नः (१) 'कस्या बिभ्यद् भीरुर्न भवति संग्रामलम्पटमनस्कः' ? अत्र 'दलनायाः' इति समाधानम्-तत्र द्-लयोः साम्यमितिकृत्वा 'ललनायाः' स्त्रीया इत्यर्थोऽवगन्तव्यस्तद्वियोगे तस्या रोषस्य भयकारणत्वात्।

श्लोकोत्तरार्द्धेन द्वितीय प्रश्नः (२) 'वाताऽऽकम्पितवृक्षाः निदाघकाले च कीदृक्षाः' ? इति। अत्रापि तदेवोत्तरम्, दलनं चात्र पत्रक्षरणं-तस्यायो लाभः येषां ते दलनायाः इति बहुव्रीहिसमासः। ग्रीष्मकाले प्रचण्डवातप्रेरितं पत्रक्षरणं जायते इति संगतमुत्तरम्।

तृतीये विलासस्य प्रश्ने बहवोऽवान्तरप्रश्नाः एकः (१) कीदृग् राजकुलं विपीदति ? (२) के पावके नश्यन्ति ? (३) किं काननं बोध्यं ? (४) (के) च बहवः कालेऽलमच्युता भविष्यन्ति ? (५) कीदृक्षाश्च जिनेश्वराः ? (६) कस्यै गन्धो रोचते ? (७) कीदृशि मानवे जिनवरे भक्तिर्न सम्पद्यते ? इति सप्त प्रश्नाः। 'अकुशलभावनाभावितमानसे' इति हरिकुमारोत्तरम्। तत्र क्रमशः 'अकुशल (म्)' इति आद्यप्रश्नोत्तरम्, एवं द्वितीयस्य 'शलभाः', तृतीयस्य 'वन', चतुर्थस्य 'कुशलभावनाभाविता' इति, पञ्चमस्य 'अभावितमाना' इति त्यक्तमाना इत्यर्थः, षष्ठस्य 'नसे'=नासिकायै, सप्तमस्य च 'अकुशलभावनाभावितमानसे' इति समस्तमुत्तरम् इति दिक्।



❋ शुद्धिपत्रकम् ❋

पृष्ठाङ्क/पंक्त्यङ्क	अशुद्धं	शुद्धं
१/२८	पूवमेव	पूर्वमेव
३/४	विहिनो	विहितो
३/१२	सख्यम्	सख्यम
३/२६	-रणद्भमरं	-रणद्भ्रमर
७/२६	भवति	भवतो
१०/११	विमलेनोक्तं	विमलेनोक्त
११/१५	भगवद्विम्वं	भग॰द्विम्ब
१२/२५	दुत	यदुत
१३/३०	स्फुट	स्फुट
१४/५	वासाश्चित	वासाश्चित्त
२०/२०	युञ्जते	युज्यते
२२/१५	यथैप	यथैप'
२५/२६	ना हमो	नाऽह भो
३१/२५	यत्सुख	यत्सुख
३८/८	पश्यावर०	पश्याऽपवर०
३६/२२	दुर्गन्धि	दुर्गन्धि
४२/१५	सद्वाध	सद्वोधः
४६/२	कोधान्धा	क्रोधान्धा
४८/१	प्रतिबोध	प्रतिबोध'
५१/१४	पूर्व	पूर्वं
५१/१४	पुरेसंऽ०	पुरेऽवं
५३/२	शखरादि	शेखरादि
५३/३	आन्नद	आनन्द
५३/२३	श्लाध्य	श्लाघ्य
५६/१२	गृह्णामि	गृह्णामि
५६/२८	मण्डालका	मण्डलिका
५८/९	दृष्टा. निरपति वहिनो	दृष्टो नरपति , विहितो
६०/१३	वक्रा	वक्त्रा
६१/५	'ममत्व'मिति	'ममत्वमि'ति
६१/३२	कूटप्रश्न०	कूटश्लोक०
६५/७	भिाय	भिप्राय
६५/२४	समागमार्थ	समागमार्थं
७२/१७	घन्दिवृदेन	बन्दिवृन्देन
७२/२६	संपद्यत्ते	संपद्यते
७२/२७	दु ख	दु ख
७३/४	मात्रेत	मात्रेण
७३/२०	सततानन्द	सनतानदं
७३/२१	कुद्मल	कुड्मल
७४/६	करित्वे	कारित्वे
७५/२६	न तृणतुल्य	तृणतुल्य
७५/३२	ससमृद्धि	स समृद्धि
७६/१	विजयते ताव	विजीयते ताव-
७६/२४	कथ चिद्र०	कथचिद्र०
७६/२४	०जमम्य०	०जमभ्य०
७६/३१	स्वादत	खादत
७७/१८	इदृशो	ईदृशो
७८/१	भोहादय'	मोहादयः
८२/२६	पुन	पुन
८३/८	तत्दृशं	तत्सदृश
८३/११	सिद्धातस्य	सिद्धान्तस्य
८४/२५	महाह्नदात	महाह्नदात्
८७/९	देवैं	देवें.
९१/२	धन	घन
९१/१२	मोचनन्	मोचनम्
९१/१६	सिद्धार्थे	सिद्धार्थे
९६/२४	सर्वविद्	सर्वविद्
९९/३२	ग्रन्था	ग्रन्था
९६/३२	न्यस्त.	न्यस्ता ।
१००/१०	द्वितीय	तृतीय
१०४/३२	द्धर्तलोकेन	द्धर्तलोकेन
१०६/१०	किमख्यातं	किमाख्यात
१०७/१२	कुत्रिम	कृत्रिम
१०९/९	दर्शन	दर्शन
१०६/१३	सद्बुद्धि	सद्बुद्धि
११७/५	करिष्यापि	करिष्यामि
१२०/८	मुरुय	मुख्य
१२४/१०	कार्येपु	कार्येषु
१२४/२२	तदनुभति	तदनुमति
१२८/१७	विपमो	विषमो
१२६/६	स्क्त'	रक्त
१३२/२	मार्या	भार्या
१३३/२६	सागर	सागर
१४५/१२	निमपिता	निमिपिता
१५०/२३	द ख	दुःख
१६०/१५	०तथ्यौरुपो०	०तथ्यो रूपो०
१७७/५	रोघेन	राधेन

※ शुद्धिपत्रकम् ※

पृष्ठाङ्क/पंक्त्यङ्क	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठाङ्क/पंक्त्यङ्क	अशुद्ध	शुद्ध
१/२८	पूरमेव	पूर्णमेव	४१/३	[illegible]	[illegible]
३/४	विहिनो	विहितो	४५/१६	[illegible]	[illegible]
३/१२	सम्यम्	सम्यग्	४५/३२	[illegible]	[illegible]
३/२६	०रणाम्बरं	०रणाम्बरं	४६/१	[illegible]	[illegible]
७/२६	भवनि	भवति	७१/१४	[illegible]	[illegible]
१०/२१	विमलेनोत्तं	विमलेनोक्त	७५/२४	[illegible]	[illegible]
११/१५	भगवद्विम्बं	भगवद्विम्ब	७६/२१	[illegible]	[illegible]
१२/२४	द्रुत	[illegible]	७७/१८	[illegible]	[illegible]
१३/३०	स्फुट	[illegible]	७८/१	[illegible]	[illegible]
१४/४	धामाधिनं	धामाधिप	८२/२१	[illegible]	[illegible]
२०/२०	युञ्जने	युञ्जते	८३/८	[illegible]	[illegible]
२२/१५	ययेव	[illegible]	८३/११	[illegible]	[illegible]
२५/२६	नाऽस्मो	नाऽस्मो	८४/२४	[illegible]	[illegible]
३१/२५	वस्तुम्न	[illegible]	८५/१	[illegible]	[illegible]
३८/८	पटवावर०	पटवाऽवर०	९१/२	[illegible]	[illegible]
३९/२२	दुर्गन्वि	दुर्गन्धि	९१/१२	[illegible]	[illegible]
४२/१५	[illegible]	[illegible]	९१/१६	[illegible]	[illegible]
४६/७	[illegible]	[illegible]	९२/२४	[illegible]	[illegible]
४८/१	[illegible]	[illegible]	९३/२८	[illegible]	[illegible]
५१/१४	पूर्न	पूर्ण	९९/३०	[illegible]	[illegible]
५२/१४	पुरेमऽ०	पुरेऽप	१००/२०	[illegible]	[illegible]
५३/२	गन्धादि	[illegible]	१०२/३०	[illegible]	[illegible]
५३/३	आन्नद	आनन्द	१०५/३०	[illegible]	[illegible]
५३/२२	श्लाघ्यं	[illegible]	१०७/१२	[illegible]	[illegible]
५६/१७	गृह्णामि	गृह्णानि	१०९/१	[illegible]	[illegible]
५६/२८	मण्डानका	मण्डलिका	११२/१३	[illegible]	[illegible]
५८/१	दृष्ट निरपति वहितो	दृष्टो नरपति, विहितो	११३/४	[illegible]	[illegible]
६०/१३	वक्रा	[illegible]	१२०/८	[illegible]	[illegible]
६१/५	'ममन्व मिति	'मन्त्वमि'ति	१२४/१०	[illegible]	[illegible]
६१/३२	कूटश्रश्च०	[illegible]	१२४/२२	[illegible]	[illegible]
६५/७	भिाय	भिप्राय	१२८/१३	[illegible]	[illegible]
६५/२४	सनागमार्थ	समागमार्थं	१२९/६	[illegible]	[illegible]
७२/१७	वन्दिवृद्देन	वन्दिवृन्देन	१३२/२	[illegible]	[illegible]
७२/२६	संरयत्ते	संरयन्ते	१३३/२६	[illegible]	[illegible]
७२/२७	दुग्ध	दुग्ध	१४५/१२	[illegible]	[illegible]
७२/४	मात्रेत	मात्रेण	१५०/२३	[illegible]	[illegible]
७३/२०	सततानन्दं	सततानन्दं	१६०/१५	[illegible]	[illegible]
७३/२१	कुड्मल	कुड्मल	१६६/५	[illegible]	[illegible]